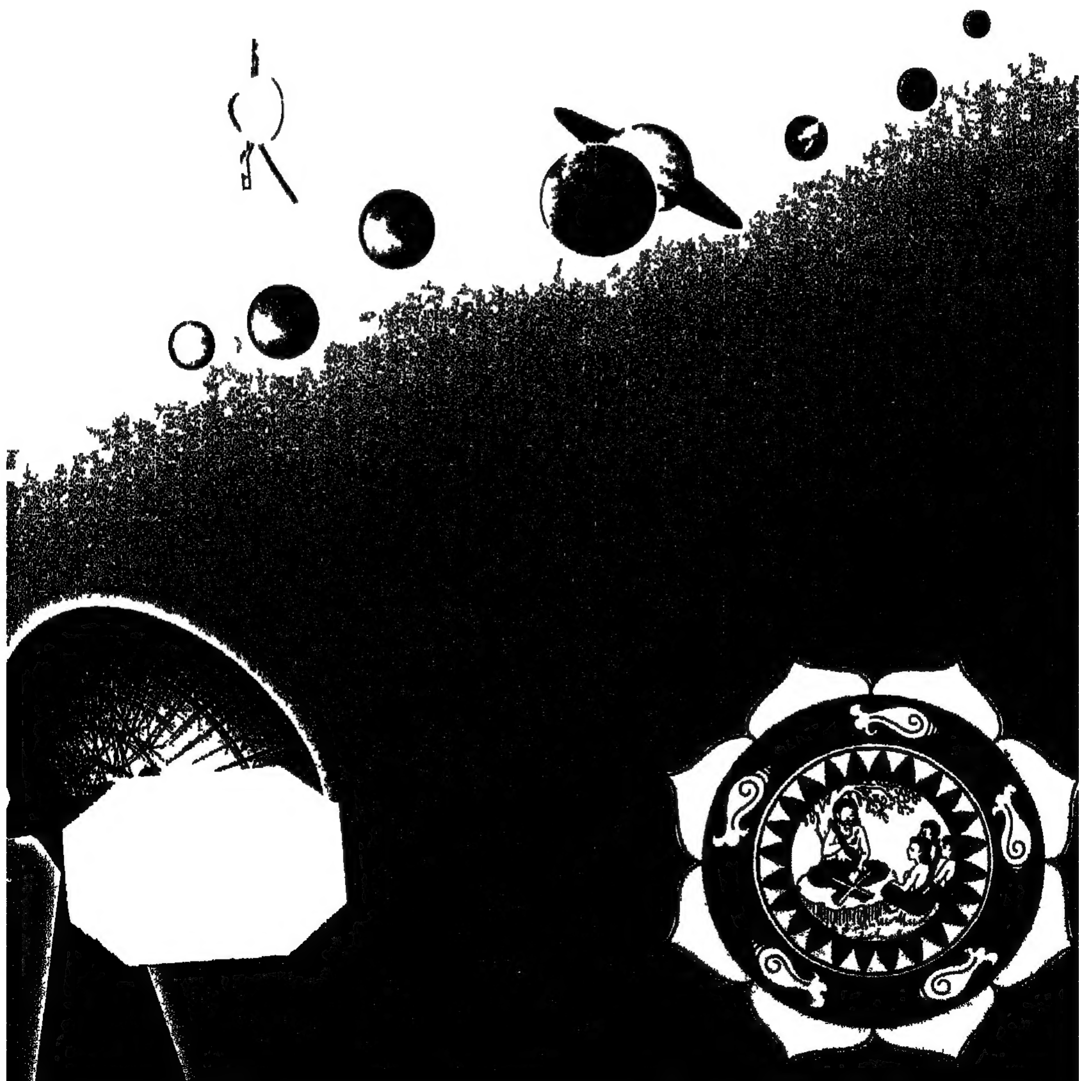
भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिकता



भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिकता

राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान
कलकत्ता के सौजन्य से

सम्पादक
डॉ उमारमण झा
प्राचार्य
केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
गोमतीनगर लखनऊ



उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ

प्रकाशक
डॉ सच्चिदानन्द पाठक
निदेशक
उत्तर प्रदेश सस्कृत सस्थान लखनऊ

प्राप्ति स्थान
विक्रय विभाग
उत्तर प्रदेश सस्कृत सस्थान नया हैदराबाद
लखनऊ २२६ ० ७
फोन ७८ २५१
ई मेल n d s११n @s fy m

प्रथम सस्करण
वि स २ ५६ (२० २ ई)
प्रतिया १
मूल्य रु १ /

मुद्रक **शिवम् आर्ट्स** निशातगज लखनऊ। दूरभाष ७८२३४८ ७८२१७२

प्राक्कथन

भारतीय सस्कृति विश्व की प्राचीनतम सस्कृतियों में अग्रणी रही है। नियमित आचार पद्धति एव सस्कार युक्त जीवन विधा जैसी इसकी अपनी अलग विशेषताए इसे विश्व की प्राचीन सस्कृतियों में विशिष्ट स्थान पर स्थापित करती हैं। भारत के प्राचीन युगद्रष्टा महर्षियों तथा भौतिक एव पराभौतिक प्रकृति से निरन्तर सवाद बनाये रखने वाले मनाषियों के अनुभवों की परम्परा से परिपक्व जीवनपद्धति सामाजिक एव आध्यामिक को जोडने वाली आचार पद्धति उनके चिन्तन एव अनुभवों के आधारशिला पर टिकी इस सस्कृत्ति को स्थायित्व प्रदान करती हैं।

किसी भी पद्धति की वैज्ञानिकता उसके प्राकृतिक नियमों के अनुकूलन तथा चिरन्तनता में निहित होती है। जीवनमूल्यों के स्थायित्व के लिये जहा उसे अनुभव से पुष्ट एव तर्कों पर आधारित होना आवश्यक है वहीं उसकी व्यापकता के लिये समष्टिगत सामाजिक चेतना तथा प्राकृतिक नियमों से उसका जुडाव भी आवश्यक है। भारतीय सस्कृति के नैरन्तर्य तथा विस्तार के पीछे इसकी पृष्ठभूमि और आधार भूमि दोनों का ही योगदान है। इन सबके पीछे हैं भारतीय मनीषियों के चिन्तन की वैज्ञानिकता।

वैज्ञानिकता का जहा एक ओर शास्त्रीय प्रयोजन है उददेश्यों और कारणता के प्रति तार्किक दृष्टि वहीं आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में उसका निहितार्थ है भविष्य के प्रति निश्चायक आश्वासन एव प्राकृतिक परीक्षणीय नियमों का आधार। किन्तु यहा यह जानना आवश्यक है कि ऐसे परीक्षणों की देश काल जन्य अपनी सीमायें होती हैं जिसे विज्ञान सिद्ध प्राकृतिक सिद्धान्तों को भी मानना पडता है। वैज्ञानिकता की यही प्रयोगशाला जब एक सजीव व्यक्तित्व में अथवा सामाजिक परिवेश में परिणत हो जाती है तो देशकाल के साथ व्यक्ति भी इस अवधारणा से जुड जाता है। और यहीं से प्रारम्भ हो जाता है व्यक्ति के श्रद्धा विश्वास का चेतना के साथ अनुप्रयोग।

भारत सरकार के मानव ससाधन विकास मन्त्रालय के सौजन्य एव प्रेरणा से उत्तर प्रदेश सस्कृत सस्थान को भारतीय सस्कृति के इसी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को ग्रन्थ प्रकाशन के माध्यम से जनसामान्य में लाने के लिये प्रदेश सरकार के माध्यम से अनुदान प्राप्त कराया गया है। निश्चय ही इस प्रयास की पूर्णाहुति वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय आचार पद्धति एव सस्कारों के परीक्षण से होती है। फिर भी आरम्भिक चरण में भारतीय सस्कृति की वैज्ञानिकता को शास्त्रीय ढग से प्रस्तुत करना प्रासगिक एव अभीष्ट है जिसमें भारतीय आचार पद्धति को चिकित्सा वैज्ञानिक अथवा आयुर्वैज्ञानिक दृष्टि से जोडकर देखा जा सकता है। विज्ञान जब जनसामान्य में पहुचता है तो वह सैद्धान्तिक निष्कर्ष न रहकर उपयोगितावादी बन जाता है और इसे जनसामान्य के लिये बोधगम्य तथा स्थायीरूप से

अभिज्ञेय बनाने के लिये नाम और रूप के माध्यम से प्रतीकों का सहारा लेना पडता है। भारतीय प्रतीक चिह्नों के पीछे अनुभवजन्य प्रतिष्ठित मान्यताओं तथा प्राकृतिक नियमों की वैचारिक कडी इस परिप्रेक्ष्य को और भी स्पष्ट कर देती है। भारतीय जीवन में सस्कारों कर्मकाण्ड पूजापद्धति तर्पण आदि जहा अभिन्न अग के रप में विद्यमान हैं वहीं आज के भौतिक युग में इस पर गम्भीर प्रश्नचिह भी लगाये जाते रहे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में इनके शास्त्रीय और वैज्ञानिक पहलू को रखने के लिये विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से व्यक्त किये हैं। यहा भारतीय पूजा पद्धति मागलिक द्रव्यों के उपयोग प्रतीक चिह्नों आचार पद्धति उपनयन विवाह आदि सस्कारों की वैज्ञानिकता पर प्रकाश डाला गया है। दैनन्दिन कृत्यों स ध्यावन्दन व्रत एव पर्व के प्रति तपश्चर्या एव उपासना के पवित्र लक्ष्य के अतिरिक्त वैज्ञानिक दृष्टि भी एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिस पर विषय के शीर्षस्थ विद्वानों ने अपने विचार सुसम्बद्ध एव वैज्ञानिक ढग से प्रकट किये हैं।

भारतीय जीवनपद्धति में अन्त्येष्टि कर्म बडा ही विवादास्पद विषय रहा है। एहलौकिक सत्ता से इतर किसी शक्ति में विश्वास न करने वालों द्वारा प्राय इसे चुनौतिया दी जाती रही हैं। चेतना की सूक्ष्म सत्ता और उसकी निरन्तरता का विज्ञान से परे होना यद्यपि कुछ सीमा तक सिद्ध हो चुका है फिर भी उसके सुसम्बद्ध विवेचन की आवश्यकता है जिससे सूक्ष्म अस्तित्व के भौतिक आयामों को वैज्ञानिक परीक्षणों के परिप्रेक्ष्य में आका जा सके।

मनोवैज्ञानिक एव परामनोवैज्ञानिक दृष्टि से सकल्प शक्ति का प्रभाव अपने में नियत सिद्ध है। इसके उपयोग से सुसमृद्ध चेतना द्वारा अल्पप्राण चेतनाओं को वशीकृत करके प्रेरित एव निर्देशित किया जाता है। शब्द शक्ति एव स्वर सामर्थ्य की वैज्ञानिकता अब प्रयोगों द्वारा प्रमाणित हो चुकी है। इसी के आधार पर मत्रों के अनुप्रयोग एव पराभौतिक प्रभावों को देखा गया है। इस विषय को प्रयोगों एव विश्लेषणों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है जिसके लिये एक अलग ग्रन्थ की आवश्यकता है।

वस्तु विन्यास शक्तिक्रम की आधार शिला है। तत्त्वों के अणुओं और परमाणुओं के कणों का विन्यास वस्तु के स्वरूप एव शक्ति में अदभुत परिवर्तन कर देता है। सम्पूर्ण तन्त्रागम शक्ति से अनुप्राणित द्रव्यों की इसी विन्यास व्यवस्था का एक विकसित वैज्ञानिक उपक्रम है। भारतीय वाडमय के सनातन ग्रन्थों एव बौद्ध साहित्य में तन्त्र साहित्य की यही विशेषता उसे आज भी जीवन्त किये हुए हैं। वस्तुत इसके लिये भी एक स्वतत्र ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। इसी कारण इन विषयों का प्रस्तुत ग्रन्थ में समावेश नहीं किया जा सका।

ज्योतिर्विज्ञान का सि न्त या गणित खड प्राय सर्वाडगीण रूप से आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रभावित एव स्वीकृत है। इसके सूक्ष्म अनुप्रयोग पर भी प्रस्तुत ग्रन्थ में किञ्चित् प्रकाश डाला गया है।

भारतीय आर्ष ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट है कि युद्ध कौशल में प्रयोग होने वाले विभिन्न प्रक्षेपास्त्रों अदृश्य शस्त्रों अस्त्रों आदि की उपलब्धता भारत में विज्ञान के चर्रोत्कर्ष की ओर सकेत करती है। इसी क्रम में प्राचीन भारतीय विमान शास्त्र पर एक लेख प्रस्तुत पुस्तक के नमूने में दिया गया है जिससे प्राचीन भारतीय विज्ञान की एक झाकी मिल सके।

अन्त में सस्थान की ओर से पुन मानव ससाधन विकास मन्त्रालय भारतसरकार एव उत्तर प्रदेश सरकार के प्रति आभार प्रकट करता हू, जिनके आर्थिक सहयोग से इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हुआ। ग्रन्थ को विचारों की तात्त्विक सामग्री से पुष्ट करने वाले उन सभी आदरणीय विद्वानों एव मनीषिया का भी मैं हृदय से आभार प्रकट करता हू। जिन्होंने अपने विचारों को लेख के रूप में व्यवस्थित कर सस्थान को भेजकर अपना आशीर्वाद दिया। सस्थान के परमादरणीय अध्यक्ष डा नागेन्द्र पाण्डेय तथा समादरणीय विशेषज्ञ विद्वान सदस्यों का भी ऋणी हू। जिन्होंने अपने कशल मार्ग निदेशन द्वारा पुस्तक को अभिव्यक्ति देने में अपनी प्रेरणा का सबल दिया। इस ग्रन्थ का जिस लगन विद्वत्ता एव तत्परता से सम्पादन कार्य डा उमारमण झा ने किया है उसके लिए मैं तथा सस्कृत सस्थान सदैव आभारी रहेगा। सस्थान के अपने वरिष्ठ सहयोगियों डा चन्द्रकान्त द्विवेदी सहायक निदेशक एव डॉ त्रिवेणी प्रसाद शक्ल सर्वेक्षक तथा सहयोगी स्टाफ को भी मैं हृ्य से साधुवाद देता हू। मुद्रण कार्य को मात्र व्यवसाय न मानकर उस ग्रन्थ को अच्छा बनाने में पूर्ण सहयोग हेतु शिवम् आर्टस के व्यवस्थापक द्विवेदी बन्धु भी साधुवाद के विशेष अधिकारी हैं जिन्होंने अपने बहुमूल्य सहयोग द्वारा पुस्तक को आकार दिया। मुझे पूरा आभास है कि पुस्तक में त्रुटियों के साथ वैज्ञानिक विषयों से जुडे अनेक महत्त्वपूर्ण लेखों की कमी रह गयी है जो समय की सीमा के कारण अखर भी रही है। वस्तुत लम्बी मजिल के लिए पडावों की अपनी उपादेयता होती है। अत इसे एक आरम्भिक पडाव मानकर सुधीजन क्षमा करेंगे ऐसी आशा हैं।

श्री रामनवमी
विक्रमाब्द २ ५६

स्नेहाकाक्षी
डॉ सच्चिदानन्द पाठक
निदेशक

प्रस्तावना

जिस समय कोई व्यक्ति अनन्त ब्रह्माण्ड का विचार अपने मन में लाता है उस समय आकाश गडगा की विशालता एव उसके परिवेश में स्थित असख्य तारामण्डल से निर्मित विविध सौरमण्डलों के पश्चात् अपना विद्यमान सौरमण्डल और उन सबकी तुलना में पृथ्वी की स्थिति की परिकल्पना से वह निश्चित ही आश्चर्य युक्त हो जाता है। एक खगोलशास्त्री की दृष्टि से ब्रह्माण्ड पिण्डों के सापेक्ष पृथ्वी की तुलना मक स्थिति किसी सर्षप बीज से बडी नहीं लगती। इस पृथ्वी की भौतिक स्थिति और भी अधिक जटिल हो सकती है जब हम इसके जैविक उत्पत्ति की रहस्यमयी स्थिति पर विचार करने लगते हैं। यद्यपि विश्व के अनेक दार्शनिक विचारकों ने तथा धार्मिक सूत्र ग्रथों के रचयिता विद्वानों ने सृष्टि की उत्पत्ति एव विकास के क्रम को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है परञ्च उनमें विभेद के साथ ही असतुष्टि को देखकर यही कहा जा सकता है कि अभी भी सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्य अनावृत ही हैं। प्राय सभी धर्मों के प्रवर्तक अथवा प्रणेता आचार्य स्वकल्पित सत्य के आधार पर ही इस विषय में आगे बढे हैं।

यही कारण है कि उनके द्वारा आरोपित सत्य के प्रति तर्क दृष्टि बढी चली गयी और आज भी सम्पूर्ण जिज्ञासाओं का पूर्ण समाधान नहीं हो पाया है। फिर भी भारतीय शास्त्रकारों ने अन्य धर्मों की तुलना में अत्यधिक व्यावहारिक तर्कसगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण निरूपित करने का सफल प्रयत्न किया है।

यह निर्विवाद सत्य है कि विश्व सस्कृति के इतिहास में भारतीय वैदिक सस्कृति ही प्राचीनतम सस्कृति है। इस वैदिक सस्कृति ने विकास के पथ पर निरन्तर गतिशीलता प्राप्त की है। परिणामत वैदिक ग्रन्थों के विस्तार और चिन्तन की दिशाओं में सकारात्मक प्रगति हुयी है। श्रौत ग्रन्थों की विविधता स्मृति ग्रन्थों की बहुरूपता ब्राह्मण ग्रन्थों एव उपनिषद ग्रन्थों का आधिक्य होने के साथ ही दार्शनिक विचारों में विभिन्नता इस सस्कृति के प्रवाह की निरन्तरता को द्योतित करती है।

अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए इस सनातन सस्कृति ने मानव जीवन की परिपूर्णता के सम्बन्ध में गहन विश्लेषण किया है। महाभारतकार जब कहते हैं

न मानुषात्श्रेष्ठतरोऽस्ति कश्चित् मानवीय सृष्टि की ओर विशेष दृष्टि से देखने का सकेत करते हैं।

ज्ञान और विज्ञान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए मनुष्य की भौतिक एव आध्यात्मिक शक्ति को अडगीकार किया गया है। इस क्रम में हम देखते हैं कि मनुष्य की

उभयविध शक्ति को जागृत तथा पोषित कर उसको परिपूर्ण मानव बनाने की चेष्टा की गयी है और प्रत्येक मानव की स्वतन्त्र तथा उसकी परिपूर्ण सत्ता को स्वीकार किया गया है। मानव सृष्टि भी पाञ्चभौतिक है और पञ्च भूतों के गुण तथा प्रभाव से वह सर्वथा प्रभावित होती है। इस प्रकार पञ्च महाभूतों के आधार पर उसका आरम्भ मध्य तथा अन्त अनुचलित है। इन पञ्चमहाभूतो का अन्तर्जाल कहीं पर सूक्ष्म तो कहीं पर स्थूल रूप से प्रकट एव अप्रकट स्वरूप में विद्यमान रहता है। इनकी विशेषता यह भी है कि परस्पर सजातीय आकर्षण के साथ ही विजातीय सश्लेषण में विशिष्ट गुणों की उत्पत्ति भी देखी जाती है। अब तक के ज्ञात तथ्यो के आधार पर समस्त सृष्टि पाञ्चभौतिक ससृष्टि की निर्मिति है। ग्रह नक्षत्र तारे नदी पर्वत वनस्पति समस्त जन्तु एव प्राणी समूह पञ्च महाभूतों की कृति हैं। जब कि उपनिषदकार यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे के सूत्र का निर्वचन करते हैं तब विश्वात्मा की ऐक्यबद्धता सिद्ध होती है। इसी आधार पर ग्रहों एव नक्षत्रों से पृथ्वी पर उपस्थित प्राणियों के साथ आन्तरिक सबध निरूपित होते हैं। अन्य पिण्डों के सापेक्ष सौरमण्डल के पिण्डों का परस्पर इतने निकट का सम्बन्ध है जिस प्रकार से एक मुहल्ले में बने हुए घरों का परस्पर सम्बन्ध एव प्रभाव होता है।

इन ग्रहपिण्डों का भूतल पर विद्यमान जड जडगम पदार्थों पर आपतित प्रभावों का अध्ययन हजारों वर्ष पूर्व ही ज्ञात कर लिया गया था। भारतीय चिन्तकों ने इनका स्थूल प्रभाव ही नहीं अपितु सूक्ष्मतम प्रभाव का भी सम्यक् विवेचन किया है। अन्य जीवों की तुलना में मानव मस्तिष्क की जटिलता सर्वविदित है और इस जटिल सरचना में ग्रहों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस तथ्य को भारतीय विद्वानों ने मान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है।

हृदय की स्पन्दनशीलता में विकृति आने पर जिस हृदय रोग का आधुनिक तकनीक से निदान एव चिकित्सा की जाती है उसको सूर्य ग्रह के साथ सयुक्त कर ऋग्वेद में मनुष्य के सूक्ष्म अवयव पर सूर्य के प्रभाव को स्वीकार किया गया है। जैसा कि कहा गया है

उद्यन्नद्य मित्रमू आरोहन्नुत्तरा दिवमू।

हृद्रोग मम सूर्य हरिमाण च नाशय।। (ऋ स १/५ /११)

(हे! अनुकूल तेज सूर्य ! आप परम उच्च द्युलोक पर चढकर मेरा हृदयरोग नाश करें।)

ऋग्वेद की यह उक्ति कोई कल्पना मक गल्प नहीं है। सूर्य अग्नि तत्व का उत्पादक होने के कारण हृदय की ऊष्मा तथा ऊर्जा प्रदान करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रह है। अब तक मेरा अनुभव यह है कि ग्रीष्म ऋतु में अग्नि तत्व की वृद्धि होने से सर्वाधिक हृदयाघात इसी ऋतु में होता है। चिकित्सा वैज्ञानिकों से मेरा अनुरोध है कि इस तथ्य पर अनुसधान करें। सूर्य को जगत् की आ मा कहा गया है इसमें भी यही रहस्य छिपा हुआ है।

चन्द्रमा मन का कारक ग्रह है जो चन्द्रमा मनसो जात ।। इस वेद वाक्य से सुप्रमाणित है। चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार मन का सचालन देखा गया है। पूर्णिमा को जब पूर्ण चन्द्रोदय होता है उस समय समुद्र में ज्वार उत्पन्न होता है और मानसिक विक्षिप्तता का आवेग सर्वाधिक रप में इसी तिथि को उद्भूत होता है। इसीलिये हमारे शास्त्रकारों ने पूर्णिमा के दिन व्रत तीर्थ स्नान जप एव पूजन का विधान किया है। इससे मनुष्य का मानसिक सन्तुलन बना रहता है।

सूर्य और चन्द्रमा के अतिरिक्त अन्य ग्रहों के पचतत्वात्मक प्रतिनिधित्व को आचार्य वराहमिहिर ने बृहज्जातक (अ २/६) मे इस प्रकार निरूपित किया है

शिखिभूखपयोमरुद्गणाना वशिनो भूमिसुतादय क्रमेण।।

अर्थात् भौम अग्नि तत्व का बुध पृथ्वी तत्त्व का बृहस्पति आकाश तत्त्व का शुक्र जल तत्त्व का और शनि वायु तत्त्व का कारक होता है। मनुष्य के शरीर में इन तत्वों की वृद्धि और ह्रास का कारण तात्कालिक ग्रह स्थितियों के आधार पर ज्ञात कर सकते हैं। इन पन्च तत्वों का असतुलन एव व्यतिरेक के कारण ही शरीर की स्वस्थता में वृद्धि होती है। प्राणियों की प्रकृति उसकी सचरना मनोदशा विकास एव ह्रास आदि का विश्लेषण इन ग्रहों के आधार पर पूर्ण वैज्ञानिकता के साथ वराहमिहिर ने (बृहज्जातक अ २ ७ ११) में उपस्थापित किया है।

यह भी विचारणीय है कि जन्मकालीन ग्रहयोग के आधार पर जातक की सम्पूर्ण स्थिति बतायी जा सकती है और इसके विपरीत जातक के सम्पूर्ण स्वरूप लक्षण के आधार पर ग्रहों की स्थिति को भी ज्ञात करने की वैज्ञानिक पद्धति शास्त्रकारों ने प्रतिपादित की है। जिस प्रकार किन्हीं दो सख्याओं का योगफल ज्ञात करने के पश्चात उस योगफल में से किसी एक सख्या को घटा देने से पर दूसरी सख्या ज्ञात हो जाती है उसी प्रकार ग्रहों से मानव की स्थिति ज्ञात कर ली जाती है। ज्योतिषशास्त्र की भाषा में इस विधि को अज्ञात जन्म दशा विचार के नाम से जाना जाता है। जैसा कि वराहमिहिर ने वृहत्सहिता में कहा है

छायाशुभाशुभ फलानि निवेदयन्ती लक्ष्या मनुष्यपशुपक्षिषु लक्षणज्ञै ।
तेजोगुणान् बहिरपि प्रविकाशयन्ती दीपप्रभा स्फटिकरत्नघटस्थितेव।।

इसी प्रकार बृहज्जातक में भी (अ ८ श्लोक २१) आचार्य ने कहा है

छाया महाभूतकृता च सर्वेऽभिव्यञ्जयन्ति स्वदशामवाप्य।
कम्ब्याग्निवार्यम्बरजान्गुणाश्च नासास्यदृक्त्वक्छ्रवणानुमेयाम्।।

मनुष्य की उपलब्धियों तथा उसकी विद्यमान प्रकृति से ग्रह स्थिति का ज्ञान करने के लिए यह उद्धरण निदर्शनार्थ प्रस्तुत है

सौर्य्यो स्वनखदन्तचर्मकनककौर्याध्वभूपाह्वै
स्तैक्ष्ण्य धैर्यमजस्रमुद्यमरति ख्याति प्रतापोन्नति ।
भार्यापुत्रधनारिशस्त्रहुतभुग्भूपोद्भवा व्यापद
स्त्यागी पापरति स्वभृत्यकलहो हृत्क्रोडपीडामया। (बृ जा ८/१२)

ज्योतिष शास्त्र का खगोलीयगणित जितना वैज्ञानिक माना जाता है उतना ही इसका फलितभाग भी विज्ञान सम्मत है। फलित ज्योतिष के परिणामों का अनुदिन परीक्षण न होने के कारण ही उसकी वैज्ञानिकता पर सन्देह उत्पन्न होता है। यदि ऐसा प्रायोगिक परीक्षण हम कर सकें तो निश्चित ही शास्त्रोक्त तथ्यों की परिपुष्टि कर सकते हैं। हमारे इस विश्वास का अकाटय सिद्धान्त यह है कि सृष्टि का प्रत्येक निर्माण समान तत्वों के सम्मिश्रण से हुआ है और वे तत्व परस्पर प्रभावशील होते हैं।

आज का समाज विज्ञान की चकाचौंध से प्रभावित होकर प्राचीन आचार विचार पर अत्यधिक तर्क करने लगा है। आधुनिक शिक्षा एव सस्कारों ने और अधिक भ्रम उत्पन्न किया है परन्तु धीरे धीरे आज का विज्ञान तुलसी पत्र हरिद्रा दूर्वा और बिल्वपत्र आदि वस्तुओं का वैज्ञानिक स्वरप प्रतिपादित करने लगा है। हस्त पाद प्रक्षालन नित्य स्नान वस्त्रों की शुचिता तथा भोजन की पवित्रता को भी आज का सभ्य समाज स्वीकारने लगा है।

इस प्रकार अब आचार एव विचार की शुद्धता मनुष्य की समृद्धि हेतु उपयोगी माना जाने लगा है। फिर भी कछ ऐसे प्रश्न शेष रह जाते हैं जिनका समाधान आवश्यक है। उदाहरण के लिए यज्ञोपवीत को दाहिने कान पर क्यों लपेटना चाहिये ? यह प्रश्न किसी के भी मन में उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है। इसका उत्तर शरीर विज्ञान के माध्यम से प्राप्त होता है। यज्ञोपवीत को दाहिने कान पर इसलिए लपेटना चाहिए क्योंकि दाहिने कान से होकर लोहितिका नामक एक विशेष नाडी मनुष्य के मलमूत्र के द्वार तक पहुचती है। यदि दक्षिण कान की इस नाडी को थोडा सा दबा दिया जाय तो व्यक्ति का मूत्रद्वार स्वत ही खुल जाता है। इस नाडी का अण्डकोश से भी सीधा सम्बन्ध है। हार्निया नामक बीमारी की रोकथाम के लिए प्रामाणिक चिकित्सक उस नाडी की जगह सूची वेध (छिद्र) कर देते हैं। अत वैज्ञानिक रीति से प्रमाणित है कि इस कान को जनेऊ द्वारा वेष्टित करने पर व्यक्ति की मूत्र क्रिया स्पष्टता एव सरलता के साथ आखिरी बूद तक सुगमता से हो जाती है और मूत्र सम्बन्धी रोग नहीं होते हैं। यह एक उदाहरण आचारों की वैज्ञानिकता पर सकेत मात्र है। उस विषय पर अनेक योग्य विद्वानों ने प्रकाश डाला है। जिज्ञासु जनों को इस विषय पर शास्त्रार्थ महारथी स्वामी माधवाचार्य द्वारा लिखित क्यों शीर्षक ग्रन्थ को अवश्य देखना चाहिए।

सस्कृत भाषा एव भारतीय सस्कृति के सभी पक्षों को सम्पोषित करने को उ प्र सस्कृत सस्थान अपना कर्तव्य समझता है। इसी लक्ष्य के अनुसार भारतीय आचार पद्धति

की वैज्ञानिकता पर एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का निश्चय दो वर्ष पूर्व किया गया था। मुझे प्रसन्नता है कि इस ग्रन्थ की परिपूर्णता में अधिकारी विद्वानों का सारगर्भित गवेषणात्मक लेख प्राप्त हुए। इस विषय से सम्बन्धित प्राय सभी महत्वपूर्ण पक्षों पर विद्वानों ने प्रकाश डाला है। आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी डॉ प्रभुनाथ द्विवेदी डॉ श्री किशोर मि न आचार्य वायुनन्दन पाण्डेय डॉ आजाद मिश्र आचार्य रामनारायण त्रिपाठी डॉ उर्मिला श्रीवास्तवा डॉ अरुण कमार पाण्डेय एव डॉ फण।न्द्र कुमार मिश्र जैसे प्रख्यात विद्वानों के निब धों को इस ग्रन्थ में समाहित किया गया है जिसके लिये मैं इन सभी लेखकों का हृदय से कृतज्ञ हू। ये सभी अपने विषय के विशिष्ट विद्वान हैं। इन विद्वानों की सारस्वत साधना का परिणाम ही यह ग्रन्थ है।

इस महत्वपूर्ण विषय पर लिखित ग्रन्थ का सम्पादकत्व का गुरुतर भार आचार्य उमारमण झा प्राचार्य केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ लखनऊ ने स्वीकार कर ग्रन्थ का गौरव बढाया है। आचार्य झा प्राचार्य जैसे प्रशासनिक पद का सफल निर्वाह करते हुए भी अपनी लेखनी को कभी विश्राम नहीं देते। अनेक काव्यों के रचयिता आचार्य झा ने अतिशय परिश्रम तथा दक्षता के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इस सहयोग के लिए मैं डॉ झा का अतिशय आभारी हू।

उ प्र सस्कृत सस्थान के निदेशक डॉ सच्चिदानन्द पाठक एक कर्तव्यनिष्ठ प्रशासक के साथ ही भारतीय आचार विचार की प्रतिमूर्ति हैं। इनके व्यवहार में सरलता चिन्तन में स्पष्टता तथा आचार में शुचिता को देखकर कोई भी व्यक्ति सहजता से आकृष्ट हो सकता है। मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है कि यह ग्रन्थ इनके कार्यकाल में प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में इनका योगदान अति प्रशसनीय है। सस्थान के सहायक निदेशक डॉ चन्द्रकान्त द्विवेदी अपने स्वभाव के अनुसार अत्यधिक परिश्रम एव तल्लीनता के साथ इस ग्रन्थ के प्रकाशन में लगे रहे। इनके परिश्रम का ही परिणाम है कि यह ग्रन्थ समय से प्रकाशित हो सका। एतदर्थ डॉ द्विवेदी भूरिश धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रन्थ के मुद्रक शिवम् प्रिन्टर्स लखनऊ को विशेष धन्यवाद देना चाहता हू, जिन्होंने शीघ्रता से मुद्रण कार्य सम्पन्न किया। सस्थान के प्रकाशनों में इनका महत्वपूर्ण सहयोग सदैव मिलता रहता है।

।। इति शम्।।

श्री रामनवमी
स २ ५६

नागेन्द्र पाण्डेय
अध्यक्ष
उ प्र सस्कृत सस्थान लखनऊ।

सम्पादकीय

वैदिक काल से भारतीय सस्कृति का महत्व है। वेद धर्म का मूल है। वेद में मानव के कर्तव्य चिन्तन जनकल्याण भावना तथा जीवन यात्रा के लिए समुचित मार्ग निर्दिष्ट है।

सहिता ब्राह्मण आरण्यक एव उपनिषदों में प्रतिपादित विचारों के अनुसार ही हमारे दर्शन धर्मशास्त्र पुराण तथा अन्यान्य ग्रन्थ लिखे गये।

वैदिक कालीन भारतीय समाज सौमनस्यपूर्ण तथा सौहार्दमय वातावरण में था। स्त्रियों का स्थान सम्मानपूर्ण था। आश्रम व्यवस्था तथा वर्णव्यवस्था के अनुसार सभी चलते थे।

प्राकृतरूप से जन्मे हुए व्यक्ति के जीवन को सस्कृत एव परिष्कृत करने के लिए सस्कारों की आवश्यकता हुई। गृह्यसूत्रों में इन सस्कारों का विस्तृत विवेचन हुआ है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया तक के सस्कार मानव जीवन के परिष्कारार्थ अत्यन्त आवश्यक एव उपादेय माने गये हैं।

कर्म और ज्ञान के साथ ही उपासना भी वेद का प्रतिपाद्य हैं। भक्ति उपासना की ही एक विधि है।

भारतीय सस्कृति की वैज्ञानिकता वर्तमान सन्दर्भ में एक प्रमुख विषय है। भारतीय सस्कृति के विभिन्न स्वरूपों के साथ देश काल आदि भौगोलिक एव वैज्ञानिक चिन्तन जुडा हुआ है। हमारे प्रत्येक आचार के मूल में विज्ञान विराजमान है।

भारतीय सदाचार शारीरिक मानसिक तथा आध्यामिक विकास के लिए वैज्ञानिक उपयोगिता पर आधारित है। आचार प्रभवो धर्म यह व्यास का वचन है अर्थात् आचार से ही धर्म उत्पन्न होता है। आचार ग्राहयति इति आचार्य ऐसा कहकर निरूक्तकार यास्क ने स्पष्ट कर दिया कि श्रेष्ठ तथा आचार्यों का कार्य आचार का पालन कराना है। मनुस्मृति में भी ऐसा ही कहा गया है। आचार ही परम धर्म माना गया है।

आचारहीन न पुनन्ति वेदा । अर्थात् आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं करता है। इसलिए चारों वर्णों के लिए धर्म का पालन जरूरी है। भारतीय आचारों के मूल में वैज्ञानिक चिन्तन निश्चय ही विद्यमान है। हमारे दैनिक जीवन के आचार भी भारतीय ऋषियों के चिन्तन का ही परिणाम है। सदाचार सम्पन्न जीवन श्रेष्ठ माना जाता है। सदाचारी मानव का जीवन आदर्श तथा अनुकरणीय होता है। श्रुति तथा स्मृति द्वारा प्रतिपादित सदाचार धर्म का मूल है और मानव पुरुषार्थों का साधकतत्व भी है। धर्मेण

---

१ मनु २ १२

२ मनु १ १

३ चतुर्णामेव वर्णानामाचारों धर्मपालनम्। कर्मठगुरु पृ १

हीना पशुभि समाना कह कर धर्म से हीन व्यक्ति को पशुतुल्य कहा गया है। आचारशास्त्र का सम्बन्ध आयुर्वेद जीवविज्ञान तथा भौतिकविज्ञान से परिपूर्ण है। प्राणियों के आरोग्य के लिए आयुर्वेद शास्त्र का ध्यान हमारे आचारपद्धतियों में पूर्णरप से रखा गया है। सर्व धर्मान् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् तथा शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम् यह आयुर्वेदवचन मानव आचार के साथ जुडा हुआ है। हमारे आचार विचार भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल ही होता है। अगर कोई देशकाल के विरुद्ध अपना कदम उठाता है तो वह सफल नहीं हो पाता है।

ब्राह्म मुहूर्त में उठने का आचार हमारे प्राचीन सस्कृत ग्रन्थों में कहा गया है। वस्तुत ब्राह्ममुहूर्त में उठकरके दैनिक कृत्य करने वाले पुरुष अधिक सफल होते है। उनका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। प्रात कालीन शौचकर्म दन्तधावन मलोत्सर्जन तैलमर्दन स्नान व्यायाम मुखशुद्धि पूजन कार्य सन्ध्या भोजन शयन आदि दैनिक कृत्यों को भी उसी प्रकार सम्पादन करना चाहिए जैसा शास्त्रों में निर्दिष्ट है अथवा जिस मार्ग पर हमारे श्रेष्ठ जन चलते आ रहे हैं उस मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिए।

डॉ प्रभुनाथ द्विवेदी विरचित भारतीय आचारपद्धति में वैज्ञानिकता निबन्ध बहुत ही सारगर्भित तथा शास्त्रसम्मत है। इसमें आचार पद्धतियों में वैज्ञानिकता पर समुचित विचार किया गया है।

भारतीय सस्कृति में सनातन परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहा का चिन्तन सूक्ष्म वैज्ञानिक विचारों से पूर्ण है। यहा के सस्कार पूर्व दैनिककृत्य तथा अन्यान्य सदाचार पद्धतियों के साथ साथ ही वैज्ञानिक रहस्य भी सर्वत्र सन्निहित है।

मानवजीवन के विकास के लिए सस्कारों का विशिष्ट महत्त्व है। मनुष्य के शारीरिक मानसिक आध्यामिक विकास के लिए गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त १६ सस्कारों का विधान प्राचीन महर्षियों ने किया था।

विभिन्न पापों से परिष्कार के लिए तथा शारीरिक मानसिक अभिवृद्धि के लिए सस्कारों का महत्त्व है। सस्कारों से द्विज पापक्षय करते है और परिपुष्ट होते हैं। गर्भाधान जातकर्म चूडाकर्म तथा उपनयनादि सस्कार से द्विजों के गर्भ तथा वीर्य सम्बन्धी दोष दूर होते हैं।

सस्कारों को करने से शरीर और आत्मा सुसस्कृत हो जाते है और मनुष्य धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष के अधिकारी होते हैं। अत सस्कारों का निश्चय ही महत्वपूर्ण सस्थान है।

---

१ वैदिकै कर्मभि पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्य शरीरसंस्कार पावन प्रेत्य चेह च।। मनु २ २६

२ गार्भैर्होमैर्जातिकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनै ।
बैजिक गार्भिक चैनो द्विजन्मनामपमृज्यते।। मनु २ २

सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से करण या भाव में घञ् प्रत्यय करने पर सस्कार शब्द बनता है। सस्क्रियतेऽनेन इति सस्कार अथवा सस्करण सस्कार। सस्कार से शरीर का मलापनयन या पापक्षय होता है। शरीर के हीनाडगों की पूर्ति भी सस्कार से होती है। जिस प्रकार खान से निकला हुआ रत्न या स्वर्ण सस्कारित होने पर चमकने लगता है वैसे ही मानव भी सस्कार द्वारा प्रतिभा सम्पन्न तथा अलौकिक व्यक्तित्ववाला बनता है।

व्यास स्मृति में सोलह सस्कारों का निर्देश है। अर्थात् गर्भाधान पुसवन सीमन्त जातकर्म नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन चूडाकर्म कर्णवेध व्रतबन्ध वेदारम्भ केशान्त समावर्तन विवाह अग्न्याधान तथा त्रेताग्नि या चिताग्निग्रह ये सोलह सस्कार प्रमुख माने गये हैं। सस्कारों की सख्या के विषय में भी विद्वानों के मतभेद हैं।

सस्कार कर्म से पहले स्वस्ति पुण्याहवाचन मातृका पूजन वसोर्धारा पूजन पितृपूजन (आभ्युदयिक श्राद्ध) तथा आचार्यवरण इन अडगों को भी सम्पादन करने से परम कल्याण होता है। इससे पूर्व गणेशाम्बिका पूजन भूमि पूजन और कलश स्थापन भी करना चाहिए।

प्रत्येक सस्कार के लिए अलग अलग सामग्री की आवश्यकता होती है। अपने कुलपुरोहित या आचार्य से पूछ कर ही ये सब सम्पन्न करें।

यजमान् कुशासन पर बैठकर कश की पवित्री धारण करें। यह कुश शरीर को शुद्ध करता है।

गर्भाधान सस्कार पहला सस्कार है। विवाह से तीन दिन तक वर वधू ब्रह्मचर्य में रहें। फिर चतुर्थी कर्म के बाद ही गर्भाधान का विधान है। चतुर्थी कर्म के लिए बनाये गये खीर को वर वधू को निम्नलिखित मन्त्र पढते हुए खिलावें **प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधामि अस्थिभिरस्थीनि मासैर्मांसानि त्वचा त्वचम्।** अर्थात् मैं अपने प्राणों के साथ तुम्हारे प्राणों को अस्थियों के साथ अस्थि को मासों के साथ मास को और त्वचा से त्वचा को सयुक्त करता हू। इस प्रकार क्रमश पति पत्नी दोनों एक हो जाते हैं। पत्नी अर्द्धाडिगनी बन जाती है। दोनों का आनन्द मय जीवन व्यतीत होता है।

इसके बाद वधू के ऋतुकाल होने पर चौथे दिन वधू स्नान के पश्चात् शुद्ध होकर मौन होकर सूर्य की उपासना करें। पाचवी रात्रि से १६वीं रात्रि पर्यन्त पुत्र की कामना से

---

१ गर्भाधान पुसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रिया निष्क्रमणोऽन्नाशन वपनक्रिया।।
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भ क्रियाविधि।
केशान्त स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रह।।
चिताग्नि सग्रहश्चेति सस्कार षोडश स्मृत।।

२ महर्षि जातुकर्ण के अनुसार १६ सस्कार पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार १२ सस्कार कहीं संस्कारों की पुष्टि तो कहीं सस्कारों का उल्लेख है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में ११ सस्कारों का उल्लेख है।

युग्म रात्रि में (छठी आठवीं दशमी) कन्या की कामना से अयुग्मरात्रि में (पाचवी सातवीं नवमी) पत्नी की इच्छा के अनुरूप पति अपने वाम भाग में पत्नी को सुलाकर पत्नी के उपस्थ पर दाया हाथ रखकर मन्त्र पढे पूषा भग सविता में ददातु रुद्र कल्पयतु ललामगुम्। विष्णुर्योनि कल्पयतु त्वष्टा रपाणि पिशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते।

अर्थात् पूषा नामक सूर्य हमें भग अर्थात् ऐश्वर्य दें। रुद्र सौन्दर्य की कल्पना करें। विष्णु योनि की कल्पना करें त्वष्टा रपका सृजन करें। प्रजापति सृष्टिकर्ता ब्रह्मा गर्भ धारण करावें। इस मन्त्र को स्मरण करते हुए पति पूर्व मुख या उत्तरमुख बैठकर इस मन्त्र को पढकर योनि को अभिमन्त्रित करें

गर्भं धेहि सिनीवाली गर्भं धेहि सरस्वती।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्ता पुष्करस्रजी।

अर्थात् देवपत्नी लम्बे केशों वाली मेरी पत्नी को गर्भ धारण करावें। हे पद्म की माला धारण करने वाले अश्विनी कुमार आप इस गर्भ में आने वाले शिशु को सौन्दर्य आरोग्य और दीर्घजीवन प्रदान करें।

मौन होकर किसी इष्टदेव या महापुरुष का स्मरण करता हुआ पति गर्भाधान (मैथुन) करें। वीर्यपात के समय यह मन्त्र स्मरण करें

रेतो मूत्र विजाहाति योनि प्रविशदिन्द्रियम्।
गर्भो जरायुणावृत उल्वञ्जहाति जन्मना।

अर्थात् इन्द्रिय इन्द्रिय में प्रवेश करता हुआ वीर्य का त्याग करता है। वह गर्भ जरायु (नाल) से वेष्ठित हो जाता है। और जन्म के समय नाल का त्याग करता है।

गर्भाधान के बाद पति पत्नी के हृदय पर हाथ रखकर मन्त्र पढे

यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदाह तन्मा तद्विद्यात्। पश्येम शरद शतम्
जीवेम शरद शतम्, शृणुयाम शरद शतम्।

अर्थात् हे सुन्दर सीमन्तिनि! तुम्हारा हृदय जो चन्द्रमा में केन्द्रित है वह मुझ जाने और मैं उसे जानू। हम दोनों का हृदय एक हो। हम सौ वर्षो तक श्रोत्र नेत्र तथा इन्द्रियों से सम्पन्न रहते हुए देखें सुने और जीवें।

दिन में या सन्ध्याकाल गर्भाधान न करें। निषिद्ध दिवस में समागम न करें।

अगर कोई स्त्री किसी दोषवश गर्भ नहीं धारण करती है तो जब पुष्य नक्षत्र आता

है उससे एक दिन पूर्व पति उपवास करें। दूसरे दिन पुष्य नक्षत्र में भटकटैया का जड उखार कर उसे धो पीस कर बहू को दाहिने नाक में रस डाले

मन्त्र ओमु इयमौषधि त्रायमाणा सहमाना सरस्वती।
अह वृहत्या पुत्र पितुरिव नाम जग्रभम्।

अर्थात् यह औषधि पित्तादि दोष को दूर करने वाली है। इसके महा प्रभाव से जैसे मैं अपने पिता का पुत्र हू, उसी प्रकार मैं भी पुत्र से पिता कहलाऊ।

पुसवन सस्कार पुत्र प्राप्ति के लिए किया जाता है। यह गर्भ से दूसरे या तीसरे मास में किया जाता है।

जब चन्द्रमा पुसज्ञक नक्षत्र में हो (पुष्य पुनर्वसु मृगशिरा हस्त पूर्वाषाढ उत्तराषाढ श्रवणा घनिष्ठा रेवती अश्विनी ये पुसज्ञक नक्षत्र हैं) पवित्र पूर्वक स्नान करके वट का शुग (ढढा) तथा कुश को पीस कर पत्नी के दाये नाक में छोड दें। मन्त्र भी पढे

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुते मा कस्मै देवाय हविषा विधेम। यजु २५/१०

अर्थात् हिरण्यगर्भ रूप में परमात्मा सबसे पहले प्रकट होकर सब के पति हुए। उन्होंने भूमि आकाश स्वर्ग को धारण किया। वह देवता इस रस को पाकर गर्भ को वीर्यवान् बनावे।

सीमन्तोन्नयन सस्कार प्रथम गर्भ के समय छठे या आठवें मास में जब चन्द्रमा पुसज्ञक नक्षत्र पर हो तब करना चाहिए। सीमन्त केशवेष (माग) का उन्नयन इस में होता है। इस सस्कार से भूत राक्षस तथा रुधिरप्रिय अलक्ष्मी गर्भवती स्त्री को स्पर्श नहीं कर सकती है।

जातकर्म शिशु के उत्पन्न होने पर किया जाता है। इससे शिशु स्वस्थ रहता है। एकादशेऽहनि पिता नाम कर्यात् इस वाक्य के अनुसार बच्चे का नामकरण ११वें दिन होना चाहिए। बाद में भीर शुभ दिन और शुभ नक्षत्र में नामकरण सस्कार का विधान है।

इसी प्रकार अन्नप्राशन चूडाकरण मुण्डन विवाह आदि सस्कारों का वैज्ञानिक महत्त्व है। आचार्य वायुनन्दन पाण्डेय ने सस्कारों की वैज्ञानिक उपयोगिता पर शास्त्रपूर्ण चिन्तन किया है।

हमारी सस्कृति के साथ व्रत एव पर्व भी जुडे हैं जिनकी वैज्ञानिकता सिद्ध हो चुकी है। परम्परा से प्राप्त हमारे ये व्रत एव पर्व निश्चय ही श्रेयस्कर हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्वेति। ऐसा कहा गया है। अत हमारे व्रत और उपवास में भी निश्चय ही विज्ञान छिपा हुआ है। विद्ययाऽमृतमश्नुते का भाव भी यही है कि हम सदाचारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करके अमरत्व को प्राप्त करें।

व्रत उपवास उत्सव तथा अन्यान्य धार्मिक कृत्यों के साथ वैज्ञानिक उपयोगिता सन्निहित है।

व्रत में उपवास लाभदायी है

उपावृत्तस्तु दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणै सह।
उपवास स विज्ञेय सर्वदोषविवर्जित ।।

डा उर्मिला श्रीवास्तव ने व्रत एव पर्वों की वैज्ञानिकता शीर्षक निबन्ध में व्रत एव पर्वों के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

तिलकधारण भी स्वास्थ्य सवर्धन के लिए आवश्यक है

स्नान दान तपो होमो देवता पितृकर्म च।
तत्सर्वं निस्फल याति ललाटे तिलक विना।।

अर्थात् ललाट पर तिलक के विना दान तप होम या यज्ञ सब व्यर्थ हो जाता है। प श्री किशोर मिश्र ने तिलक धारण शिखाधारण तिलकद्रव्यविचार तथा अन्य व्यावहारिक विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है।

सन्ध्यावन्दन भी बहुत ही उपयोगी है। सन्ध्या अवश्य करनी चाहिए। इसके न करने से शुभकर्मों का फल नहीं मिलता है

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्ह सर्वकर्मसु।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्।

डा आजाद मिश्र ने सन्ध्यावन्दन की वैज्ञानिकता पर शास्त्रोक्त विचार के अनुसार चिन्तन करके सारगर्भित लेख प्रस्तुत किया है।

भारतीय पूजन में माङ्गलिक द्रव्यों एव वनस्पतियों की वैज्ञानिक उपयोगिता पर डा केदारनाथ त्रिपाठी ने सरल ढग से प्रकाश डाला है।

---

१ छान्दोग्यो १

२ व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षामाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणया श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।। यजु १६/३

३ हिन्दुओं के व्रत पर्व और त्योहार रामप्रताप त्रिपाठी पृ १

उपाकर्मविज्ञान में डा आजाद मिश्र ने प्राचीन शास्त्रीय चिन्तन के आधार पर उपाकर्मविधि ऋषिपूजन हेमाद्रि सकल्प प्राणायाम सूर्यार्घ्य रक्षाबन्धन तथा उपाकर्म से सम्बन्धित अन्य विषयों की वैज्ञानिकता की चर्चा की है।

डा मनुदेव भट्टाचार्य का प्राचीन भारतीय विमानशास्त्र एक अच्छा लेख है। प वायुनन्दन पाण्डेय ने सस्कारों की वैज्ञानिक उपयोगिता पर शास्त्रीय ढग से विचार किया है। आचार्य रामनारायण त्रिपाठी ने उपनयन सस्कार की वैज्ञानिकता तथा विवाह सस्कार की वैज्ञानिकता पर शास्त्रीय तथा लोकव्यवहार की दृष्टि से प्रकाश डाला है। उनके इस प्रयास से विद्वज्जन तथा सामान्यजन निश्चय ही उपकृत होंगे।

डा अरुण कुमार पाण्डेय का लेख तथा ज्योतिष डा फणीन्द्रकुमार मिश्र का लेख अन्त्येष्टि कर्म एक वैज्ञानिक अध्ययन भी श्लाघनीय है।

कुछ लेख सम्पादन के योग्य नहीं थे लेकिन सस्थान के सहायक निदेशक डा चन्द्रकान्त द्विवेदी के अथक प्रयास से सभी निबन्धों का समावेश सभव हो सका है।

उत्तर प्रदेश सस्कृत सस्थान द्वारा भारतीय सस्कृति की वैज्ञानिकता पर एक सार गर्भित पुस्तक का प्रकाशन हो रहा है। उत्तर प्रदेश सस्कृत सस्थान के अध्यक्ष डा नागेन्द्र पाण्डेय ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन की अनुमति देकर तथा प्रस्तावना लिखकर हमारा उत्साह वर्धन किया है। निश्चय ही हम उनके आभारी हैं। इस श्लाघनीय कार्य के लिए सस्कृत सस्थान के निदेशक डा सच्चिदानन्द पाठक जी का आभार प्रदर्शन करता हू। निश्चय ही इस ग्रन्थ के प्रकाशन से विद्वान् शोधरत छात्र तथा सामान्य पाठक लाभान्वित होंगे।

कुछ विद्वानों के लेखों को सुधारने के बाद भी उसमें कुछ त्रुटिया रह गयी हैं तदर्थ सुधीजन क्षमा करें।

उमारमण झा

विषय सूची

"भारतीय पूजन में माङ्गलिक द्रव्यों एव वनस्पतियों की वैज्ञानिक उपयोगिता"

• डॉ केदार नाथ त्रिपाठी

भारतीय सस्कृति में देवी देवताओं का पूजन एक आधिदैविक विहित कर्मानुष्ठान है जो कामना विशेष से किया जाता है। अथवा निषिद्ध एव क्षुद्र कर्मों से विरत हो चित्तशुद्धि या देवताप्रीति हेतु निष्काम भी किया जाता है। देव देवता यद्यपि सर्वत्र व्याप्त हैं जैसे हमारी आ मा व्यापक है और योगापवर्ग साधनहेतु देशोपहित होता है और प्राणसम्बन्ध से प्राणी कहा जाता है। वेसे ही हम देवों के विषय में भी अपने काम्य साधन हेतु आधार विशेष में शास्त्रीय पद्धति में सर्वप्रथम उनकी प्राणप्रतिष्ठा करते हैं।

देव पृजन में यथोपलब्ध सामान्य या विशेष विहित सामग्रियों का ही व्यवहार किया जाता है जल अक्षत कशा पुष्प दुग्ध दधि घृत मधु दूर्वा आदि का। इस प्रकार पूजनहेतु पूजकविशेष पृज्य विशेष एव पूजा सामग्री विशेष अपेक्षणीय होता है। इसीलिए सभी सब देवता की पूजा नहीं करते किन्तु अपनी कामना के अनुसार देवविशेष की ही करते हैं। एव सभी सामग्रियों से भी नहीं कर पाते किन्तु विधिविहित यथोपलब्ध सामग्री से ही पूजा की जाती है।

पूजा शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त होता है इस विचार में यही कहा जा सकता है कि पूजा शब्द का कोई व्युत्पत्तिमूलक अर्थ नहीं बताया जा सकता प्रत्युत व्यवहार सिद्ध अर्थ में ही पूजा शब्द रूढ है। शब्दकोशों में इसके पर्यायवाची सभी शब्दों का पूजा ही अर्थ कहा गया हे। पाणिनि के धातुपाठों में भी **अर्चपूजायाम् अर्हपूजायाम्** का उल्लेख होने से इन धातुओं का अर्थ पूजा ही किया गया है। यहा तक कि ग्वय **पूज् धातु** का भी धातुपाठ में पूजा अर्थ ही उल्लिखित हुआ हे (पूज् पूजायाम् चुरादिगण)।

पूज्य कोटि में देववर्ग के अतिरिक्त माता पिता गुरु एव कोई भी विशिष्ट जन आते हैं और उनकी पूजा के लिये तदनुरूप सामग्री का व्यवहार किया जाता है। प्रकृत में पूजन से सम्बद्ध सामग्री की वैज्ञानिकता या उसका वैज्ञानिक महत्त्व यहा विचारणीय विषय है। विज्ञान पद से भौतिक विज्ञान गृहीत किया जाय या मनोविज्ञान गृहीत किया जाय दोनों ही दृष्टियों से पूजा सामग्रियों की उपयोगिता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से श्रद्धा एक सात्विक भाव है। श्रद्धापूर्वक समर्पित द्रव्य से पूज्य प्रसन्न होकर वाञ्छित फल प्रदान कर देता है अथवा फल प्राप्ति का हार्दिक आशीर्वाद प्रदान करता है। साथ ही पूजा करने वाले को सुखद आत्मसन्तोष होता है। सन्तोषादनुत्तम सुख ।भ यह योगसूत्र है। यह पूज्य और पूजा दोनों के लिये मनोवैज्ञानिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि ह।

भौतिक शास्त्र के अनुसार पूजा सामग्रियों की वैज्ञानिक महत्ता भारतीय आयुर्विज्ञान शास्त्र से अच्छी तरह जाना जा सकता है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में न्याय वैशेषिक दर्शन भौतिक शास्त्र हे तथापि उनमें द्रव्यों के इन्द्रियगम्य गुणों का ही प्रतिपादन हुआ है रूप रस गन्ध स्पर्शादि का या मन इन्द्रियगम्य आत्मगुणों का। किन्तु आयुर्विज्ञान शास्त्र में उन गुणों का वर्णन है जिनकी जानकारी प्रयोक्ता को फल के बाद ही होती हे।

आयुर्विज्ञान शास्त्र के आचार्यों ने विभिन्न द्रव्यों के सम्बन्ध मे सूक्ष्म एव महत्त्वपूर्ण चिकित्सकीय निरूपण किया है जिनका समर्पणात्मक प्रयोग हम पूजन में करते हें। वट पूजन में किया गया समर्पणात्मक प्रयोग देवता द्वारा हमारी फल प्राप्ति के लिये पर्यवसित हो जाता है। इस प्रकार समर्पण का पर्यवसान प्राप्ति में और प्राप्ति का पर्यवसान देने में होता है यह एक शाश्वत प्रक्रिया है। भगवान् सूर्य जल का आकर्षण करते हैं वृष्टि के रूप में हमें देने के लिए वैसे ही देवादि पूज्य को हमारे द्वारा किया गया समर्पण भी फल के रूप में अन्तत आशी के रूप में प्राप्त हो जाता है। यही काम्य कर्मानुष्ठान का रहस्य है कर्मफल का सिद्धान्त भी यही है।

पूजा सामग्रियों में मुख्य प्रयोगार्थ जल है जो सर्वाङग को पवित्र करता है शरीर के भीतर तृप्ति एव बाहर कान्ति प्रदान करता है तथा देह में जीवनी शक्ति प्रदान करता है। इसी लिये जल को जीवन भी कहा गया है। इसे पाद्य अर्घ्य स्थानीय आचमनीय रूप में देव को समर्पित कर उनसे प्रसाद रूप में कथित कामना करते हैं। जलपात्र के रूप में प्रयोग में लाया जाने वाला ताम्रपात्र हृद्य एव उदर के लिए हितकारी होता है।

दुग्ध जीवनी शक्ति एव बल प्रदान करने वाला तथा वृष्य होता है। इस प्रकार दधि घृत मधु दधि शर्करा से बना हुआ पञ्चामृत द्वारा सभी से होने वाला गुण प्राप्त होता है तथा उदर के लिए अत्यन्त हितकारी है। चन्दन पित्तनाशक घट का शमन करने वाला तथा त्वचा के विकारों को दूर करने वाला है। सदा धारण किया जाने वाला यज्ञोपवीत आयुष्य होता है तथा शारीरिक मानसिक सर्वविध शक्ति देने वाला हे। कङकुम वर्ण्य विषघ्न और त्वचा के विकार को दूर करता है। अन्नों में अक्षत का प्रमुख स्थान है अन्न वै प्राणा के अनुसार सर्वविध प्राणदद्रव्य है।

विभिन्न जाति के सभी पुष्प सौमनस्यजनक तथा कीटाणुनाशक होते हैं। बिल्वफल शोक हर तथा मस्तिष्क को शान्ति देने वाला है। दूर्वा रक्तस्राव रोधी विषघ्न तथा अत्यन्तवीर्यशाली गुणयुक्त है। यव या ववाडकर बलद होता है। अबीर सिन्दूर कीटाणु को नष्ट करने वाले हैं। इत्र सौमनस्यजनन एव हृद्य होता है। कज्जल विषघ्न होता है। विभिन्न रत्न विषनाशक एव ग्रहदोष नाशक होते हैं। धूपदीप फुस्फुस के लिए विषघ्न एव कफनाशक होता है। नैवेद्यों का गुण बल प्रदान करना तथा वृष्य होना है। ताम्बूल हृद्य रोचन अनुलोमन दीपन मुखदौ र्गन्ध्यहर तथा मुखवैशद्य करता है। आरती हेतु कर्पूर विषघ्न

फुस्फुस के लिए लाभप्रद एव हृद्य होता है। पुष्पाञ्जलि का प्रभाव त्वचा दोष जीवाणुनाश के लिए है। आम्रपल्लवों का तोरण सक्रामक कीटाणुओं का नाशक होता है। इस प्रकार के पूजा द्रव्य शारीरिक एव मानसिक रप से हमें लाभ प्रदान करने वाले हैं इसलिये इनका सतत प्रयोग विहित है। इसीिए यह आर्षवचन है कि

यथा प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुराजित ।
ता वेदविहिता मिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्।। इति

ईश्वरीय सृष्टि में सभी प्राकृतिक पदार्थ प्राणियों के उपभोग के लिये रचे गये हैं। भारतीय सस्कृति में उनका उपभोग त्वदीय वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये की बुद्धि से किया जाता है। वह समर्पण पूजन में अनिवार्य एव अविच्छिन्न रूप में होता है। हम समर्पण उसी वस्तु का कर सकते हैं जो हमारे लिए उपलब्धि के योग्य हो तथा पूजनीय के अनुरूप हो। अर्जु1 को निमित्त बनाकर मानवमात्र के लिए भगवान् का औदार्यपूर्ण आदेश है कि

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
पत्र पुष्प फल तोय यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदह भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन ।।

यही तो पूजन है अतिथि के प्रति गुरु के प्रति देव विशेष के प्रति अथवा साक्षात् भगवान् के प्रति।

कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता इसलिये पूजन भी पूजनीय देव विशेष की प्रसन्नता एव द्रव्यगुण के अनुसार उसका प्रतिफल भी पूजक को अवश्य प्राप्त होता है। चूकि पूजन काम्य कर्म हे इसलिये उसका फल कामनानुसार होता है तथापि आयुर्विज्ञान शास्त्रोक्त द्रव्यगुण की दृष्टि से भी उसका फल प्राप्त होना स्वाभाविक है। इस प्रकार इन पूजा द्रव्यों की आधिदैविक महत्ता के साथ साथ वैज्ञानिक महत्ता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

भारतीय आचारपद्धति की वैज्ञानिकता

• डॉ प्रभुनाथ द्विवेदी

सस्कृतेस्तु दृढाधारौ धर्माचारौ प्रकीर्तितौ।
यथा पादौ मनुष्याणा समेषा गतिमूलकौ।।
आचाराद्धर्म इत्याहुर्धर्मस्तु परमो मत ।
द्वाभ्या विना न विद्येते सस्कृतिर्नापि जीवनम्।।
आचारपद्धतेर्मूले विज्ञान यद्विराजते।
यथामति तदन्विष्य विमृश्यात्र प्रकाश्यते।।

मनुष्यों के दोनों पैरों की ही तरह धर्म और आचार सस्कृति के दृढ आधार और गति प्रदाता हैं। आचार से ही धर्म उत्पन्न होता है और धर्म को जीवन का परम तत्त्व कहा गया है। अत आचार की प्रतिष्ठा और माहात्म्य सर्वोपरि है। इन दोनों के बिना न तो सस्कृति सनाथ है और न ही जीवन को जीवन कहा जा सकता है।

आज हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श आचार सहिता लागू करने और पालन करने की बात करते हैं और समाज को भ्रष्टाचार से मुक्त रखने के लिए अनिवार्यत उस पर जोर भी देते हैं। वस्तुत भारतीय जीवन पद्धति में आचार सनातन काल से चला आ रहा है। हमारे मनीषियों और उनके विरचित शास्त्रों और धर्मग्रन्थों ने मनुष्य के लिए सम्भाव्य सभी परिस्थितियों में उसके आचार का निर्देश किया है। इतना ही नहीं इस देश के अग्रजन्मा पूत चरित ब्राह्मणों ने पृथिवी के मानवमात्र को उनके देश काल सापेक्ष आचार (चरित्र) की शिक्षा दी है। यही भारतवर्ष के जगद् गुरुत्व का रहस्य है। सर्वप्रतिष्ठित और मर्यादित (सत्) आचार का पालन करके मनुष्य देवत्व (स्वर्ग) का अधिकारी बना और उसका पालन न करके वह अधम योनि (नरक) का पात्र बना। अत आचार का सत्पक्ष (सदाचार) प्रशस्य और काम्य है तथा उसका असत्पक्ष (अनाचार दुराचार भ्रष्टाचार व्यभिचार) गर्हित और निषिद्ध है। आचार का पालन करने वाले अन्तत सुखद परिणाम प्राप्त करते हैं और विपरीत पद्धति पर चलने वाले घोर दु ख और यातनायें भोगते हैं।

---

१ आचार प्रभवो धर्म । महाभारत अनुशासनपर्व श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्र १३

२ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन । स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा ।। मुनस्मृति २ २

३ आचार्य कस्मात् आचार्य आचार ग्राहयति।-निरुक्त प्रथम अध्याय द्वितीय पाद।

भारतीय वाङमय के मूलस्रोत अपार सस्कृत ताङमय में पदे पदे आचार तत्त्व के दर्शन होते है। इनका ग्रथन सिद्धान्त और अनुभव के निदर्शनों से परिपूर्ण है। इन्हीं के आधार पर आचार्यों ने एक श्रेष्ठ अनुकरणीय आचार पद्धति का प्रवर्तन किया है। महर्षि यास्क ने आचार्य की निरुक्ति आचार से की है। श्रीमदभगवदगीता में स्पष्ट ही कहा गया है कि श्रेष्ठजन जो जो (जैसा जैसा) आचरण करते हैं वहीं वही (वैसा वैसा) आचरण अन्य लोग भी करते हैं। वे श्रेष्ठ जन जो करते हैं वह (अन्यों के लिए) प्रमाण होता है और लोगा उसी का अनुवर्तन करता है। नीतिवचनों में भी आचार के सम्बन्ध में यही कहा गया है कि धर्म (=आचार) का तत्त्व जानना अत्यन्त दुष्कर है अत बडे लोग जिस मार्ग से जायें अर्थात् उनका जो आचार पथ है वही अस ी मार्ग है। अत उसी का अनुसरण करना आचार पालन करना है। मनुस्मृतिकार ने सदाचार को धर्म का एक लक्षण बताया है। सदाचार का अर्थ है सताम आचार अर्थात् सत्पुरुषों (= सज्जनों) का आचरण। आचार सभी मनुष्यों का सर्वप्रथम धर्म है। जो आचारहीन है उसका उभयलोक नष्ट हो जाता है। आचारहीन और भ्रष्ट पुरुष को न तप न मन्त्रजप न यज्ञ और न ही दक्षिणा पार लगाती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है कि सदाचार पूर्वक रहना ही चारों वर्णों का धर्मपालन करना कहा गया है। आचार भ्रष्ट प्राणियों सें धर्म मुख मोड लेता है अर्थात् धर्म उन्हें छोड देता है।

शास्त्रों द्वारा प्रवर्तित आचार्यों द्वारा अनुमोदित और सज्जनों द्वारा स्वीकृत भारतीय आचार पद्धति मनुष्य मात्र के लिए एक सर्वमान्य आचार सहिता है। भारतीय आचार पद्धति में विवेकतत्त्व की प्रधानता है। इसमें क्रूर कठोरता नहीं है अपितु उदार लचीलापन है। अत इसमें देश काल सापेक्ष्य परिवर्तन सशोधन और परिवर्धन आदि की सम्भावना सदैव वर्तमान है। आचार भारतीय सस्कृति का अभिन्न अग है और श्रेय प्रेय का एक सुसस्कृत मार्ग है। भारतीय आचार पद्धति के मूल में हमारे महर्षियों और प्राज्ञ आचार्यों का परमवेज्ञानिक चिन्तन है। यही कारण है कि मानवसभ्यता के साथ ही विकसित सहस्राब्दियों से चली आ रही हमारी आचार पद्धति आज भी अक्षुण्ण है।

---

१ यद्यदाचरति ञेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन । स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। श्रीमद्भगवद्गीता ३ २१

२ धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया महाजनो येन गत स पन्था।

३ श्रुति स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमा मन । एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।। मनु २ १२
वेदोऽखिलो धर्ममूल स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च। वही २ ६
आचार परमो धर्म मनु १ १ । आचारेण तु सयुक्त सम्पूर्णफलभाग्भवेत् वही १ १ ६
एवमाचरतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्। सर्वस्य तपसो मू ामाचार जगृहु परम्।। मनु १ ११

४ आचार प्रथमो धर्म सर्वेषामिति निश्चय । हीनाचारी परीता मा प्रेत्य चेह विनश्यति।।
नैन तपासि न ब्रह्म नाग्निहोत्र न दक्षिणा। हीनाचाराश्रित भ्रष्टं तारयन्ति कथञ्चन।।
कर्मठगुरु पृ १

५ चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालनम्। आचारभ्रष्टदेहाना भवेद् धर्मपराङमुख ।। वही पृ १

भारतीय जीवन पद्धति में आचारों की व्यापकता और उनका महत्त्व सर्वविदित है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त आचार और सस्कार का सम्बन्ध मनुष्य से बना रहता है और इन्हीं के आधार पर उसका परलोक और पुनर्जन्म बनता हे। मानवजीवन के साथ आचार का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ और अभिन्न है कि वस्तुत धर्म का पर्याय बन गया है। हमारे दैनिक व्यवहार प्रात उठने से लेकर रात्रि में सोने तक आचार से सर्वथा सम्पृक्त हैं। हम कैसे उठें कैसे शौच हों कैसे स्नान करें कैसे भोजन करें कैसे बात करें किसके साथ कैसे व्यवहार करें कैसे अपने को स्वस्थ रखें कैसे आयें कैसे जायें क्या पहनें क्या बिछायें कैसे रहें कैसे न रहें इत्यादि सर्वत्र हमें आचार पालन की प्रतिबद्धता का निर्वाह करने के लिए सतत सतर्क रहना पडता है। आचार पालन में की गई त्रुटि चाह वह जान में हो या अनजान में स्वय के लिए हानिकारक होती है है साथ ही सम्बद्ध अन्यों के लिए दुष्प्रभावी परिणामदायक होती है।

प्राय विवेकरहित आधुनिक सोच वाले लोग भारतीय धर्म सस्कार और आचार को आडम्बर बकवास रुढिग्रस्त पुराणपन्थी या पोंगापथी मानकर उसकी उपेक्षा कर रहे हैं और उसका उपहास भी करते हैं। उनके विचार इन आचारों से परे स्वच्छन्द हैं। आजकी पीढी के लिए आचार एक विवशता का बन्धन हो गया है और वे परम्पराओं तथा मर्यादाओं को तोडकर स्वेच्छाचारी हो रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनके दुराचार का कुफल उन्हें भोगना पड रहा है। क्योंकि वे प्राकृतिक नियमों की अवहेलना करते हैं उनके विपरीत आचार करते हैं। हमारी आचार पद्धति प्रकृति के नियमों का पूर्णत पालन करती है और सर्वथा उसके अनुकूल है। सतुलित मर्यादित और सुखी जीवन के लिए हमें एक उत्तम मार्ग का आश्रयण करना ही पडता है और जीवन का यह उत्तम मार्ग ही हमारी आचार पद्धति है। जैसे किसी मार्ग पर चलने के लिए हमें गमनागमन बनाये हुए नियमों (कानून) का पालन करना पडता है जिसके कारण हम गन्तव्य तक सुरक्षित पहुचते हैं और दुर्घटनाओं की सम्भावना की न्यूनतम होती है वैसे ही सामाजिक सुरक्षा और वैयक्तिक सरक्षा के लिए जीवन की आधार भूत आचार पद्धति का आश्रय लेना ही श्रेयकर माना गया है। सदाचार सम्पन्न मनुष्य का स्वय जीवन सुचारु तो होता ही है वह दूसरों के लिए भी आदर्श उदाहरण बनता है।

भारतीय मनीषियों ने आचार पद्धति का निर्माण गहन चिन्तन और पक्षपात रहित सात्त्विक सोच के अत्यन्त उदात्त मानस से सर्वजनहिताय किया है। यह आचार पद्धति आज भी अक्षुण्ण और उसी तरह प्रभावी है क्योंकि इस आचार पद्धति के निर्माण में सहज सरल सुखद और अनुभूत वैज्ञानिक सिद्धान्तों और तथ्य तत्त्वों का अप्रतिम योग है। इसी वैज्ञानिक योगबल के कारण हमारी भारतीय आचार पद्धति आज भी चिर नवीन शाश्वत मूल्यों से जुडी हुई है। मनुस्मृतिकार ने श्रुति और स्मृति में बताये गये आचार को ही

परमधर्म कहा है। यह शाश्वत धर्म आचार ही है। आचार के महत्त्व को बताते हुए आगे कहा गया है कि आचार हीन ब्राह्मण को वेद स्वाध्याय का फल नहीं प्राप्त होता और जो आचार से युक्त है उसे सम्पूर्ण फलों की प्राप्ति होती है। आचार से सभी धर्म गतिमान होते हैं इस लिए आचार सभी तपों का मूल है। मनुस्मृतिकार आचार के महत्त्व और उसकी अनिवार्यकरणीयता का ख्यापन करते हुए कहते हैं कि अपने कर्म से सम्यग् रूप से सम्बद्ध और श्रुति स्मृति द्वारा प्रतिपादित जो सदाचार धर्ममूलस्वरूप हैं उनका पालन प्रमाद और आलस्य रहित होकर करना चाहिए। आचार से ही आयु प्राप्त होती है आचार से ही अभिमत सन्तान प्राप्त होती है आचार से ही अक्षय धन का लाभ होता है और आचार से ही अशुभ लक्षणों का विनाश होता है। दुराचारी पुरुष ससार में निन्दित होता है वह सदैव दु खी रहता है वह रोगी और अल्पायु भी होता है। सभी लक्षणों से हीन होने पर भी जो मनुष्य सदाचारी होता है श्रद्धावान् होता है और परनिन्दक नहीं होता वह शतायु होता है।

भारतीय आचरण पद्धति का तात्त्विक विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि यह शुद्ध-अशुद्ध सत्य असत्य उचित अनुचित और शुभ अशुभ की अवधारणा के सापेक्ष मानव के चरित्र और स्वभाव की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है। इसमें शुद्ध अशुद्ध का सम्बन्ध किसी पदार्थ अथवा क्रिया से है सत्य असत्य का सम्ब । तर्क अथवा कारण से है उचित अनुचित का सम्ब ध लोकमर्यादा अथवा सामाजिक मान्यताओं और परम्पराओं से है और शुभ अशुभ का सम्बन्ध जीवन मूल्यों अथवा हमारे सस्कारों से है। वस्तुत भारतीय आचार पद्धति जीवन मूल्यों की सगति में ही अग्रेसर होती है और आचार शास्त्र उन्हीं जीवन मूल्यों का विधान करता है उनकी विवेचना करता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य अपने परिवेश तथा सस्कारों से प्रभावति रहता है। उसके समक्ष जीवन के मूल्य और उद्देश्य होते हैं। उनकी प्राप्ति की दिशा में उसका जो सार्थक और पवित्र प्रयास होता है वही उसके आचार का निर्माण करता है। जिस जीवन पद्धति के नियामक पुरुषार्थचतुष्टय धर्म अर्थ काम और मोक्ष जैसा चरम उद्देश्य हो स्वाभाविक है कि उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य का प्रयास उसका आचार भी उतना ही परम और चरम होना चाहिए। नि सन्देह ऊचे रखी हुई वस्तु को छोटी सीढी लगाकर तो नहीं प्राप्त किया जा सकता। यही भारतीय आचार शास्त्र की वैज्ञानिकता का रहस्य है देवो भूत्वा देवान् यजेत् अर्थात् देवों का यजन (पूजार्चन) करने के लिए देव बनना पडता है अर्थात् तद्वत् आचरण करना पडता है।

मानवीय व्यवहार का केन्द्र है जिज्ञासा मनुष्य को अच्छा क्यों होना चाहिए ? उसे अच्छे कर्म क्यों करना चाहिए ? हमारे अच्छे होने का उद्देश्य अथवा लक्ष्य क्या है ? इस

१ मनुस्मृति १ ११

२ वही १५५ ५ (श्लोक इस शोधनिबन्ध के न्त में उद्धृत हैं)

प्रकार की जिज्ञासा ही मानव आचार को वैज्ञानिक आधार प्रदान करती है और आचरण का सम्बन्ध धर्म तथा दर्शन से घनिष्ठ हो जाता है। यहा पुरुषार्थ चतुष्टय लौकिक और पारलौकिक दृष्टि से दो स्तरों में विभक्त हो जाते हैं (यद्यपि वे परस्पर सम्बद्र रहते हैं) और जीवन के साध्य की सिद्धि के लिए मनुष्य का आचार भी क्रमश सामान्य और विशिष्ट कोटिक हो जाता है। आचार ही मानव जीवन की वह विशेषता है जो उसे पशुजीवन से पृथक् करती है

आहर निद्राभय मैथुन च समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामथिको विशेषो धर्मेणहीना पशुभि समाना ।।

अर्थात् आहार (भोजन पान) निद्रा (सोंना नींद लेना) भय(अन्यों से प्राणभय) और मैथुन (सभोग क्रिया) ये चार पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से पाये जातें हैं। मनुष्य को पशु से भिन्न (पृथक या अलग) करने वाला विशेष (उत्कृष्टता प्रदान करने वाला गुण) धर्म (=आचार) ही हैं। (अतएव) धर्म से रहित मनुष्य निरा पशु जैसा ही होता है। निश्चय ही यह तथ्य सर्वमान्य और सन्दिग्ध है कि आचारहीन मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं होता और कभी कभी तो आचार भ्रष्ट मनुष्य से पशु किन्हीं मायने में अच्छे ही होते हैं।

ऐसी बात नहीं है कि जीवन में आचार का महत्त्व केवल भारतीय मनुष्यों के लिए ही है। आचार का सम्बन्ध तो मानवमात्र के जीवन से है चाहे वह किसी भी देश स्थान का निवासी हो। पशुत्व से मनुष्यत्व के विकास की परम्परा अर्थात् मनुष्य की सभ्यता और सस्कृति के विकास का क्रम निश्चय ही उसकी आचार परम्परा के विकास का क्रम है। समस्त धरातल पर यह जीवनाचार पद्धति देश और काल के सापेक्ष्य ही विकसित हुई। मनुस्मृति उदघोष करती है कि तन्तद् देश के लिए उनकी विशिष्ट आचार पद्धति का उपदेश भारतवर्ष कें मनीषियों ने किया था

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ।।

मनुष्य केवल एक भौतिक पिण्ड ही नहीं है। वह एक स्वय सवेंद्य मानसिक और सामाजिक प्राणी है। उसके मन में इच्छा भावना ज्ञान प्रेम आदि ऐसी वृत्तिया या क्रियायें होती है जो हमें जड भौतिक पदार्थों में कदापि दृष्टिगोचर नहीं होती। वह अपनी अस्तित्व को सदा बनाये रखना चाहता है और इसके लिए निरन्तर सघर्ष करता रहता है जिसे हम

---

१ महाभारत शान्तिपर्व २६ २६

२ मनुस्मृति २ २

वैज्ञानिक भाषा में जिजीविषा कहते हैं। मनुष्य सदैव सुखी रहना चाहता है। वह दु ख शोक और रोग से निर्मुक्त होकर सर्वैव सानन्द सुखी प्रसन्न रहना चाहता है। वह तापत्रय से ¯द्विग्न होता है और उनसे एकान्तिक तथा आत्यन्तिक रप रों छटकारा पाना चाहता है। वह प्रकृति और ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों का भेदन करके सर्वज्ञ बनने का इच्छक रहता है। वह ससार की सभी वस्तुओं पर अपना अधिकार और नियन्त्रण (स्वामित्व) की आकाडक्षा करता है। मनुष्य सारे विषयों का भोग करना चाहता है और इस विषय में प्राय अतृप्त अथवा असन्तुष्ट ही रहता है। उससे दूसरों का ख्याल तभी आता है जब वह या तो अपने कों तृप्त अनुभव करता है या अपने लिए उन दूसरों को उपयोगी समझता है। बृहदारण्यकोपनिषद में महर्षि याज्ञवल्क्य ने बडे स्पष्ट तरीके से कहा कि अपनी अपेक्षा से ही सव प्रिय (काम्य) होते हैं आ मनरतु कामाय सर्वं प्रिय भवति। मनुष्य पूर्णत स्वाधीन (स्वतन्त्र) और नि सीम रहना चाहता है।

शारीरिक स्तर पर मनुष्य की ये वृत्तिया अथवा इच्छायें मूर्खतापूर्ण हास्यास्पद और असम्भव प्रतीत होती हैं। किन्तु जब वह स्थूल भौतिक स्तर से योगादि साधना द्वारा आध्यामिव स्तर पर पहुच जाता है तो यह सब यथार्थ और सम्भव प्रमाणित होता है। इन सव की पूर्ति के लिए उसे अपनी जीवनचर्या को विशिष्ट धार्मिक नियमों के अन्तर्गत ढालना पडता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो उसे एक विशिष्ट आचार पद्धति का पालन करना पडता है। इसके अतिरिक्त इस ससार में रहते हुए (अर्थात् सामाजिक प्राणी के रप में) वह दूसरे मनुष्यों से ही नहीं अपितु अन्य प्राणियों से भी सम्बद्ध है और उनके सम्पर्क में आता है उनके साथ विविध व्यवहार करता है। अत उसके लिए एक अनि महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि वह अपनी जीवनचर्या में क्या करे या क्या न करें जिससे उसे सुखद शान्ति की अनुभूति हो और अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों के साथ भी उसका सम्बन्ध ऐसा बना रहे कि सब उसके बने रहें और वह सबका बना रहे। वह स्वय किसी के लिए भयप्रद न हो और न दूसरों से उसे भी किसी प्रकार का भय न हो यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य। वह सबकी सहायता करे और सब उसकी सहायता करें। वह अपने भोगों को उस प्रकार से सीमित और नियन्त्रित करे जिससे अन्यों को भी उस प्रकार की क्रियायों में बाधा न पहुचे। उसे अपनी जीवनचर्या को विशेषत कुछ ऐसे नियमों से नियन्त्रित करना पडेगा (जो उसे सहज स्वीकार्य हों और ऐसा करने में उसे वे बन्धन या विवशता न प्रतीत हों) जिसके अनुसार से वह प्राणियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर सके और उन्हें इससे कष्ट बाधा या पीडा न तथा अपने इस प्रकार के व्यवहार से दूसरों को सुखी करे अनुप्राणित करे दूसरे इससे प्रेरणा लें और स्वय भी ेय ओर प्रेम के मार्ग में सहज रूप

श्रीमद्भगवद्गीता १२ १५

से आगे बढे। ऐसे ही नियमों को भारतीय मनीषियों आचार्यो ने आचार की सज्ञा प्रदान की है। आगे हम इन्हीं आचारों अथवा आचार पद्रति की वैज्ञानिकता का विमर्श करेंगे।

चूकि मानव जीवन की आवश्यकतायें और मूल्य सापेक्ष हैं अत आचार शास्त्र का सम्बन्ध अन्य शास्त्रों से हैं। भौतिक और रसायन शास्त्र का सम्बन्ध मूलत स्थूल जगत से है। इनके द्वारा मनुष्य अपनी भौतिक शक्तियों का नियन्त्रण करता है। इनके आधार पर भौतिक घटनाओं की व्याख्या तो की जा सकती है किन्तु मानव व्यवहार की व्याख्या नहीं की जा सकती। मनुष्य की बहुत सी चेष्टायें उसके शरीर की आन्तरिक रासायनिक क्रियाओं से प्रभावित होती है शरीर के अन्दर की ग्रन्थियों के विशेष प्रकार के विकार से मनुष्य के स्वभाव में काम क्रोध भय आदि उत्पन्न होते और बढते हैं। मनुष्य का आचरण शारीरिक स्वास्थ्य और आरोग्य से अत्यधिक प्रभावित होता है। पुरुषार्थ चतुष्टय सम्बन्धी चेष्टाओं और सफलताओं का आधार तो आरोग्य ही कहा गया है धर्मार्थ काममोक्षाणामारोग्य मूलकारणम्। अत हम कह सकते हैं कि आचार का आयुर्वेद से घनिष्ट सम्बन्ध है।

भौतिक और रसायन विज्ञान की अपेक्षा आचरण शास्त्र का जीवविज्ञान (प्राणिशास्त्र) सें अधिक निकटता है। यह विज्ञान प्राणियों के जीवन और शारीरिक क्रियाकलाप का विवेचन करते है। मनुष्य एक चेतन और सेन्द्रिय प्राणी है। उसकी सहज चेतना और गतिविधि उसके व्यवहार की परिस्थिति का निर्माण करती है। मानव आचार का बहुत बडा क्षेत्र भोजन और यौन सम्बन्ध जीव विज्ञान से ही सम्बद्ध है और यही उसका नियामक है ।

आचरणशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। मानव आचार के अनेक पक्षों की व्याख्या मनोविज्ञान के द्वारा सम्भव है। आचरणगत तथ्यों और उसके भावुक प्रभावों के ज्ञान के लिए मनोविज्ञान से बढकर अन्य कोई साधन नहीं है। चूकि मनुष्य की समस्त क्रियायें मनोयोंग पूर्वक ही होती हैं मन के लगे बिना कोई क्रिया उचित रीति से नहीं होती अत मनुष्य का मन उसके सम्पूर्ण आचरण को प्रभावित करता है। यदि मन स्थिति ठीक है तो क्रिया भी ठीक होगी। निर्दुष्ट मन ही मनुष्य कों सदाचार की ओर ले जाता है। इसके विपरीत विकृत मन के द्वारा आचार सम्बन्धी विसडगतिया उत्पन्न होती हैं इससे मानसिक असन्तुलन तो पैदा होता ही है आचार दोष से सामाजिक सम्बन्ध भी बिगडते हैं। अत मनोविज्ञान आचार को दूर तक प्रभावित करता है।

मनुष्य के परिवेश (पर्यावरण भूतग्राम देश काल) का भी उसके आचरण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। अत पारिस्थितिकी शास्त्र (Ecology) जो विज्ञान की ही एक आधुनिक शाखा है का गहरा सम्बन्ध मानव आचार से है। मनुष्य का आचरण उसके

---

१ डॉ राजबली पाण्डेय भारतीय नीति का विकास पृ ३

२ वहीं पृ ३

परिवेश और परिस्थितियों के अनुरुप ही होता है। मरुस्थलीय मनुष्य के आचार हिमस्थलीय मनुष्यों के आचार जैसे नहीं हो सकते। मैदानी क्षेत्र के रहने वालों के आचार पहाडी क्षेत्र के निवासियों से भिन्न होते हैं। देश भेद और काल भेद से एक ही मनुष्य के खानपान रहन सहन और वृत्ति व्यवहार में भिन्नता का आना स्वाभाविक है और आ ही जाती है। इसीलिए परिवेश के कारण उनकी जीवन चर्या और आचरण पद्धति नितान्त प्रभावित होती है। इस प्रकार पारिस्थितिकी शास्त्र से आचार शास्त्र का सम्बन्ध स्वय सिद्ध है।

मनुष्य की दिनचर्या कालसापेक्ष्य है अत उसके आचार भी काल के अनुसार ही निर्धारित हैं। इस ससार के मनुष्य अपनी काल गणना के लिए आकाशीय ग्रहपिण्डों विशेषत प्रत्यक्ष रुप से दृष्टिगोचर होने वाले और मानवमात्र के जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले सूर्य और चन्द्र की गतियों पर निर्भर हैं। सूर्य दृष्टिगोचर होने की कालावधि दिन और न दृष्टिगोचर होने की कालावधि (अथात् शेष अवधि) रात्रि कही जाती हे। रात्रि में चन्द्रमा की दृष्टिगोचरता का प्रकार मास को दो भागों शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष में बाटता है। इस प्रकार काल विभाजन के आधार पर मनुष्य अपने कार्यव्यवहार का नियमित करता है। वह दिन में प्राय जागता है और रात्रि में प्राय शयन करता है। जागरण की दशा में वह अपने जीवन निर्वाह के लिए विविध प्रकार के क्रिया कलाप करता है। उसके ये क्रियाकलाप व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकार के होते हैं। ऐसा करने में उसकी ऊर्जा का जो व्यय होता है उसको पुन प्राप्त करने के लिए भोजन पान ग्रहण करने के साथ ही शारीरिक मानसिक श्रम को (थकान को) दूर करने के लिए विश्राम और शयन करता है। मनुष्य की जीवन चर्या में जितना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण उसका जागरण है उससे कम आवश्यक और महत्वपूर्ण निद्रा नहीं है। वस्तुत किसी भी प्राणी के लिए जागरण और निद्रा समान रुप से आवश्यक और महत्त्पूर्ण हैं। दिनभर का थका प्राणी रात में अच्छी नींद में सोकर प्रात तरोताजा उठता है।

भारतीय जीवन पद्धति में मनुष्य की दिनचर्या ब्राह्ममुहूर्त से प्रारम्भ होती है। ब्राह्ममुहूर्त सूर्योदय का प्राक्काल कहा गया है। मनुष्य को ब्राह्ममुर्हूत में निद्रा से जाग कर शय्या का त्याग करना चाहिए और धर्मार्थ का चिन्तन करना चाहिए । कार्यारम्भ से पूर्व

---

१ वहीं पृ १६

२ १ इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्। तद्विपरीत सुषुप्ति। पञ्चदशी १ ३ (रामकृष्ण व्याख्या) ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् मनु

३ रात्रे पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयक। स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहित स प्रबोधने।।
रात्रे पश्चिम यामेतु घटिकाषट्कमेवहि। वेदाभ्यास द्विज कुर्यात्सा वेला पाठदायिनी।।
ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी। ता करोति द्विजो मोहात्पादकृच्छ्रेण शुद्धयति।।
कर्मठगुरु पृ १

४ तदैव

कायविधि की परिकल्पना ओर उसकी एक सक्षिप्त रपरेखा बनाना यह एक वेज्ञानिक कार्यपद्धति है। इसी प्रकार ब्राह्ममुहूर्त में धर्मार्थ का चिन्तन करना दिन भर किए जाने वाले कार्य का शुभारम्भ होने के साथ ही साथ दिनभर की कार्यसूची का विचार करना भी है।

प्रात काल सोकर उठना दिनचर्या का आरम्भ करना है। शयनोत्थान कैसे करना चाहिए? इसकी भी एक आचार विधि है। आचारशील मनुष्य को ब्राह्ममुहूर्त में उठकर अपनी मनोरथसिद्धि का चिन्तन करके जिस नासिका रन्ध्र से वायु चल रही हो उसी ओर के हाथ से मस्तक और मुख को रगड कर अपनी हथेली को देखना चाहिए। ऐसा मन्त्रोच्चारण पूर्वक करना चाहिए। तत्पश्चात् ऊपर के दातों से (जबडे से) नीचे के दातों को (जबडे को) तीन बार दबाना चाहिए। इसके बाद मुह में पानी तीन बार कुल्ली करे नेत्रों को जल से धोये आचमन करे फिर ताबे के लोटे मे ढक कर रखे गए बासी पानी को वस्त्र छानकर पीए और तब इष्टदेवता का स्मरण कीर्तन करे। इस प्रकार प्रात कालिक प्राथमिक शौच तथा मडगल आचार का विधान किया गया है।

वस्तुत रात्रिशयन में गहरी निद्रा आने पर इन्द्रियों का अपने अपने विषयों से उपरम हो जाता है। यह अनुभवसिद्ध है कि यदि किसी मनुष्य को गहरी नींद से सहसा जगा दिया जाता है तो इन्द्रिया तत्काल अपने विषयों में सक्रिय नहीं हो पातीं और व्यक्ति कुछ देर तक किकर्तव्यविमूढता की स्थिति में रहता है। रात्रि में सुखद निद्रा के पश्चात् स्वत जागने या कोमल रीति से जगाये जाने पर (मन्द स्वर म पुकार कर सिर अथवा पैरों को धीरे धीरे सहला कर अथवा मधुर सगीत द्वारा जगाया जाना निहित है। मुर्गे की बाग अथवा पक्षियों के कलरव से प्रकृति भी मनुष्य को जगाती है। प्राचीन काल में राजा महाराजा को जगाने के लिए शहनाई आदि मधुर वाद्यों का प्रयोग किये जाते थे।) हथेली से मस्तक और मुख को स्पर्श करना या रगडना वस्तुत बुद्धि (मस्तिष्क) को उष्णस्पर्श के द्वारा सक्रिय करना है चेतना में स्फूर्ति लाना है। सभी इन्द्रिया बुद्धि (मस्तिष्क) के ही आश्रय से अपना कार्य करती हैं। अत प्रात काल सम्यग् रप से उन्हें स्व स्व विषय में प्रवृत्त करने के लिए मस्तिष्क को स्फूर्त करना उदबुद्ध करना आवश्यक है। हथेली से आहिस्ता आहिस्ता मस्तक और मुख के रगडने का यही उद्देश्य है। मस्तक और मुख को रगडने के पश्चात् करतल दर्शन का विधान है। करतल दर्शन का उद्देश्य अपनी दृष्टि का शोधन और चित्त की एकाग्रता है।

ऊपर के जबडे से नीचे को तीन बार दबाना यह दातों का व्यायाम है। वस्तुत जागरण की दशा में मनुष्य बोलता है और सयम समय पर कुछ न कुछ खाता पीता रहता

---

१ कर्मठ गुरु पृ १

२ दन्त पतनादिरोगान्नाशयति दन्तमूलानि पुष्णाति चेत्येष सिद्ध सडेत। कर्मठगुरु पृ १

३ ब्राह्मे काले समुत्थाय गणेशादीन् स्मरेत्तत। प्रात स्तोत्र मडलानि पठित्वा शौचमाचरेत्।। वही पृ २

है। इससे दातों का व्यायाम होता रहता है। किन्तु रात्रि शयन की दशा में मनुष्य के ये व्यायाम उपरमित होते हैं। अत प्रात जागरण के साथ दातो की इस क्रिया के द्वारा उनका व्यायाम कराया जाता है। तीन बार यह उपलक्षक हे। इसके द्वारा यह सकेत है कि जबडों को परस्पर दबाने का अभ्यास कम से कम तीन बार अवश्य करना चाहिए। तीन से अधिक बार करने में कोई निषेध नहीं है। जबडों को परस्पर दबाने के पीछे उद्देश्य है उनकी पुष्टि ओर आरोग्य दन्तपतनादिरोगान्नाशयति दन्तमूलानि पुष्णाति चेति।

मुह में पानी भरकर तीन बार कल्ली करने से रात्रिशयन के दौरान बन्द मुख में आई हुई मैल या गन्दगी साफ हो जाती है। इसी प्रकार पानी से नेत्र धोने तथा आखों मं हल्का छींटा मारने से आखों की गन्दगी (कीचड आदि) साफ हो जाती है तथा नेत्र ज्योति बढती है। ताबे के पात्र में ढक कर रखे हुए जल में ताम्रधातु का कुछ गुण आता है। जो उदरविकार का शमन करने में उपकारक है। आयुर्वेद के अनुसार तथा लोकनीति सगत करे जानि के पानी पीये छानि के) जल को सदैव स्वच्छ ओर महीन वस्त्र से छान कर पीना चाहिए वस्त्रपूत जल पिबेत् । आयुर्वेद का मान्य सिद्धान्त है। (और अनुभूत प्रयोग भी है) कि प्रात काल बासी मुह यथोक्त रीति से रखा हुआ जल भरपेट पीने से उदर विकार का शमन होता हे। मलविसर्जन सुगम होता है नेत्र ज्योति बढती है स्नायुतन्त्र स्फूर्त होता है और मस्तिष्क को शीतलता तथा शान्ति प्राप्त होती है। गण्डूष (जल से कुल्ली) करने की विधि और उसका महत्त्व इस प्रकार बताया गया है।

उत्थाय पश्चिमे रात्रे तत आचम्य चोदकम्।
मुखशुद्ध्यर्थमादौ तु गण्डूषत्रितय चरेत्।।
आपूर्यशीतल जलेन मुख प्रसिञ्चेत् पानीयबिन्दु विसरैर्नयने सदैव।
त्रिसप्तधारमखिलाक्षिरुजापहारी कर्मैतदुक्तमधियोगि गुरुप्रसिद्धम्।।

इसके बाद प्रात काल के शौचार में मलमूत्र विसर्जन (त्याग) प्रथम है। आचार शास्त्र में मलमूत्रोंत्सर्गविधि का निरुपण करते हुए कहा गया है सामान्यत मनुष्य को चाहिए कि वह गाव बस्ती से दूर एकान्तस्थान में जहा कीडे मकोडे न हों यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली घासें न हों जल से भरा बर्तन और शुद्ध मिट्टी लेकर जाय यज्ञोपवीतसूत्र (जनेऊ) को दाहिने कान पर चढा कर मौन होकर सिर को वस्त्र से ढककर मुख बन्द कर दिन और सन्ध्या के समय उत्तर मुख तथा रात्रि में दक्षिण मुख होकर शरीर के भार को बाये पैर पर डालता हुआ बैठकर मलमूत्र का त्याग करें। प्राणभय अथवा अन्य किसी बाधा के कारण यदि घर के बाहर दूर जाने की स्थिति में न हो तो घर के शौचालय में यथासुख

---

१ कर्मठ गुरु पृ २
२ कर्मठ गुरु पृ २

बैठकर मलमूत्र का त्याग करे किन्तु यह क्रिया सहजतया करनी चाहिये बहुत जोर या दबाव देकर मलत्याग नही करा चाहिए। तत्पश्चात् मिट्टी और ठण्डे पानी से गुदा को धोकर हाथ पैर को अच्छी तरह जल से धोकर अपनी बाईं ओर आठ कुल्लिया करके कान पर से जनेऊ उतार कर शुद्ध सरसों के तेल से नस्य लेकर शरीर में मर्दन करके बलार्द्ध प्रमाण व्यायाम करना चाहिए।

मलमूत्र त्यागने के सयम जनेऊ को कहा धारण करना चाहिए इस विषय में आचार्यो ने विधान किया है

मूत्रे तु दक्षिणे कर्णे पुरीषे वामकर्णके।
उपवीत सदाधार्यं मैथुने तूपवीतिवत्।।
मलमूत्र त्यजेद्विप्रो विस्मृत्यैकोपवीतधृक्।
उपवीत तदुत्सृज्य धार्यमन्यन्नव तदा।।[२]

गुदाप्रक्षालन शीतल जल से ही करना चाहिए। उष्ण जल से करने पर बवासीर (अर्श) रोग होने का खतरा रहता है उष्णाम्बुना गुदाप्रक्षालनम् अर्शाद्यामयकरम्।

मिट्टी और पानी से अगों के शुद्धीकरण के सम्बन्ध में बताते हैं कि किस अग में कितनी बार मिट्टी लगाकर मलनी चाहिए

पञ्चापाने मृदश्चैकालिङ्गे वामकरे दश।
करयोरुभयो सप्त गृहीत्वाऽद्भिश्च शोधयेत्।।
एका द्वे अथवा तिस्त्रो मृद पादद्वये पृथक्।
पादावाजानुत शोध्यौ करौत्वामणिबन्धनात्।।
मूत्रोत्सर्गमात्रे तु, एका लिङ्गे करे तिस्र उभयोर्मृत्तिकाद्वयम्।
एकैकया मृदा पादौ प्रक्षाल्य तु शुचिर्भवेत्।।

शुद्ध मिट्टी और पानी से उन उन अडगो को कई बार मलकर धोने का उद्देश्य है खूब अच्छी तरह स्वच्छ करना और दुर्गन्ध से दूर करना। पैरों को घुटनों तक तथा हाथों को कलाई तक धोने का निर्देश दिया गया है। इतनी सफाई करने के बाद कुल्लिया करे। बाईं ओर कुल्ली करने के लिए कहने का कारण है कि आश्वलायन गृहसूत्र में कहा गया है कि मनुष्य के सम्मुख समस्त देवता दक्षिण ओर पितर और पीछे की ओर और ऋषिगण

---

१ मनुस्मृति ४ ५ ५२ कर्मठगुरु पृ ३
२ कर्मठ गुरु पृ
३ वही पृ ३
४ वही पृ ३
५ वही पृ ३

रहते हैं। अत कल्ली बाईं ओर करनी चाहिए। तात्पर्य इतना ही है कि कुल्ली के छींटे न तो अपने शरीर पर पडें और न ही दूसरों के। मुख को शुद्ध करने के लिए कुल्लियों की सख्या इस प्रकार कही गयी है।

मूत्रोत्सर्गे तु चतुर पुरीषे त्वष्टसख्यकान्।
कुर्याद् द्वादश गण्डूषान् भोजने दन्तधावने।।

अर्थात् पेशाब करने के बाद चार मलत्याग के बाद आठ और भोजन तथा दातून के वाद बारह कल्लिया करनी चाहिए।

प्रात काल शुद्ध सरसों के तेल से नस्य लेना शरीर की मालिश करना और फिर नियमपूर्वक व्यायाम करना ये शारीरिक स्वास्थ्य के उददेश्य से कहे गए हैं। सरसों का तेल कृमि नाशक होता है तथा मासपेशियों को पुष्ट करने वाला होता है। नस्य की क्रिया में नासिकर ध्रों से बारी बारा तेल को वायु क द्वारा खींचकर ऊपर ले जाते हैं जहा से वह अन्त छिद्र सधियों के द्वारा शरीर के अ य ऊर्ध्व भागों में पहुचता है। भावप्रकाशन के अनुसार नस्य का लाभ इस प्रकार है

कटुतैलादि नस्यार्थे नित्याभ्यासेन योजयेत्।
सुगन्धवदना स्निग्धनिस्वना विमलेन्द्रिया।
निर्वलीपल्लितव्यङ्गा भवेयुर्नस्यशीलिन।

अर्थात् नस्य के लिए अभ्यासपूर्वक नित्य ही कडवे तेल (सरसों तेल) का प्रयोग करना चाहिए। इससे नस्य करने से मुह की दुर्गन्ध दूर होती है वाणी मधुर होती है इन्द्रियों में विकार नहीं होता और सिर के बाल कमजोर नहीं होते और न ही जल्दी पकते हैं। इस प्रकार नस्य के औषधीय गुण का प्रभाव शरीर पर अच्छा पडता है।

मलोत्सर्जन के समय शरीर का भार बायें पैर पर डालकर बैठने की सलाह दी गयी है। वस्तुत शरीर की उदरगुहा में पाचन तत्र के अवयव (आमाशय बडी आत छोटी आत) बायीं ओर ही अवस्थित है। इसलिए बायें पैर पर शरीर का भार डालने से इन अवयवों पर स्वाभाविक रूप से दबाव पडता है। इससे मलत्याग में सौकर्य होता है।

शरीर में सरसों के तेल की मालिश नियमपूर्वक प्रतिदिन स्नान से पूर्व करनी चाहिए। इससे शरीर के सभी अडग पुष्ट होते हैं। सरसों के तेल का प्रयोग शिर कान और पैरों में (तलवे समेत) विशेष रूप से करना चाहिए

अभ्यडग कारयेन्नित्य सर्वेष्वङ्गेषु पुष्टिदम्।
शिर श्रवणपादेषु त विशेषेण शीलयेत्।।

---

१ वही पृ ४
२ वही पृ ४
३ वही पृ ५

अब बारी आती है व्यायाम की। सामान्यत मनुष्य के लिए बलार्द्धप्रमाण व्यायाम करने का निर्देश दिया गया है। बलार्द्ध को परिभाषित करते हुए कहा गया है

हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्र प्रपद्यते।
व्यायाम कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्द्धस्य लक्षणम्।। (सुश्रुत सहिता)।
कि वा ललाटे नासाया गात्रसधिषु कक्षयों ।
यदा सञ्जायते स्वेदो बालर्द्धन्तु तदादिशेत्।। (भावप्रकाशन)।

सुश्रुत के अनुसार व्यायाम करते हुए मनुष्य के हृदयस्थान की वायु जब मुख में आ जाय तो इसे बलार्द्ध कहते हैं। भावप्रकाशन के अनुसार (व्यायाम करते हुए) जब मस्तक नाक काख और शरीर के जोडों में पसीना हो जाय तो उस दशा को बलार्द्ध कहते हैं।

आयुर्वेदानुसार शरीर के स्वास्थ्य के लिए व्यायाम बहुत उपयोगी है। व्यायाम नित्य ही करना चाहिए

न च व्यायामिन मर्त्यं मर्दयन्त्यरयो भयात्।
न चैन सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति।।
व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिना स्निग्धभोजिनाम्।
स च शीते बसन्ते च तेषां पथ्यतम स्मृत ।।
सर्वेष्वृतिष्वहरह पुभिरात्महितैषिभि ।
बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामें हन्त्यतोऽन्यथा।।
वयोबलशरीराणि देशकालाशनानि च।
समीक्ष्य कुर्याद् व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात्।।
रक्तपित्ती कृश शोषी श्वासकासक्षयातुर ।
भुक्तवान् स्त्रीषु च क्षीणों भ्रमार्त्तश्च विवर्जयेत्।। (सुश्रुत)
व्यायामदृढगात्रस्त्र व्याधिर्नास्ति कदाचन।
विरुद्धं वा विदग्ध वा मुक्त शीघ्र विपच्यते।। (भावप्रकाशन)

उपर्युक्त का साराश यह है कि बलार्द्धप्रमाण ही व्यायाम करना चाहिए। इससे अधिक व्यायाम करने से लाभ के स्थान पर शरीर को हानि ही होती है। दुर्बल और रोगी मनुष्य को व्यायाम नहीं करना चाहिए। व्यायाम करने से शरीर पुष्ट होता है। हर प्रकार का भोजन

१ वही पृ
२ वही पृ

अच्छी तरह से पच जाता है। व्यायामशील मनुष्य पर बुढापे का आक्रमण शीघ्र नहीं होता। अपने शरीर की स्थिति देश और काल को दृष्टि में रखकर व्यायाम की मात्रा और प्रकार का नियमन करना चाहिए।

इस प्रकार सतुलित आहार विहार और नियमित व्यायाम के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखना चाहिए। यह आचार सर्वथा वैज्ञानिक है। जब शरीर स्वस्थ रहेगा तभी हम धर्माचार ी कर सकेंगे। शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ बुद्धि का विकल्प भी होता है। A sound mind in a sound body

मुख शुद्धि की प्रक्रिया में दातों को साफ करना एक नित्यविधि है। आधुनिक काल में तो इसके लिए (विशेषत नगरों में) तरह तरह के टथपेस्ट और पाउडर तथा माउथ वाश जैसे साधन बाजार में उपलब्ध हैं। किन्तु प्राचीन काल में वनस्पतियों से प्राप्त दातून (उनकी टहनियों के पतले अश) की कूची बनाकर उसे दातों और मसूढों पर रगडा जाता था। गावों में आज भी यही साधन और विधि बहुधा प्रचलित है। दन्तधावन मौन होकर करना चाहिए। दन्तधावन के अतिरिक्त अन्य कई अवसरों पर मौनाचार का निर्देश महर्षि अत्रि ने दिया है पुरीषे मैथुने होमे प्रस्रावे दन्तधावने। स्नानभोजन जाप्येषु सदा मौन सभाचरेत्।। आह्निक कर्म में नित्य प्रात काल दन्तधावन करने का निर्देश है

सतत प्रातरुत्थाय दन्तधावनपूर्वकम्।
आचरेदुषसि स्नान तर्पयेत्पितृदेवताम्।।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा गया है

मुखे पर्युषिते नित्य भवत्यप्रयतो नर ।
दन्तधावनमुद्दिष्ट जिह्वोल्लेखनिका तथा।।
अथो मुखविशुद्ध्यर्थं गृह्णीयाद्दन्तधावनम्।
आचान्तोऽप्यशुचिर्यस्मादकृत्वा दन्तधावनम्।।

मानव शरीर की मुख गुहा में स्थित दात मनुष्य (अथवा अनेक प्राणियों) के भोजन ग्रहण करने तथा ग्रहण किए गऐ भोजन को पचने योग्य बनाने में अतीव सहायक हैं। दात जितने ही मजबूत होते हैं भोजन (आहार ग्रास) को कूच कर उतनी अच्छी लुगदी बनाते हैं। यदि दात कमजोर या विकृत हुए तो यह क्रिया सुचारुतया नहीं हो पानी। इसके अतिरिक्त शुभ्र और स्वच्छ सुन्दर दन्तावली मनुष्य के सौन्दर्य और आकर्षक व्यक्तित्व का

---

१ वही पृ ५
२ वही पृ ५
३ वही पृ ५

कारण भी बनती है। इन सब दृष्टियों से दात ओर गरारो की मजबूती और स्वास्थ्य सभी को काम्य है। भोजन करने के बाद और सोने से पूर्व (रात मे) तथा सोने के बाद (सुबह) दातों की नियमित सफाई और मसूढों की मालिश की जाती है। इसके लिए प्रयुक्त होने वाली दातून (दातौन या काष्ठ) का भी विवरण आचार ग्रन्थो में निर्दिष्ट है। वह विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार इस प्रकार है

(क) सर्वे कण्टकिन पुण्या क्षीरिणश्च यशस्विन ।

(ख) निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठ कषाये खदिरस्तथा।
मधुको मधुरे श्रेष्ठ करञ्ज कटुके तथा।।

(ग) तत्रादौ दन्तपवन द्वादशाङगुलमायतम्।
कनिष्ठिका परीणाहमृज्वग्रन्थिकमव्रजम्।।

(घ) अन्यच्च कनीन्यग्रसम स्थौल्ये सकूच द्वादशाङगुलम्।
प्रातर्भूत्वा च यतवाग् भक्षयेद् दन्त धावनम्।।

(ङ) प्रक्षाल्य भक्षयेत्काष्ठ प्रक्षाल्यैव च सन्त्यजेत्।।

(च) वकुलत्वग्भव चूर्णं घर्षयेद् दन्तपक्तिषु।
वज्रादपि दृढीभूता दन्ता स्युश्चपला ध्रुवम्।। इत्यादि।

उपर्युक्त उद्धरणों का एकीकृत अभिप्राय यह है कि काटदार और दूध स्रावित करने वाले वृक्षों से दातून बनानी चाहिए। अपनी रुचि के अनुसार तीते कसैले मीठे और कडवे वाली वनस्पतियों यथा नींब बबूल खैर मौलश्री मुलेठी या महुआ और करञ्ज की बारह अगुल लम्बाई तथा कनिष्ठिका अगुली की मोटाई वाली दातून ले जिसे दातों से चबाकर अच्छी कूच तैयार करे। उस कूच से एक एक करके नीचे ऊपर के दाँतों की बाहर भीतर से अच्छी तरह सफाई करे। दातून को पानी से अच्छी तरह धोकर प्रयोग करे और बचे हुए हिस्से को धोकर फेंके। दातून गाँठ रहित और सीधी होनी चाहिए तथा वह कीटादि से विकृत न हो। दातून करने के बाद उसका छिलका उतार कर उसे चीर कर दो फाक करे ओर उसी से जीभ की मैल छील कर निकाले तथा दातून को धोकर फेंक दे। यदि चूर्ण से दन्तमञ्जन करना हो तो वकुल अर्थात् मौलश्री की छाल को सुखाकर उसका चूर्ण बनाये। इस चूर्ण के मञ्जन के प्रयोग से हिलते हुए दात भी वज्र की तरह दृढ स्थिर हो जाते हैं।

उपर्युक्त वर्णित वनस्पतियों की दातून बनाने का कारण उनमें दातों को हानि पहुचाने वाले कृमियों को मारने का औषधीय गुण होना है। उपरिवर्णित के अतिरिक्त अन्य अनेक

---

१ वहीं पृ ५

प्रकार की दातूनों और चूर्णों का प्रयोग उसी प्रकार के औषधीय गुण के कारण दन्तधावन के लिए किया जाता है।

शोचाचारों में स्नान का अतिशय महत्त्व है। भारतीय परिवेश में तो नित्य स्नान की अनिवार्यता स्वयसिद्ध है। जब पशु भी येन प्रकरेण स्वय अपने शरीर को साफ सुथरा रखने का प्रयत्न करते हैं तो मनुष्य की बात ही क्या ? स्नान न करने से शरीर अपवित्र तो रहता ही है तरह तरह के चर्म रोगों के होने का खतरा रहता है और शरीर से पसीने या मैल की दुर्गन्ध भी आने लगती है। इसीलिए भारतीय जीवन पद्धति में स्नान उसका एक महत्त्व पूर्णअ डग है। शारीरिक और मानसिक दोनों तरह के स्वास्थ्य के लिए स्नान अत्यन्त आवश्यक है। सामान्य तथा दिन में कम से कम एक बार तो अवश्य नहाना चाहिए। गर्मी के दिनों में लोग कई बार नहाते हैं। धार्मिक कृत्यों अथवा अन्य अनुष्ठान करने पर भी निर्दिष्ट विधि से कई बार स्नान करना पडता है। सङ्कल्पूर्वक सचैल स्नान उत्तम माना गया है। घर के स्नानागार कूप वापी जलाशय और नदियों में स्नान किया जाता है। शीतल जल गुनगुने जल या सूर्य की धूप में रखे (धर्मतप्त) जल से नहाना यथारुचि यथाकाल गुणकारी होता है। औषधीय द्रव्यों अथवा आवले से युक्त जल से नहाना स्वास्थ्यवर्धक होता है। भारतीय आचार पद्धति में स्नान का महत्त्व इसी बात से प्रमाणित होता है। कि नवजात शिशु को मडगलाचार पूर्वक स्नान कराया जाता है। इसी प्रकार यज्ञान्त अवभृथ स्नान (सवन) दीक्षान्त स्नान (स्नातकत्व) और राज्याभिषेक आदि विशिष्ट स्नान हैं। चूकि भारतीय आचार पद्धति में प्रत्येक विशिष्ट कर्म सङ्कल्पपूर्वक होता है। अत स्नान विधि भी सङ्कल्पपूर्वक सम्पन्न की जाती है। सडकल्प न करने पर पुण्यकर्म निष्फल हो जाते है। नित्य नैमित्तिक और काम्य ये तीनों ही स्नान सडकल्पूर्वक करना चाहिए। तेल की मालिश स्नान से पूर्व करनी चाहिए न कि बाद में स्निग्ध सुगन्धित द्रव्यों से बने उबटन से शरीर को अच्छी तरह मल कर बाद में स्नान करना उत्तम माना गया है। ज्वराक्रान्त रोगियों को स्नान नहीं करना चाहिए। भोजन करके तत्काल स्नान नहीं करना चाहिए। रात अधिक हो जाने पर अथवा अर्द्धरात्रि में स्नान नहीं करना चाहिए पूरे कपडे पहन कर अज्ञात जलाशय में स्नान नहीं करना चाहिए। खूब परिश्रम करने या दौड कर आने के पश्चात् छाया में पर्याप्त समय विश्राम करके तब स्नान करना चाहिए।

---

१ वहीं पृ ५

२ वहीं पृ ५

३ वहीं पृ ५

४ नित्य नैमित्तिक काम्य त्रिविध स्नानमुच्यते कर्मठगुरु पृ

५ न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि। न वासोभि सहाजस्र नाविज्ञाते जलाशये।। वहीं पृ ५

स्नान करने में अयोग्य या असमर्थ व्यक्ति सिर पर जल न डालकर कटि स्नान कर सकते हैं अथवा स्वच्छ वस्त्र भिगोकर उससे देह का सम्प्रोक्षण कर सकते हैं।

घास फूस पत्तों से भरे गन्दे विषैले जल में जो स्नान करता है वह शीघ्र ही रोगों से पीडित हो जाता है। वर्षा के नये जल में भी स्नान नहीं करना चाहिए। वर्षा में नदियों का जल मिट्टी से भरा रहता है। उन नदियो में वर्षा ऋतु में स्नान नहीं करना चाहिए।

मनुष्य किसी भी स्थिति में रहे (घर में बेठा सोया हो बाहर चलता हो काम करता हो) सामान्यत उसके शरीर पर वायुमण्डल में स्थित धूलिकण गिरते रहते हैं। इससे उसका शरीर और वस्त्र पर निरन्तर मैल जमती रहती हैं। खेत खलिहानों में काम करने वाले के शरीर वस्त्र पर तो और अधिक गन्दगी जमती है। शरीर से इस गन्दगी को दूर करने का एकमात्र उपाय है स्नान। जल एक महान् विलायक हे। स्वच्छ जल से अच्छी तरह रगड कर स्नान कर लेने से शरीर की मैल दूर हो जाती है। और शरीर स्वच्छ हो जाता है। शरीर को हाथों से रगडकर स्नान करने और उस के बाद नरम तौलिए या वस्त्र से शरीर को हल्के से रगड कर पोंछने से रोमच्छिद्र खुल जाते हैं जिससे शरीर क अन्दर ताजी हवा का प्रवेश सुगम हो जाता है तथा शरीर के भीतर की गन्दगी पसीने के माध्यम से आसानी से बाहर आती है। इसलिए शरीर को स्वच्छ रखने के लिए स्नान अति आवश्यक है। स्नान न करने से शरीर पर जमने वाली मैल में रोगों क कीटाणु उत्पन्न होकर तरह तरह के त्वचा सम्बन्धी रोग उत्पन्न करते हैं। अत स्वस्थ शरीर के लिए स्नान आवश्यक है। स्नान करने से थकान दूर होती है। और शरीर में स्फूर्ति आती है। स्नान करने से शरीर की बाह्य स्वच्छता तो होती ही है चित्त भी प्रसन्न होता है। और आत्मिक शान्ति मिलती है।

जलाशयों और नदियों में जो लोग तैर कर स्नान करते हैं। उनका पूरा व्यायाम हो जाता है। तीर्थों और पवित्र नदियों में स्नान के विशिष्ट आचार निर्दिष्ट हैं। पवित्र नदियों और सरोवरों में शरीर को मल कर स्नान नहीं करना चाहिए। मुसलवत् स्नान करना चाहिए। उसमें दातून और कुल्ली नहीं करना चाहिए। वस्त्र नहीं निचोडना चाहिए। इस प्रकार उनके जल को प्रदूषित न होने देने के लिए वहा विशेष आचार पालन करने का निर्देश शास्त्रों में दिया है।

औषधि अथवा आवलें से युक्त जल से स्नान करने पर रोग दूर होते हैं और शिर के बाल नहीं पकते हैं। गुनगुने पानी से नहाने पर शरीर खूब स्वच्छ हो जाता है। और

---

१ असामर्थ्याच्छरीरस्य देशकालाद्यपेक्षया। मन्त्रस्नानादिका सप्त केचिदिच्छन्ति सूरय ।।
आशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम्। आर्द्रेण वाससा वापि मार्जिन दैहिक विदु ।।
वही पृ

२ तृणपर्णोत्करयुत कलुष विषसयुतम्। योऽवगाहेत् वर्षासु पिवेद्वापि नव जलम्।।
स बाह्याभ्यन्तरान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेव हि।। वहीं पृ ६

चर्मरोग नहीं होते। इस प्रकार स्नान मनुष्य के लिए हर प्रकार से लाभदायक है।

स्नान के पश्चात् नित्य सन्ध्या और प्राणायाम करना चाहिए। शरीर की वाह्य शुद्धि के लिए जैसे स्नान एक आवश्यक आचार है उसी तरह शरीर की अन्त शुद्धि के लिए नित्य सन्ध्या प्राणायाम भी एक आवश्यक आचार (धर्म) । जिस क्रिया के द्वारा परब्रह्म का सम्यग् ध्यान किया जाय उसे सन्ध्या कहते हैं। सूर्य और नक्षत्रों से रहित दिन और रात के सन्धिकाल को सन्ध्या कहा जाता है

अहोरात्रस्य या सन्धि सूर्यनक्षत्रवर्जिता।
स तु सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभि ।।

तैत्तिरीय ब्राह्मण का निर्देश है कि प्रतिदिन सन्ध्योपासना करनी चाहिए अहरह सन्ध्यामुपासीत। प्रात और साय काल की दोनों सन्ध्याओं के उत्तम मध्यम अधम तीन भेद बताये गए है। यथा समय की गयी सन्ध्या अभीष्ट फल देने वाली होती है। और असमय में की गयी सन्ध्या निष्फल होती है। धर्मग्रन्थों में सन्ध्याविधि का पर्याप्त निरूपण किया गया है। कुछ आचार्य त्रिकाल सन्ध्या में मध्याह्न सन्ध्या को भी सम्मिलित करते हैं।

सन्ध्या के साथ ही प्राणायाम को भी नित्यकर्म कहा गया है। प्राणायाम के बिना किए गए सारे शुभकर्म निरर्थक हो जाते हैं

प्राणायामैर्विना यद्यत्कृत कर्म निरर्थकम्।
अतो यत्नेन कर्तव्य प्राणायाम शुभार्थिना।।

जैसा कि शब्द सज्ञा से ही ज्ञात होता है प्राणायाम का अर्थ है प्राणों का आयाम (विस्तार)। जीव के शरीर का यह ढाचा पाच प्रकार की वायु प्राण अपान-उदान व्यान समान पर आधारित है। इनके सन्तुलन से सभी शारीरिक क्रियायें सन्तुलित रहती है। शरीर में रक्त प्रवाह से लेकर मल निर्गमन तक की सारी क्रियायें इन्ही पाचों वायु के द्वारा नियन्त्रित होती हैं। शरीर के अन्दर इन पाच प्राणों को नियन्त्रित करने के लिए प्राणायाम एक विशेष क्रिया है। प्राणायाम करने से न केवल चित्त की एकाग्रता और शान्ति बनतीहै। अपितु

---

१ य सदामलकै स्नान करुते खलु मानव । वातापित्तकफान् जित्वा जीवेद् वर्षशत सुखी।।
य सदामलकै स्नान करोति स विनिश्चितम्। वलीपलितनिर्मुक्त जीवेद्वर्षशत नर ।। वही पृ

२ सम्यग् ध्यायन्ति सम्यग् ध्यायते वा परब्रह्म यस्या सा सन्ध्या।
सन्धीयते परब्रह्म सा सन्ध्या सद्भिरुच्यते। वहीं पृ ६

३ उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका। अधमा भास्करोपेता प्रात सन्ध्यात्रिधमता।।
उत्तमा भास्करोपेता मध्यमा लुप्तभास्करा। अधमा तारकोपेता सायसन्ध्या त्रिधा मता।। वहीं पृ ६
स्वकाले सेविता नित्य सन्ध्या कामदुघा भवेत्।
अकाले सेविता सा च सन्ध्या वन्ध्या वधूरिव।।- वही पृ ६

अनेक प्रकार की व्याधिया पैदा नहीं होतीं और पैदा हुई व्याधियों का शमन होता है। प्राणायाम का यह अनुभूत वैज्ञानिक पक्ष है। प्राणायाम के द्वारा अवयवों के दोष दूर होते हैं। और यह पापों (अनिष्टों) को नाश करने वाला भी कहा गया है

त्वक् चर्ममासरुधिरमेदोमज्जास्थिभि कृता।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्।।
यथा पर्वतधातूना दोषान् दहति पावक।
एवमन्तर्गत पाप प्राणायामेन दह्यते।।

प्रत्येक प्राणी जीवित रहने के लिए आहार ग्रहण करता है। आहार में जो मिल जाय जहा मिल जाय जैसे मिल जाय जिससे मिल जाय उसे ग्रहण कर लेना यह पशु बुद्रि है मानव बुद्रि नहीं। किन्तु वर्तमान समाज में जो जीवन पद्धति विकसित हो रही है उसमें इसी प्रकार की पशुबुद्धि का ही प्राधान्य परिलक्षित हो रहा है। वस्तुत नियमित और सन्तुलित आहार विहार स्वस्थ जीवन के लिए अनिवार्य है। मनमानी और अनियमित आहार निहार ही सारी व्याधियों की जड है। आहार से केवल शरीर ही प्रभावित नहीं होता मन भी प्रभावित होता है जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन। अत मानसिक स्वास्थ्य के लिए सुविचारित अन्न ग्रहण करना चाहिए।

आचार ग्रन्थों में भोजन विधि का विशेष निरूपण किया गया है। भोजन भी एक प्रकार का यज्ञ है। जैसे अग्नि में हवि प्रदान करते हैं उसी तरह जठराग्नि में भोजन ग्रास रूप हविया डालते हैं। श्रुतिवचन यज्ञो वै आयु और आयुर्यज्ञेन कल्पते का स्वारस्य यही है। उत्तम हवि से उत्तम यज्ञ फल प्राप्त होता है। इसी तरह उत्तम (सन्तुलित पथ्य) भोजन से उत्तम आयु प्राप्त होती है। सायकाल और प्रात काल भोजन करना चाहिए बीच में नहीं (अर्थात् दो बार से अधिक नहीं)। भोजन विधि भी अग्निहोत्र की विधि के ही समान है

साय प्रातर्द्विजातीनामशन श्रुतिचोदितम्।
नान्तरा भोजन कुर्यादाग्नहोत्रसमो विधि।।

जैसे जलती हुइ अग्नि में डाली गयी आहुति भस्म हो जाती है उसी तरह प्रज्वलित जठराग्नि के द्वारा भोजन भी अच्छी तरह पच जाता है। दोनों भोजन कालों में इतना अन्तर रखने और दो बार से अधिक भोजन ग्रहण न करने का निर्देश इसीलिए किया गया है। जैसे जलती हुई भी अग्नि में अत्यधिक हविर्द्रव्य डालने से अग्नि उसे पूरा नहीं जला पाती और स्वयं भी बुझ जाती है उसी तरह अधिक बार और अधिक मात्रा में भोजन करने

१ कर्मठगुरु पृ १३
२ वही पृ ३

से जठराग्नि मन्द पड जाती है। और भोजन ठीक से पचता नहीं। भोजन ठीक से न पचने पर रस नहीं बनता और रस न बनने से शरीर में रक्त की कमी हो जाती है। भोजन का सुपाचन न होने से उदर सम्बन्धी रोग पैदा होते हैं और शरीर में अन्य विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं। अत उचित समय पर उचित मात्रा में (सन्तुलित) आहार लेना चाहिए। लोकमान्यता भी है शत विहाय भोक्तव्यम् अर्थात् यदि भोजन बेला उपस्थित हो गयी हो तो सैकडों भी आवश्यक कार्य छोडकर भोजन कर लेना चाहिए। भोजन करके कछ पग चलना अर्थात् स्वल्प काल टहलना चाहिए और फिर कछ ेर तक उत्तान लेट कर फिर बायें करवट लेटना चाहिए और यदि बैठना हो तो वीरासन में बैठना चाहिए। इससे भोजन पचने में आसानी होती है।

भोजन करने से पूर्व स्नान अवश्य करना चाहिए। यदि स्नान न कर सके तो उसे अपने दातों और जिह्वा अच्छी तरह साफ करके और हाथ पैर मुह अच्छी तरह धोकर ही भोजन करना चाहिए। आरोग्य की दृष्टि से ऐसा कहा गया है। भोजन काल में गन्दगी और रोगाणुओं से बचने के लिए शौचाचार का पालन करना अनिवार्य है। स्वच्छ हवादार स्थान मे शुद्ध आसन पर बैठकर भोजन करना चाहिए। सीलनभरे गन्दे और बदबूदार स्थान में बैठकर कभी भी भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन करते समय इसी दृष्टि से या तो वस्त्र उतार कर या स्वच्छ वस्त्र पहन कर भोजन करना चाहिए। इस विषय में सावधान किया गया है

दन्तशुद्धि विना यो हि पादप्रक्षालनं विना।
भुक्ते हि स नर सम्यक् पुन सस्कारमर्हति।।
पञ्चार्द्रो भोजन कुर्यात् प्राङ्मुखो मौनमाश्रित ।
हस्तौ पादौ तथैवास्यमेषु पञ्चार्द्रता मता।।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु सविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्।।
(गीले पैर खाय गरम पैर सोये।
गीले पैर खाय तो आपन उमर न खोवे।।)

१ वही पृ ३
२ मनुस्मृति ६

सोना चादी कमल अथवा पलाश क पत्तो से बने हुए पात्र में भोजन करना चाहिए। मिट्टी ताबा अथवा लोहे के बर्तन और वर ाद ीपल या मदार आदि वृक्षों के पत्तों से बने बर्तनों में भोजन नहीं करना चाहिए

सौवर्णे राजते चेव पद्मपालाशपत्रयो ।
भाजने भोजने चैव त्रिरात्र फलमश्नुते।।
मृण्मये पत्रपृष्ठे वा आयसे ताम्रभाजने
नाश्नीयादपि चेद् भुङ्क्ते नरक प्रतिपद्यते।।
आयसेन तु पात्रेण यदन्नमुपदीयते।
तदन्नमपवित्र स्यात्त्याज्य वै सर्वकर्मणि।।

वस्तुत जिस प्रकार के पात्र में भोजन किया जाता है भोजन के साथ ही उस पात्र की धातु या वस्तु का गुण या दुर्गुण भोजन पर अपना प्रभाव डालता है। भोजन के जलीय अश से मिलकर वह धातु या द्रव्य रासायनिक क्रियायें करता है। जिसका परिणाम लाभप्रद या हानिप्रद योग (यौगिक पदार्थ) के रूप में भोजन में सम्मिलित होता है। लोहा ताबा पीतल कासा आदि धातुओं का जल के साथ योग होने पर विषैले पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो शरीर के लिए हानिकारक होते हैं। अत इन पात्रों को भोजन के लिए वर्जित किया गया है।

श्रीमद्भगवदगीता में सात्त्विक राजस और तामस आहारों का वर्णन किया गया है। इनमें वस्तुत सात्त्विक आहार ही काम्य है

आयु सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना ।
रस्या स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहारा सात्त्विक प्रिया ।।

भोजन में कब क्या ग्रहण करना चाहिए इसका भी उल्लेख किया गया है। वस्तुत आरोग्य की दृष्टि से इस प्रकार भोजन करने से रस का परिपाक उचित रीति से होता है

अश्नीयात्तन्मना भूत्वा पूर्वन्तु मधुर रसम्।
मध्येऽम्ललवणौ पश्चात्कटुतिक्तकषायकान्।।
प्राग्द्रव पुरुषोश्नीयान्मध्ये च कठिनाशन ।
अन्ते पुनर्द्रवाशी च बलारोग्यैर्न मुञ्चति।।

---

१ कर्मठगुरु पृ ३
२ श्रीमद्भगवद्गीता १
३ कर्मठ गुरु पृ ३६

आरोग्यशास्त्र में यह भी प्राप्त होता है कि भो ा न को खूब चबाकर खाना चाहिए (बकरी की जगाली की तरह) और भोजन का समापन मधर रस वाले पदार्थ से करना चाहिए।

अजाव चर्वण कर्यान्मधुरेण समापयेत्।

भोजन करते समय बीच बीच में जल नहीं पीना चाहिए अपितु भोजन के अन्त में पानी पीना लाभदायक होता है भोजने तु विष वारि भोजनान्तेऽमृत स्मृतम्।

भोजन के अन्त में मटठा दिन के अन्त में दूध और रात्रि के अन्त में जल पीने से शरीर स्वस्थ रहता है

भोजनान्ते पिबेत्तक्र वासरान्ते पिबेत्पय ।
निशान्ते च पिबेद्वारि त्रिभी रोगो न जायते।।

भोजन को देखकर प्रसन्न होना चाहिए। उसे प्रणाम करना चाहिए। प्रसन्नमन से भोजन करना चाहिए भोजन की प्रशसा करते हुए उसे ग्रहण करना चाहिए आर कहीं भी उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए

अन्न दृष्टवा प्रणम्यादौ प्राञ्जलि कारयेत्तत ।
अस्माक नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्याऽथ बन्दयेत्।।
कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतो गुर्वनुज्ञया।
आपोशानक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन्।।
पूजयेदशन नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्टवा हृष्येत्प्रसीदेच्च न निन्देच्च सर्वश ।।

भोजन को शान्त होकर अनुद्विग्न हुए बि ा निर्भय होकर मन लगाकर करना चाहिए और यदि कोई देख रहा हो तो उसे देकर तब खाना चाहिए

नाक्रुद्धो नान्यमना नातिभीषयमाणोऽश्नीयात्।
न शिशून निर्भर्त्सयन् नाप्रदाय प्रेक्षमाणेभ्य ।।

सन्तुलित मानसिक अवस्था में ही ग्रहण किया गया भोजन सुपाच्य होता है। अन्यथा वह शरीर के लिए हितकर नहीं होता।

---

१ व्हीं पृ ३६
२ व्हीं पृ ३६
३ याज्ञवल्क्य स्मृति १ ३१
४ मनुस्मृति २ ५४
५ कर्मठगरु पृ ३

खडे खडे या चलते फिरते भोजनादि ग्रहण करना वर्जित है। काष्ठासन या चटाई आदि पर बैठकर भोजन करना चाहिए। भोजन को सदैव अपने बैठने के आसन से कुछ ऊचाई पर रखना चाहिए ताकि भोजन ग्रहण करने में नीचे बहुत झुकने से पेट अनावश्यक रूप से दबे नहीं। आचमन करके बलि निवेदन करके और भोजन की थाली को जल से वेष्टित करके भोजन करना चाहिए। जल से वेष्टित कर देने पर चीटी आदि कीडे थाल तक नहीं पहुच पाते। भोजन सदैव पर्याप्त प्रकाश में करना चाहिए ताकि भोजन में कीडे मकोडे या अन्य तृणादि गिर जाने पर दिखाई पड़े और ऐसी स्थिति में भोजन का त्याग कर देना चाहिए। इन्हीं उपर्युक्त कारणों से भोजन को खुले आकाश के नीचे नहीं करना चाहिए। भोजन करने का स्थान अवश्य ही ऊपर से आच्छादित होना चाहिए। यदि पंक्ति या समूह में बैठकर भोजन कर रहे हैं तो अन्यों के भोजन समाप्त करने से पूर्व पंक्ति त्याग नहीं करना चाहिए और मौन होकर भोजन करना चाहिए। बोलते हुए भोजन करने से मुह से जूठे अन्नकण निकल कर दूसरों के भोजन में गिर सकते हैं।

जागरण काल में मनुष्य कार्य करने से शारीरिक और मानसिक रूप से थक जाता है। उसकी इस थकान को दूर कर नई शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त करने का सहज साधन सुषुप्ति अर्थात् सोना है। जो परिश्रम करके थक जाते हैं। उन्हें जल्दी और सुखद नींद आती है। सुषुप्ति के लिए (शयन के लिए) रात्रि और जागरण के लिए दिन यह समय विभाजन निसर्गत प्राप्त है। रात में गहरी नींद सोकर प्रात काल स्वाभाविक रूप से जागा हुआ प्राणी स्वस्थ रहता है। जिन्हें नींद नहीं आती अनिद्रा से पीडित हैं या हलकी नींद आती है। उन्हें पूर्ण विश्राम नहीं मिल पाता। वे शारीरिक और मानसिक रूप से थके थके रहते हैं। और शरीर में आलस्य या अकर्मण्यता भरी रहती है। अनिद्रा से पीडित व्यक्ति तनाव से भर जाता है। और धीरे धीरे मानसिक सन्तुलन भी खो बैठता है। इसलिए जीवित रहने के लिए जीव की जो सहजवृत्तिया (आहार निद्राभय मैथुनञ्च) बताई गयी है। उनमें आहार के पश्चात् निद्रा (नींद) की ही गणना की गयी है। अत नींद मनुष्य मात्र (अथवा जीवमात्र) के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। वैसे तो कहा गया है कि नींद न देखे टूटी खाट किन्तु सखद निद्रा के लिए उपयुक्त शयन का होना आवश्यक है। इन्द्रियों और शरीर के अन्य अवयवों को पूर्ण विश्राम देने के लिए अच्छी नींद जरूरी है। इसके अतिरिक्त भोजन के सुपाचन के लिए भी अच्छी नींद अनिवार्य है। यही कारण है कि आचारण शास्त्र में मनु के लिए शयन विधि का भी वर्णन किया गया है। शयन के पूर्व मञ्जन इत्यादि दूसरा मुखशुद्धि करके कवोष्णा दुग्धपान करके मूत्रत्याग करके हाथ पैर अच्छी तरह धोकर उसे सूखे वस्त्र से अच्छी तरह सुखाकर अपने इष्टदेवता का स्मरण करते हुए सोना चाहिए। इससे नींद अच्छी तरह आती है। और दु स्वप्न नहीं दिखाई देते। स्वच्छ हवा में सोना चाहिए। यदि कमरे में सोना हो तो स्वच्छ वायु के आवागमन का सुन्दर प्रबन्ध होना चाहिए।

वृक्षों के नीचे नहीं सोना चाहिए। इसके दो कारण हैं। रात में सोते समय किसी कारण वृक्ष या डालों आदि के टट कर गिरने का भय हो सकता है। अथवा वृक्ष पर बैठे बन्दर बिल्ली या इसी तरह के अन्य पशुओं और पक्षियों के भी ऊपर आ गिरने या मूत्रपुरीष करने का भय रहता है। इसके पीछे दूसरे कारण अत्यन्त वैज्ञानिक है। वृक्ष भी हमारी तरह सास लेते हैं। और आक्सीजन लेकर कार्बन डाई आक्साइड छोडते हैं। दिन में वे वृक्ष प्रकाश सश्लेषण (Photosynthesis) की क्रिया से कार्बन डाई आक्साइड को ग्रहण कर कार्बन और आक्सीजन में विभक्त करते रहते हैं। कार्बन स्वय उनका खाद्य है और आक्सीजन से वे स्वय सास लेकर शेष आक्सीजन दूसरे जीवों के उपयोग क लिए वायुमण्डल में विसर्जित करते रहते हैं। किन्तु रात में वृक्षों द्वारा यह क्रिया सूर्य के प्रकाश के अभाव में बन्द रहती है। और वे कार्बन डाई आक्साइड ही छोडते हैं जो हमारे लिए अनुपयोगी और हानिकारक है। अत रात में वृक्षों के नीचे नहीं सोना चाहिए।

सभी आचार ग्रन्थों में मनुष्य की शयन विधि (शरीर की स्थिति) का विशेष निर्देश किया गया है। शयन करते हुए पुरुष का सिर या तो पूर्व दिशा में हो अथवा दक्षिण दिशा में होना चाहिए। इसके विपरीत होने पर मनुष्य रोगी हो जाता है। इसका अभिप्राय हुआ कि मनुष्य दक्षिण या पूर्व दिशा की ओर पैर कर के नहीं सोना चाहिए

प्राच्या दिशि शिर शस्त याम्यायामथवा नृप।
सदैव स्वपत पुसो विपरीत तु रोगदम्।।

भौतिक विज्ञान के अनुसार प्रत्येक पिण्ड में एक चुम्बकीय शक्ति रहती है। इस पृथ्वी पिण्ड में भी चुम्बकीय शक्ति रहती है और शक्ति के केन्द्रीभूत आयाम के सिरे उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के नाम से जाने जाते हैं। चुम्बक का गुण है कि समान ध्रुव एक दूसरे को विपरीत शक्ति से ढकेलते हैं तथा विपरीत ध्रुव एक दूसरे को आकर्षित करते हैं। इसी गुण के कारण यदि किसी लम्बे चुम्बक को बाधकर स्वतन्त्ररूपसे लटका दिया जाय तो वह उत्तर दक्षिण दिशा में ही रुकता है। मनुष्य के शरीर में भी वह चुम्बक है और उसका उत्तरी ध्रुव सिर की ओर तथा दक्षिणी ध्रुव पैर की ओर होता है। यदि कोई व्यक्ति उत्तर की ओर सिर और दक्षिण की ओर पैर करके सोता है तो पृथ्वी और मनुष्य के शरीर के समान ध्रुव एक दूसरे पर विपरीत प्रभाव डालते हैं। चूकि पृथ्वी के चुम्बकत्व के समक्ष एक मनुष्य का चुम्बकत्व नगण्य है अत पृथ्वी की अपार चुम्बकीय शक्ति का विपरीत प्रभाव शरीर पर पडने से शारीरिक क्रिया शक्ति क्षीण होती है। और उसमें विकार उत्पन्न होते हैं। किन्तु यदि मनुष्य दक्षिण की ओर सिर और उत्तर की ओर पैर करके शयन

१ वही पृ ४३

करता है तो मनुष्य और पृथ्वी क अ ्र व चु वकों क विपरी ध्रव एक दूसर के साथ होते हैं ओर पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति ाुष्य की शा ि को ाकृष्ट ‍र उसमें वृा ् करती है। और शारीरिक क्रियाआ को ियमित करती हैं। ्सी प्रकार यि् मनुष्य का सिर सोते हुए पश्चिम दिशा में हो ो भी चम्बकीय परिभे व विपरीत शा ि तरगें क दूसरे को काटती हैं और इस दशा में भी मनुष्य की उ जा का हास होता । अत उपयेक्न प्रकार से सिर ओर पेर की उचित दिशा में रि ाति रखकर शयन विधि बता् गयी है सम्पूर्ण ससार के सभी देशों की समस्त मानव ाति में ‍पो रो ब ों के ्रति आ र ओर सम्मा प्र्शित करने का भाव देखा जाता है। यह मानव सम्यता आर सस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। भारतीय आचार पद्धति में तो अभिवादन का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण स्थान है। मातृ्वो भव पितृदेवो भव आचार्य देवो भव अतिथि देवो भव इत्यादि उपदेश वाक्य इसी सत्कार परम्परा और अभिवादन गौरव का बोध करते हैं। अनुकरण मनुष्य का स्वभाव है। अभिवादन के सन्दर्भ में तो यह एकदम रो लागू होता है। हमसे छोटे हमें अभिवादन करें इसलिए हमें भी अपने से बडों का अभिवादन करना चाहिए। बडो का अभिवादन अपने नाम गोत्र का उच्चारण करते हुए करना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है अभिवादयेद वृद्धानसावहमिति ब्रुवन्।

मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में अभिवादन विधि का सविस्तार निरूपण किया गया है। तदनुसार अपना नाम बताकर बडों को प्रणाम करना चाहिए। चूकि बडों के आगमन से छोटों के प्राण ऊपर उठ जाते हैं। अत खडे होकर प्रणाम करने से प्राण पुन यथास्थान आ जाते हैं। वृद्धों का नित्य अभिवादन करने वाले मनुष्य की आयु विद्या यश और बल बढते हैं

उर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यून स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्या पुनस्तान् प्रतिपद्यते।।
अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविन ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्।।[३]

वस्तुत अभिवादन का सम्बन्ध विनय से है और जिसमें भी विनय होगा उसे विद्या आयु बल और यश प्राप्त होता ही है। अभिवादन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले आशीर्वाद और शुभकामना से व्यक्ति की मानसिक प्रसन्नता (उल्लास) में वृद्धि होती है। उल्लास बढने से उत्साह बढता है। जो शुभकर्मों की ओर प्रवृत्त करता है। परिणामत उपर्युक्त चारों की

१ याज्ञवल्क्यस्मृति १ २६
२ मनुस्मृति २ ११ १३
३ वही २ १२ १२१

प्राप्ति होती है। बल का तात्पर्य केवल शारीरिक बल से ही नहीं है। सबसे बडा बल तो आत्मबल होता है।

मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय में भी वृद्धों का अभिवादन और उनका आदर करने का निर्देश दिया गया है

अभिवादयेद्वृद्धाश्च दद्याच्चैवासन स्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीत् गच्छत पृष्ठतोऽन्वियात्।।

इस प्रकार भारतीय आचार पद्धति के अन्तर्गत आने वाले कुछ मुख्य आचारों का निरूपण कर यथासम्भव उनकी वैज्ञानिकता के सम्ब ध में विवेचन किया गया।

मनुस्मृति में आचार (सदाचार) की प्रशसा करते हुए कहा गया है कि अप्रमादपूर्वक सदाचार का पालन करना चाहिए। आचार करने से दीर्घायु अभीष्ट सन्तान और अक्षय धन की प्राप्ति होती है। तथा सारे अशुभ लक्षण विनष्ट हो जाते हैं। दुराचारी पुरुष नाना प्रकार के दु खों व्याधियों और अल्पायु को प्राप्त होता है। तथा लोक में वह निदा का पात्र होता है। सभी लक्षणों से हीन पुरुष भी सदाचार के बल पर सौ वर्षो की सुखी आयु प्राप्त कर सकता है।

श्रुतिस्मृत्युदित सम्यङनिबद्ध स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूल निषेवेत सदाचारमतन्द्रित।।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्।।
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दित।
दु खभागी च सतत व्याधितोऽल्पायुरेव च।।
सर्वलक्षणहीनोऽपि य सदाचारवान्नर।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शत वर्षाणि जीवति।।

१ वही ४ १५
२ वही ४ १५५ १५

हिन्दू प्रतीक चिन्हों की वैज्ञानिकता

(शिखा सूत्र तिलक इत्यादि)

• डॉ किशोर मिश्र

भारतीय हिन्दू सस्कृति में प्रत्येक मानव के लिए मस्तक पर तिलक धारण करना आवश्यक माना गया है। इस कारण यह भारतीयता का प्रमुख चिह्न है। तिलक धारण के बिना अनुष्ठित धार्मिक एव सामाजिक कार्यों का पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में प्रतिपादित है कि –

स्नान दान तपो होमो देवता पितृकर्म च।
तत्सर्वं निष्फल याति ललाटे तिलक बिना।।
(ब्रह्म २६)

तिलक धारण का प्रकार

तिलक धारण के विविध प्रकार शास्त्रों में निर्दिष्ट है यथा –

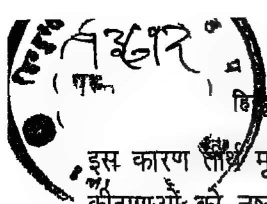
ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदाधार्यं भस्मना तु त्रिपुण्ड्रकम्।
उभय चन्दनेनैव ह्यभ्यङ्गोत्सवरात्रिषु।। आदि।

इसका अभिप्राय है कि ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक मृत्तिका से त्रिपुण्ड भस्म से तथा दोनों ही प्रकार तिलक और अभ्यडग उत्सवादि के अवसर पर तथा रात्रि में धारण करना चाहिये।

मृत्तिका तिलक की वैज्ञानिकता

यद्यपि चन्दन गोपीचन्दन सिन्दूर कुकुम और भस्म आदि द्रव्यों से भी तिलक लगाया जाता है किन्तु प्रमुख रूप से तीर्थों की पवित्र मृत्तिका को स्वच्छ करके जो द्रव्य तैयार किया जाता है उससे तिलक धारण करने में सर्वाधिक वैज्ञानिक लाभ के कारण उपर्युक्त श्लोक में मृत्तिका को सर्वप्राथम्य दिया गया है। इसका भौतिक कारण है कि शुद्ध मृत्तिका में सर्वविधि कीटाणुओं को हटाकर स्वच्छ करने की अद्‌भुत शक्ति है यह भौतिक विज्ञानवादी भी स्वीकार करते हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय दृष्टि से पृथिवी गन्धवती है। यह प्राकृतिक गन्ध तत्तत् पदार्थों की पूतिगन्ध नामक दुर्गन्ध को दूर करती है। यह मृत्तिका का प्राकृतिक गुण है।



इस कारण तीर्थ मृत्तिका का तिलक श्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार राख (भस्म) में भी कीटाणुओं को नष्ट करने तथा पदार्थ को स्वच्छ करने का स्वाभाविक गुण है। इसका उदाहरण पानी को साफ (फिल्टर) करने की विधि से स्पष्ट होता है। अत लेपन द्रव्यों में मृत्तिका तथा भस्म ये दोनों सबसे सस्ते सर्वसुलभ सर्वोत्तम द्रव्य हैं। यदि वह तीर्थस्थानों की हो तो अत्यन्त उत्कृष्ट है। देशवैचित्र्यवाद के अनुसार तत्तत् तीर्थों की मृत्तिका का सम्मिलित पिण्ड तो मानों अनेकविध शुचितामय परमाणुओं का पुञ्जीभूत सघात है। अत शुचिता के वैज्ञानिक कारण से मृत्तिका का तिलक किया जाता है।

योगविज्ञान के अनुसार तिलक धारण का रहस्य

भारतीय परम्परा में प्राणी की शरीर सरचना में विविध यौगिक तत्त्वों का निरूपण किया गया है तथा यौगिक क्रियाओं के द्वारा मानव के शारीरिक मानसिक लाभ प्राप्त होते हैं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। पिण्ड ब्रह्माण्ड सिद्धान्त के अनुसार तिलकधारण का भी यौगिक महत्त्व उपनिषद् में इस प्रकार ज्ञात होता है

शत चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासा मूर्धानमभि निस्सृतैका।
तयोर्ध्वमायन् न मृतत्वमेति विष्वगत्या उत्क्रमणे भवन्ति।।

इस श्रुतिवचन का यह फलितार्थ प्राप्त होता है कि विविध प्रकार के शास्त्रोक्त तिलकचिह्नों को विशाल भाल में धारण करने का तात्पर्य है कि मानो हम अपने मस्तिष्क को पुनीत रखने के लिए यह सुदृढ प्राचीर तैयार कर रहे हैं। उपनिषद् के पूर्वोक्त प्रमाण में लिखा है कि सुषुम्णा नाडी हृदय से सीधी मस्तक के सामने ब्रह्मरन्ध्र में पहुचती है। उस पर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक ऊर्ध्वगति का सकेत चिन्ह है।

यहा यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे मन में जो सकल्प उठता है वह सर्वप्रथम मस्तिष्क की धमनियों में ही प्रकम्पन करता है। मस्तिष्क के प्रकम्पन के अनन्तर ही वह तत्तत् इन्द्रियों को कार्यानुकूल होने के लिए सञ्चित करता है। हमारा मस्तिष्क जितना विकार रहित होगा उतना ही हम प्रत्येक विषय की वास्तविकता का शुद्ध परिशीलन कर पायेंगे। हमारे ज्ञान तन्तुओं का विचारक केन्द्र भृकुटी और ललाट का मध्यभाग है। यह प्राय सभी ने अनेक बार अनुभव किया है कि जब कभी आवश्यकता से अधिक विचार करने का अवसर पडता है तो इसी केन्द्र में वेदना अनुभव होने लगती है। अत हमारे महर्षियों ने ज्ञान तन्तुओं के केन्द्र स्थान में ही तिलक धारण करने का विधान किया है। तिलक की महिमा के अविश्वासी लोग भी जब मस्तिष्क वेदना से पीडित होते हैं तब वे भी चन्दन उशीर आदि शीतल द्रव्यों का कलल मस्तक पर लगाने के लिए विवश हो जाते हैं। यहा यह भी ज्ञातव्य है कि यों तो शुक्रनामक धातु समस्त शरीर में ही परिव्याप्त है

परन्तु उसके विशेष प्रभाव से उरोज और युवापन को प्राप्त होने वाले बालकों के स्तनों में ग्रन्थि और मुखमण्डल पर विस्फोटक मुहासे आदि नवयौवन के प्रथम चिह्न समझे जाते हैं। अत वीर्यसरक्षा के निमित्त भी भाल प्रदेश में शुचितम मृत्तिका को धारण करना परमावश्यक है।

तिलक द्रव्यों का शरीर विज्ञान की दृष्टि से महत्त्व

मृत्तिका के बाद दूसरा स्थान यज्ञ भस्म का है। कुछ लोग जेसी तैसी भस्म ही पोत लेते हैं यह ठीक नहीं है। क्योंकि स्मृति ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रमाण विद्यमान हैं जो कि सर्वसाधारण भस्म को अनित्य सिद्ध करते हैं। अत यज्ञ भस्म ही ागानी चाहिये। भस्म (राख) भी शोधकद्रव्यों में प्रमुख है। अत भस्म धारण की वैज्ञानिकता स्पष्ट है। आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से चन्दन का अतिशय महत्त्व है। रक्तचाप नियन्त्रण दाहनाशन कान्तिवर्धन त्वचासरक्षण आदि अनेक गुणों के कारण चन्दन का तिलक शरीर के लिए अत्यन्त लाभप्रद है। कुकुम (रोली) हल्दी का ही चूर्ण होता है जो नीबू के रस में भावित करने के कारण लाल हो जाता है। हल्दी भी सयोजक तथा त्वचा शोधन रक्तशोधन के लिए सर्वोत्तम औषधि है। आयुर्वेद में इसके अनेक गुण बतलाये गये हैं। भक्षणीय पदार्थों में हल्दी का नियमित घरेलू उपयोग उसके शोधन तथा सयोजन के प्राकृतिक गुणों के कारण ही भारतीय पाकशास्त्र में किया जाता है। अत तिलक में कुकुम के उपयोग से त्वचा की शुद्धि तथा मस्तिष्क के स्नायुओं का सयोजन नैसर्गिक रूप से होता है।

तिलक धारण के लिये सिन्दूर का भी प्रयोग किया जाता है। विशेषत भारतीय नारिया सौभाग्य चिह्न के रूप में मस्तक पर सिन्दूर धारण करती हैं। वस्तुत सीमन्त (माग) में जिस स्थान पर सिन्दूर लगाया जाता है वह स्थान ब्रह्मरन्ध्र और अधिप नामक मर्म के ठीक ऊपर का भाग है। स्त्री के शरीर में यह भाग पुरुष की अपेक्षा विशेष कोमल होता है। अत उसकी सरक्षा के लिए शास्त्रकारों ने सिन्दूर का विधान किया है। सिदूर में पारा जैसा अलभ्य धातु बहुत मात्रा में होता है। वह स्त्री के वैद्युतिक उत्तेजना को ही नियन्त्रित नहीं रखता अपितु मर्मस्थान को बाह्य दुष्प्रभाव से बचाता भी है।

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार यदि स्त्रियों के सीमन्त में अथवा भृकुटी केन्द्र में नागिन रेखा पडी हो तो वे दुर्भगा रहती हैं। कई बाल विधवाओं के सीमन्त स्थल में बालों की भवरी (आवर्त) प्रत्यक्ष देखी जाती है। इस दोष की निवृत्ति के लिये सिन्दूर द्वारा उसे आच्छादन करना बताया गया है।

इस प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार तिलकधारण का वैज्ञानिक महत्त्व है।

शिखाधारण का महत्त्व

भारतीय सनातन परम्परा में शिखा हिन्दुत्व का प्राथमिक शरीर चिन्ह है। यज्ञोपवीत धारण तो उपनयन सस्कार का काल प्राप्त होने पर किया जाता है। किन्तु शिखाधारण बालक को प्रारम्भ से ही कराया जाता है। शिखा से रहित व्यक्ति द्वारा किए गये धार्मिक कृत्यों तथा आचार विधियों को अकृत की भाति माना गया है– विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत् कृतम् आदि। धर्मानुष्ठान का पूर्ण फल प्राप्त करने के लिए शिखाबन्धन आवश्यक है। इसीलिए कहा गया है

ध्याने दाने जपे होमे सध्याया देवतार्चने।
शिखाग्रन्थि सदा कुर्यादित्येत मनुरब्रवीत्।।

जपादि करने से पूर्व आसन पर बैठकर तिलक धारण तथा शिखा बन्धन करने के पश्चात् सकल्पपूर्वक सन्ध्यावन्दन करना चाहिए।

शिखाधारण के लिए सस्कार

शिखाधारण की विधि के लिए अनुष्ठित किए जाने वाले सस्कार को चौल कर्म कहते हैं। प्रत्येक भारतीय के लिए यह कर्म अनिवार्य मात्र नहीं किन्तु भारतीयता का सूचक भी है। इसके बिना आगे की उपनयन समावर्तन आदि क्रियाओं में अधिकार नहीं माना जाता है। वर्णधर्म आश्रमधर्म को मानकर चलने वालों के लिए यह सस्कार आवश्यक है। अतएव अपराधों के दण्डविधान में शिखामुण्डन भी एक दण्ड माना गया है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि प्रत्येक भारतीय के लिए शिखा मुख्य चिन्ह मानी जाती है। शिखा का रक्षण प्राण रक्षण के समान है। वस्तुत शिखा मस्तक प्रदेश के प्राणस्थान की रक्षा करती है इसीलिए उसकी रक्षा में सतत यत्न शील रहना चाहिए।

दृष्टोपकारक अदृष्टोपकारक तथा दृष्टादृष्टोपकारक भेद से तीन प्रकार के सस्कार माने गये हैं। उनमें चौल सस्कार को दृष्टोपकारक मान सकते हैं। यह प्राणरक्षारूप दृष्ट प्रत्यक्ष फल को देते हुए उपकारक है। दृष्टफलक कर्मों में नियमविधि मानी जाती है। नियमविधि का तात्पर्य है कि विधि जिस फल को प्राप्त करने के लिए जिस साधन का विधान करती है दूसरे साधन से भी उस फल के प्राप्त हो जाने पर विहित साधन का ही ग्रहण करना। इस प्रकार नियम का फल अदृष्ट हो सकता है। मस्तक के प्राणस्थान का रक्षण टोपी साफा या उष्णीय आदि के लगाने से भी हो सकता है। किन्तु शिखा से ही रक्षण करना चाहिए यह नियम विधि है। प्राणधारक उस शिखा के रक्षण के निमित्त उष्णीष टोपी या साफा भारतीयों का वेष है। टोपी पहनना या साफा बाध लेना अलकरण मात्र नहीं है बल्कि शिक्षारक्षण के लिए हमारी सस्कृति के अन्तर्गत है।

शिखाधारण का शारीरिक महत्त्व

नित्यकर्म के अनुष्ठान में शिखा की अपेक्षा होती है। अग्नि के समान प्रदीप्त सदाचार ही मनुष्य का जीवन है और उसकी ज्वाला का प्रतीक शिखा है। मनुष्य का जीवन भगवान का मन्दिर है और शिखा उसका शिखर है। मूलाधार से लेकर सहस्रार पर्यन्त सात चक्रों का विकास शिखाधारी के जीवन में होना चाहिये। जैसे यज्ञोपवीत अधोमार्ग की उच्छृङखलता से बचाने के लिए कण्ठ नाभि एव कटिप्रदेश का स्पर्श करके सावधान रखने के लिए है इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहकर त्याग वैराग्य ज्ञान के नाम पर गृहस्थाश्रम की मर्यादा का उल्लघन करके मिथ्यासन्यास का दम्भ न किया जाए इसके लिए शिखा में ग्रन्थि लगाई जाती है। गोत्र प्रवरादि के भेद से एकशिख पञ्चशिख वामशिख आदि भेद होते हैं। चूडाकर्म सस्कार में एक रहस्य यह भी है कि बालों की रुक्षता आदि जो दोष हैं उनका निवारण होता है। बाल स्निग्ध सूक्ष्म घन और घुघराले हों इसका प्रयास रखना चाहिए। ये सिर के अलम् अर्थात् अलडकार हैं। यदि शिरोभाग में उचित स्थान पर बाल न हों तो औषधि आदि के द्वारा उन्हें पूर्ण करना चाहिये। किसी भी शास्त्रोक्त सकल्प के समय शिखा को बाध लिया जाता है अर्थात् मर्यादित किया जाता है। शिखा अपने गोत्र प्रवर एव तन्मूलक कर्तव्यों का भी स्मरण दिलाती है।

सृष्टिविज्ञान के अनुसार शिखा का महत्व

शिखाधारण चौल अर्थात् मुण्डन सस्कार के द्वारा विहित है। दोषमार्जन भी मुण्डनसस्कार का लक्ष्य है। उसमें ऐसी वस्तुओं का लेपन मस्तक पर बताया गया है जिससे कोमल मस्तक में कोई व्रण न होने पाए और केशों के स्थान की पवित्रता भी हो जाये। मन्त्रपूर्वक हवन का भी इस सस्कार से आरम्भ हो जाता है जो कि बाह्य शुद्धि और भीतर की शुद्धि का एकमात्र उपाय है। इस सस्कार में अन्य केशों को हटाकर एक शिखा रख दी जाती है। शिखा हिन्दू जाति का एक विशेष चिन्ह माना जाता है। इसका सृष्टि वैज्ञानिक तत्त्व यह है कि ब्रह्मरन्ध्र के ठीक ऊपर शिखा रखी जाती है। सूर्य का प्राण ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा ही हमारे भीतर आता है और भीतर के प्राण उसी रन्ध्र से सूर्य की ओर जाते रहते हैं। यह आवागमन वेद विज्ञान की प्रक्रिया में स्पष्ट है। कर्म या उपासना के द्वारा अन्त करण में जो अतिशय उत्पन्न किया जाता है यदि सूर्य के आकर्षण से सूर्य में चला जाय तो हमारे पास कुछ न रहेगा और हमारा परिश्रम व्यर्थ हो जाएगा।

केश विद्युत्शक्ति को रोकने वाले हैं। अत कर्म या उपासना के समय ग्रन्थिबद्ध शिखा ब्रह्मरन्ध्र पर स्थापित रहने से हमारा अतिशय बाहर नहीं जा सकेगा तथा इसके द्वारा हम कृतकार्य होंगे। यह सृष्टिविज्ञान की दृष्टि है।

शिखा से आयुष्यरक्षा

चूडाकरण सस्कार में प्रयुक्त मन्त्रों द्वारा आयुष्य वृद्धि प्रतिपादित है। चूडाकर्म और आयु का सम्बन्ध विचार करने पर प्रतीत होता है कि बालक का जन्म होने पर उसके मस्तक के बीच में जो अत्यन्त कोमल भाग देखा जाता है यही मानव का प्राणस्थान है। यहा चोट लगने से मनुष्य बच नहीं सकता। योगी इस भाग को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। इसी भाग से सिद्ध पुरुष प्राणोत्सर्ग भी कर लेते हैं। अतएव सन्यासी लोगों का देहान्त हो जाने पर मस्तक के इस भाग में नारियल फोडकर कुछ चोट करते हैं अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा प्राण निकला यह विधि की जाती है। यह भाग मनुष्य के लिए मुख्य माना जाता है। इसलिए शिर को उत्तमाग कहा गया है। इस स्थान की रक्षा के लिए शास्त्रों में चूडाकर्म सस्कार बताया गया है। धर्मशास्त्रों में वर्णित है कि गो या अश्व के खुर के समान शिखा होनी चाहिये। इतनी शिखा रखने से वह भाग ढक जाता है। अतएव इस कर्म के साथ आयुष्य रक्षा का सम्बन्ध है। जिस प्रकार अचेतन यन्त्र को बनाने वाले यन्त्र बनाकर देते हैं तथा हम उसके रक्षण में सावधान रहते हैं उसी प्रकार परमेश्वर ने इस अचेतन शरीर रूपी यन्त्र को बनाकर उसमें चेतन जीव का प्रवेश कर हमें दिया है। हम उसके रक्षण में जागरूक रहने के लिए परमा मा के नि श्वास रूपी वेदमन्त्रों के द्वारा प्रार्थना करते हुए चौल सस्कार को करते हैं। आयुष्य रक्षा के इस रहस्य से विदित होकर गृह्यसूत्रकारों ने चूडाकर्म तथा शिखारक्षण का निर्देश किया है।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से शिखा का महत्त्व

सन्ध्यावन्दन यज्ञानुष्ठान आदि प्रत्येक धार्मिक कृत्य में आरम्भ में सर्वप्रथम शिखा में ग्रन्थि लगाने की अनिवार्य विधि है। भारतीय शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसका कारण है कि पैर हाथ की भाति वातावरण से प्रभावित होने वाला मानव पिण्ड का पाचवा अङ्ग मस्तक है। स्थूल रूप से देखने में तो यह गोल है परन्तु आख नाक कान आदि छिद्रों की भाति शिर में भी गुप्त द्वार है जिसे दशम द्वार भी कहते हैं। यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षाध्याय (१।६।१) में वर्णन है कि

अन्तरेण तालुके य एष स्तन इव अवलम्बते स इन्द्रयोनि ।
यत्र असौ केशान्तो विवर्तते व्यपोह्यशीर्ष कपाले।

अर्थात् तालु के अन्दर जो स्तन सा लटकता दीख पडता है इसका नाम इन्द्रयोनि है। इसके ठीक समान सूत्र में कपाल स्थान पर जो रोम राशि है वह मर्मरक्षक है। आयुर्वेदशास्त्र में प्रतिपादित है कि मस्तक के ऊचे अभ्यन्तर स्थान के रोमों के आवर्त का नाम अधिप है जो बहुत मर्मस्थल है जिसके उपद्रुत होने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

अष्टागहृदय का वचन है

आन्तरो मस्तकस्योर्ध्वं शिरासधिसमागम ।
रोमावर्तोऽधियोनाभ मर्म हरन्यसून्। (शरीर स्थान)

मस्तक के भीतर ऊपर के भाग में जहा बालों का भवर होता है वहा सम्पूर्ण नाडियों एव सन्धियों का मेल होता है। उसे अधिपति नाम का मर्मस्थान कहा गया है। इस मर्मस्थान की सुरक्षा के लिए ऋषियों ने उस स्थान पर चोटी रखने का विधान किया है। जहा शिखा रखी जाती है वहा मेरुदण्ड के भीतर स्थित ज्ञान तथा क्रियाशक्ति की आधारभूत सुषुम्ना नाडी समाप्त होती है। यह स्थान शरीर का सर्वाधिक मर्म स्थान है। इस स्थान पर चोटी रखने से मर्मस्थान क्रिया शक्ति तथा ज्ञान शक्ति सुरक्षित रहती है जिससे ध्यान दानादि शुभ कर्म सुचारू रप से सम्पन्न होते हैं।

अत उक्त गुप्त छिद्र (दशम द्वार) की सरक्षा के लिए वैदिक विज्ञान के अनुसार यहा शिखा रखी जाती है। धर्मानुष्ठान के समय इस मार्ग से प्रतिकूल वातावरण द्वारा उपार्जित आध्यात्मिक शक्ति का विनाश न हो सके एतदर्थ द्वार बन्द करने की भाति शिखा को गाठ लगानी आवश्यक होती है। विद्युत् शास्त्र का यह सिद्धान्त हे कि नुकीले पदार्थ विद्युत् शक्ति का भेदन कर देते हैं। उनमें वह झटिति प्रविष्ट हो जाती है। वर्तुलाकार या आबद्ध पदार्थों पर वह सहसा सक्रान्त नहीं होती। अत शिखा में गाठ लगाना समाधि के समय अगुष्ठ और तर्जनी के मेल से वर्तुल बनाना तथा मुट्ठी बाधना ये सब क्रियायें पूर्वोक्त विद्युत् सिद्धान्त पर आधारित हैं।

यह बात किसी भी ऊची इमारत पर लगी लोहशिखा और ऊपर से पृथ्वी तक लगी पत्ती से जानी जा सकती है। अत शिखाबन्धन का हेतु गुप्तद्वार दशमद्वार इन्द्रयोनि अधिप और वास्तुलिङ्ग आदि अनेक नामों से पुकारे जाने वाले उस स्थान की रक्षा करना है जो मानव पिण्ड में सर्वाधिक मर्मस्थान माना जाता है। इस शिखाबन्धन का ही फल है कि भारतीय ऋषियों के लिखे हुए व्याकरण दर्शन आदि शास्त्र आज भी उनके विशिष्ट मस्तिष्क होने के साक्षी हैं। शिखाधारण से यश तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति मानी गई है यशसे श्रियै शिखा।

इस प्रकार शिखाधारण का धार्मिक वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक महत्त्व है।

संस्कारों की वैज्ञानिक उपयोगिता

• वायुनन्दन पाण्डेय

ईश्वर ने जगत् का निर्माण कर जीवों के कल्याण हेतु इस ससार का समुचित सञ्चालन करने हेतु नियम भी बनाए हैं यह नियम ही वेद है इसे ईश्वरीय सविधान कहा जाता है। अत वेदोक्त कर्मानुष्ठान ही मानवमात्र के कल्याण का साधन है। इसमें प्रत्यक्षवाद बुद्धिवाद विज्ञानवाद का अवसर ही नहीं है। क्योकि प्रत्यक्ष या अनुमान से जिसका ज्ञान नहीं हो सकता उसको हम वेद से जानते हैं यहीं वेद की वेदता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एव विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

उपनिषद भी नैषा तर्केण मतिरापनेया ब्रह्मसूत्र भी तर्काप्रतिष्ठानात् कहकर वेद विषयों में तर्क तथा बुद्धिवाद का निषेध करते हैं। पुराण भी कहते हैं कि अचिन्त्य पदार्थों में तर्क की योजना नहीं करना चाहिए।

अचिन्त्या खलु ये भावा न तास्तर्केण योजयेत् ।

वेदाविरुद्धतर्क को तर्काभास कहा जाता है। आगमविरुद्धत्वात् । तो भी आधुनिक भौतिकवाद विज्ञानवाद के चकाचौंध से मुग्ध हुई लोगों की बुद्धि तब तक किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करती जब तक उसे विज्ञान की कसौटी पर कसकर निरख न ले। ऐसी स्थिति में वेदविहित कर्म धर्म सस्कार आदि के विधान में क्या वैज्ञानिकता है इसका भी यथासभव निरूपण किया जाना उचित ही है।

इस ससार में हम चार प्रकार की सृष्टि देखते हैं उद्भिज जो भूमि तोडकर निकलते हैं जैसे वृक्ष लता गुल्म आदि। इनमें प्राण है ये उत्पन्न होते हैं बढते हैं विनष्ट होते हैं इनमें अन्तश्चेतना भी है केवल अन्त करण नहीं है (इनमें मन बुद्धि चित्त अहकार नहीं है) ये अचल हैं। ये नीचे (सोर से) खाद्य ग्रहण करते हैं ऊपर उसे ले जाते हैं। २ स्वेदज जो पसीने से उत्पन्न होते हैं जैसे जू, खटमल ३ जरायुज जेर = नाल में लिपटे उत्पन्न होते हैं इसमें चतुष्पाद पशु मनुष्य आदि आते हैं। ४ अण्डज अण्डा से उत्पन्न पक्षी मछली आदि।

इनमें उदिभज में चेतना की एक कला होती है स्वेदज में दो कला अण्डज में तीन कला पशुओं में चार कला एव मनुष्यों में पाच कलाए चेतना की विकसित होती हैं।

मनुष्य पञ्चेन्द्रिय सम्पन्न होता है ज्ञान वान् है अत यह स्वय विवेकी है प्रकृति इन्हें इनके विवेक पर छोड देती है यह अपनी चेतना का अधिक से अधिक विकास कर सकता है यह विद्या तथा सद्गुणों का अर्जन कर सत्पुरुष बन सकता हे यह निष्काम कर्म योग द्वारा सुखदु ख द्वद्वातीत जीवन्मुक्त महापुरुष परोपकारी बन सकता है। तत्वचिन्तन कर आत्मसाक्षात्कार कर सकता है देवत्व साम्राज्य पारमेष्ठय आदि का पद प्राप्त कर सकता है परम पद प्राप्त कर सकता है। मानव ब्रह्मा के निर्माणकला का उत्कृष्ट निदर्शन है। सृष्टि विकास की चरम सीमा है इसीलिए मनुष्य जन्म को दुर्लभ कहा गया है। परन्तु यह दुर्गुणों में लिप्त होकर अध पतन प्राप्त कर सकता है। आसुरी एव पाशविक वृत्ति से असुर दुर्दान्त पशु भी बन सकता है।

इसका कारण है कि जिस प्रकृति से सृष्टि का निर्माण होता है वह त्रिगुणा मक है। सत्वगुण रजोगुण तमोगुण की साम्यावस्था है। अर्थात् तीनों गुणों का बराबर बराबर रहना ही प्रकृति है। इस स्थिति में कोई क्रिया नहीं होती परन्तु जब पुरुष सम्पर्क या ईश्वरेच्छा से इसमें क्षोभ होता है तो एक गुण दूसरे गुण को दबाकर उद्रिक्त (बढ) हो जाता है। तब क्रिया होती है उस प्रकृति से महत् तत्त्व अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है यह बुद्धि भी त्रिगुण है। महत्तत्त्व से अहकार इससे पञ्चतन्मात्रा (रूप रस ग ध स्पर्श शब्द) पञ्चतन्मात्रा से पञ्चभूत (पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश) एकादश इन्द्रिया अर्थात पाच कर्मेन्द्रय पाच ज्ञानेन्द्रिय मन इन्हीं चौबीस तत्वों से सारी सृष्टि का निर्माण हुआ है ये सभी अपने कारण प्रकृति के गुणों से युक्त हैं। सत्त्वगुण प्रकाशस्वरूप सुखमय है। ज्ञानमय है। रजोगुण प्रवृत्तिकारी तथा दु खमय है तमोगुण मोहमय प्रमाद तथा आलस्य कारी है। इन गुणों की वृद्धि तथा ह्रास हुआ करता है सभी कार्य इन्हीं गुणों से होता है अर्थात् कुर्सी बनानी है तो बनाने वाले वर्द्धकी (बढई) को कर्सी बनाने का ज्ञान हो यह सत्वगुण है फिर बनाने में प्रवृत्ति हो यह रजोगुण है तब वह बसुला लेकर लकडी को काटना छीलना शुरू करेगा। यदि वह छीलता ही चला जाय तो धीरे धीरे सारी लकडी समाप्त हो जायेगी अत उसे एक निश्चित बिन्दु पर रुकना ही होगा यह तमोगुण है। इस प्रकार कारु को ज्ञान हो क्रिया में प्रवृत्ति हो फिर सम्पन्नता की स्थिति में रुकावट हो तो कार्य होता है।

हम दैनिक जीवन में इन गुणों का अनुभव भी करते हैं कभी हमारी बुद्धि में प्रकाश होता है चित्त शान्त होता है मन प्रसन्न रहता है तो समझ लो कि सत्वगुण का उद्रेक हुआ है।

कभी हम चञ्चल हो जाते हैं चित्त व्यग्र और खिन्न हो जाता है तो समझें कि रजोगुण की वृद्धि हुई है। कभी हम आलस्य प्रमाद निद्रा तन्द्रा मोह में पडे रहते हैं कुछ करने की कम में प्रवृत्ति नहीं होती तब समझें कि तमोगुण की वृद्धि हुई है। इसी प्रकार किसी एक वस्तु से हमें सुख मिलता है उसी से हमें दु ख मिलता है उसी में हमें मोह भी होता है

इससे समझ लें कि यह ससार ही त्रिगुणात्मक है। जैसे पुत्र उत्पन्न हुआ इससे बडी प्रसन्नता हुई सुख मिला वही पुत्र अस्वस्थ हुआ तो चिकित्सार्थ भाग दौड में व्यग्रता तथा उकसे कष्ट को देखकर दु ख हुआ यदि चिकित्सक रोग को असाध्य कह दिया तो हाय हम मरे यह विलाप करने लगे यह मोह है। ससार की सभी वस्तु त्रिगुणात्मक है। दूसरे दर्शनों में प्रकृति को माया शब्द से कहा गया है यह भी त्रिगुणात्मक है हम पहले कह आये हैं कि बुद्धि त्रिगुणा मक है तो जिस समय रजोगुण के सम्ब ध से राजसी वृत्ति तमोगुण के कारण तामसी वृत्ति बनती है उस समय दुर्गुणों का विकास होने लगता है आसुरी वृत्ति से बुद्धि आच्छादित हो जाती है हम निषिद्ध आचरण करने लगते हैं। यही कारण है कि उन्नत पद पर आसीन व्यक्ति भी भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाता है पतन को प्राप्त करता है कोई किसी पर मिथ्या आरोप भी स्वार्थवश लगाता है यह भी भ्रष्टाचार ही है। अत पाशविक वृत्ति को विनष्ट कर उत्तम मानवता पूर्णमनुष्यत्व के विकास के लिए सस्कार आवश्यक है। आज का अभिनव बालक कल राष्ट्र का कर्णधार भी हो सकता है। अत बालकों की मन शुद्धि बुद्धि शुद्धि चित्त शुद्धि शरीर वाणी की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है ये सारी शुद्धिया सस्कार से ही सम्भव हैं अत सस्कार करने की आवश्यकता है।

सस्कार शब्द का अर्थ है मानवों के मलापनयन अतिशय गुणाधान परिपूर्णता हेतु जाने वाली सम्यक् भूषणभूत क्रिया। सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से करण में या भाव में घञ् प्रत्यय करके पुन भूषण अर्थ में सुट करके सस्कार शब्द बनत है इसका विग्रह है सस्क्रियतेऽनेन अथवा सस्करण सस्कार । जैसे खान से निकले हुए मणि या रत्न मृत्तिका आदि से लिप्त रहते हैं उनमें चमक नहीं रहती है उन्हें शाण पर घिस कर (सस्कार कर) उनमें मिट्टी आदि के ससर्ग से जो मल है उसे दूर करके चमत्कार पैदा किया जाता है वैसे ही उत्पन्न बालक में माता पिता रज और वीर्य से उत्पन्न होने के कारण जो दोष है उसे दूर कर उसमें पूर्ण मानवता का विकास करने के लिए सस्कार किया जाता है।

यह सस्कार तीन प्रकार का होता है १ मलापनयन २ अतिशयाधान ३ हीनाडगपूर्ति। ये सस्कार लौकिक वस्तुओं में भी किए जाते हैं। जैसे जब शीशे पर मल जम जाता है बिम्ब प्रकाशन की शक्ति जब उसमें क्षीण हो जाती है तब उसमें चूना घिसकर उसका मलापनयन सस्कार किया जाता है जिसमें उसमें पुन मुख आदि अग साफ साफ दिखने लगता है। हाथी आदि के मस्तक को धोकर धूली आदि स्वच्छ कर पुन उसमें चमक लाने के लिए सिन्दूर तेल आदि से अतिशयाधान सस्कार किया जाता है जिससे उसमें अधिक चमक आ जाता है। यह सस्कार आजकल लकडी के बने सामानों में चमक लाने के लिए किया जाता है। घरों में चूना आदि लगाकर भोज्य पदार्थों में घृत आदि का छौंक मसाला आदि द्वारा वस्त्रों का फेनिल आदि से सस्कार किया जाता है। फरसा तथा छूरी तेज धार होने पर भी जब तक उसमें बेट लगाकर हीनाडग की पूर्ति न किया जाय तब तक कार्य करने में समर्थ नहीं होते इसे हीनाडगपूर्ति सस्कार कहते हैं।

इसी प्रकार बालकों के मलापनयन के लिए गर्भाधानादि सस्कार किये जाते हैं। अतशयाधान के लिए उपनयपादि सस्कार हैं जिन्हें करने से वेदाध्ययन में अधिकार प्राप्त होता है अध्ययन से सदगुणों का विकास होता है। विवाह सस्कार से हीनाडगपूर्ति होती है यज्ञादि में सपत्नीक का ही अधिकार है पितृ ऋण दूर करने के लिए पुत्र उत्पन्न करना आवश्यक है यदि विवाह सस्कार नहीं होगा तो पुत्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती केवल पुरुष अधूरा है अत विवाह सस्कार से हीनडग की पूर्ति होती है।

इसीलिए मनु कहते हैं

वैदिकै कर्मभि पूण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्य शरीरसस्कार पावन प्रेत्य चेह च।।
गार्भै र्होमै र्जातकर्म चौडमौञ्जी निबधनै ।
बैजिक गार्भिक चैनो द्विजानामपमृज्यते।। (मनुस्मृति २/२६ २७)

मानव केवल जन्ममात्र से मानव नहीं होता सस्कार करने से उसमें मानवता (पूर्ण मनुष्यता) आती है इसीलिए उन्हें द्विज कहा जाता है जो केवल जन्म से नहीं प्रतयुत जन्म और सस्कार से पैदा होते हैं। द्वाभ्या जन्मसस्काराभ्या जायते इति द्विज । यह द्विज शब्द की व्याख्या है। अत वैदिक मन्त्रों से युक्त क्रियाओं के द्वारा द्विजातियों का सस्कार करना चाहिए वह पापों का नाश करता है यह सस्कार पर लोक में भी सुख देता है दुर्गुणों और पापों का विनाश कर बुद्धि का विकास कर वेदादिशास्त्रों के अध्ययन के योग्य बनाने से इस लोक में भी कल्याणकारी है।

गर्भाधान जालकर्म चूडाकरण यज्ञोपवीत आदि सस्कारों से रजो वीर्य जनित दोष (मल) छटता है। विद्याध्ययन में अधिकार प्राप्त होता है जिससे विद्या फलवती होती हैबुद्धि की शुद्धि होती है और प्रखर होती है सदाचार में दृढ रहती है कभी कदाचार में प्रवृत्त नहीं होती चित्त मन सब शुद्ध होता है। शरीर और इन्द्रिया भी शुद्ध होती हैं।

छान्दोग्य श्रुति है अन्नमय हि मन यह मन अन्नादि भौतिक पदार्थों से ही तृप्त होता है इसीलिए लोकोक्ति है जैसा खाऐं अन्न वैसा बने मन । यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है कि भडग आदि मादक पदार्थ पीने से मन बुद्धि दोनों प्रभावित होते हैं कुप्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। अत मन शुद्धि के लिए भक्ष्य भोज्य आदि पदार्थों की शुद्धि भी आवश्यक है।

इसीलिए शास्त्रों में बलिवैश्वदेव करने का विधान है कुछ हिसाए अनिवार्य रूप से अनजान में भी होती हैं जैसे कृषि कर्म में हल चलाने से खेत सींचने से जमीन में रहने वाले कुछ कीडे मर ही जाते हैं पुन अन्न पीसने में भी घून मरते ही हैं झाडू लगाने में अन्न पकाते समय भी कछ कीट मरते ही हैं इन अज्ञात या ज्ञात पापों से अन्न दूषित

होता है उसके शुद्धि के लिए बलिवैश्वदेव करना चाहिए अनन्तर अतिथि सेवा करनी चाहिए फिर भगवान को अर्पण कर भोग लगाकर अन्न खाना चाहिए गोग्रास पहले निकालना चाहिए भोजन के बाद कत्ते को कवरा देना चाहिए इससे वह अन्न शुद्ध होता है उस अन्न के रस से पुष्ट शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि भी शुद्ध होते हैं।

आज खान पान भ्रष्ट होने से ही पढे लिखे बडे बडे नेता विद्वान् उच्च पदासीन भी भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाते हैं अपने को राष्ट्र का कर्णधार कहने वाले भी राष्ट्र हित की उपेक्षा कर स्वार्थलिप्त नितान्त भ्रष्ट आचरण करते हैं एक दल के लोग दूसरे दल के अच्छे से अच्छे नेताओं पर दोषारोपण करने की कपटपूर्ण चेष्टायें करते हैं ये पढे लिखे जब भ्रष्टाचार में लिप्त होते हैं विपरीत आचरण करते हैं तो भयानक राक्षस बन जाते हैं।

साक्षरा विपरीताश्चेत् राक्षसा एव केवलम् ।

आज जो स्वदेश प्रेम का अभाव देश जाति के प्रति स्वाभिमान का अभाव लोगों में दीखता है इसका मूल कारण सस्कार विहीनता है। इनमें कर्तव्यनिष्ठा धर्मनिष्ठा सत्यनिष्ठा कुछ भी तो नहीं हे। अत देश की रक्षा कर्मनिष्ठा सत्यनिष्ठा प्राणिमात्र की भलाई दीन दुखियों के उद्धार के निमित्त सदबुद्धि मन शुद्धि शरीर इन्द्रियों की शुद्धि की आवश्यकता है इन शुद्धियों के लिए सस्कार की आवश्यकता है। विश्व ब धुत्व भावना भी सस्कार से ही पुष्टि होगी।

सस्कारों की व्यापकता

ये सस्कार जब से सृष्टि (मानवी) है तबसे प्रचलित हैं सम्पूर्ण ससार में इनका प्रचार प्रसार है।

सृष्टि

मनु और शतरूपा ये दोनों ब्रह्मा के मानस पुत्र हुए अत स्वयभू ब्रह्मा के सन्तान होने के कारण स्वायभुव कहलाते हैं इन्हीं की सन्तान मनुष्य मानव मानुष शब्द से कहे जाते हैं इन्हीं को मानवी सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने के कारण आदिम जिसका अपभ्रश आदम हो गया कहा जाता है। इनके पहले ब्रह्मा जो सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक होने के कारण लोक पितामह कहे जाते हैं वे मानसी सृष्टि करते रहे। इन सबकी शिक्षा दीक्षा सस्कार एक था। अनन्तर कालक्रम से राजा प्रियव्रत जब समस्त अखण्ड भूमण्डल के सम्राट हुए तो इस पृथ्वी का समुद्र (पर्वत वनों) के द्वारा सात द्वीपों में विभाग हो गया। प्रजायें पूरे भूण्मडल में विभक्त हो गयीं उनकी रक्षा अनुशासन आदि करने के लिए प्रियव्रत के पुत्र ही एक एक द्वीपों के अधिपति हुये इनके शासन में सभी की शिक्षा दीक्षा सस्कार

एक ही था धीरे धीरे काल देश परिस्थित वश उनकी शिक्षा सस्कार आचार में भेद आता गया। विधिया बदलती गयीं परन्तु मूलत सस्कार सब देशों में होता आ या होता है। जैसे पुत्र जन्मोत्सव जन्मदिवस नामकरण विवाह उपासना पूजन अन्त्येष्टि आदि सस्कार प्राय सर्वत्र प्रचलित हैं। मूलत विधिया भी वहीं हैं परन्तु विधानों में भेद है वह देश काल परिस्थित वश है। जैसे पूजन में दीपक जलाना फूलमाला अर्पण करना धूप इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य चढाना नैवेद्य आदि का अर्पण करना प्राय सभी देशों में प्रचलित हैं हा भले वे दीप के जगह (मोमबत्ती) मधूत्थ का प्रयोग करते हों। कहीं निर्गुणोपासना चलती है कहीं सगुण कहीं तान्त्रिक विधि है कहीं वैदिक भले वह बहुत विकृत होकर अत्यन्त भिन्न हो गयी है। आज लोग विश्वबन्धुत्व विश्वमैत्री राष्ट्रैक्य की कल्पना कामना करते हैं अमृतस्य पुत्रा वयम् माता भूमि पुत्रोऽह पृथिव्या हम सभी मानव मनु की सन्तान हैं समग्र विश्व में फैले हुए हैं हम सब की आत्मा वही परमपिता परमेश्वर है विना यह समझे क्या यह सम्भव है ?

इसे समझने के लिए हमारा मन बुद्धि चित्त शरीर इन्द्रिय सब शुद्ध होने चाहिए यह शुद्धि सविधि किए गये सस्कारों से ही सम्भव है। दुर्गुणों का त्याग सद्गुणों का आधान अत्यन्त आवश्यक है। आर्ष विद्याओं का अध्ययन मनन ईश्वरोपासना होनी चाहिए। नहीं तो काम क्रोध लोभ इतने प्रबल खल हैं कि किस मानव को कितना दुर्दान्त दानव कब बना देंगे कुछ कहा नहीं जा सकता।

सस्कारों की आवश्यकता

ये सस्कार ही सविधि किए गये मानव को गन्तव्य स्थान परमेश्वर की प्राप्ति रूप मोक्ष तक पहुचाते हैं अत इनका समुचित समय पर उचित विधि से सम्पादन करना चाहिए।

अत मनु कहते हैं

स्वाध्यायेन व्रतै र्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतै ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय क्रियते तनु ।। (मनुस्मृति २/२८)

वेदाध्ययन से मद्य मास के त्याग करने से व्रत (नियम) लेने से चरु घृत आदि से साय प्रात हवन करने से त्रिविधविधोक्त कर्मों से ब्रह्मचर्यावस्था में देवर्षिपितृतर्पणो से गृहस्थावस्था में पुत्रोत्पादन से पञ्चमहायज्ञों से ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से यह शरीर तथा इन्द्रिय मन बुद्धि सहित आत्मा को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है तब विश्वबन्धुत्व विश्वात्मैक्य विश्वमैत्री आदि दृढनिष्ठाए प्राप्त होती हैं। धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धर्म मिटाने से नहीं प्राप्त होगी।

पशु तो प्राकृत पदार्थों का जिस रूप में है उसी रूप में उपभोग कर लेते हैं परन्तु मानव प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों का सस्कार कर के उपभोग करता है। जैसे यव गेहू धान आदि अन्नों को कूटछानकर पीस कर अग्नि से पकाकर घी तेल आदि से तल कर भक्षण करता है उसी प्रकार कगन बनाने के लिए स्वर्ण को पहले अग्नि में तपाकर मलापनयन सस्कार करता है पुन उसे गढकर कगन का रूप देता है यह अतिशयाधान करता है पश्चात् उसमें रत्न जडकर हीनाङग पूर्ति सस्कार करता है तब वह चमकता हुआ आभूषण बहुमूल्य बन जाता है। वह किसी रमणी की कलाई को भूषित करता है। इसी प्रकार मानव अपने निवास स्थान उद्यान परिधान आदि का सस्कार करता ही रहता है। उसकी सस्कारमयी प्रवृत्ति है। जैसे शरीर का मल धोने के लिए सस्कार आवश्यक है।

सस्कारों के भेद

गर्भाधान पुसवन सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रिया निष्क्रमणोऽन्नाशन वपनक्रिया।।
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधि ।
केशान्तस्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रह ।।
त्रेताग्नि (चिताग्नि) सग्रहश्चेति सस्कारा षोडशस्मृता ।।
(व्यासस्मृति १/१३ १५)

अर्थात् १ ग ार्धान २ पुसवन ३ सीमन्त ४ जातकर्म ५ नामकरण ६ निष्क्रमण ७ अन्नप्राशसन ८ चूडाकर्म ६ कर्णबेध १ व्रतब ध ११ वेदारम्भ १२ केशान्त १३ समावर्तन १४ विवाह १५ अग्न्याधान १६ त्रेताग्नि या चिताग्नि सग्रह ये सोलह सस्कार कहे गए हैं।

इनमें १ से ६ तक सस्कार स्त्रियों के लिए भी पौराणिक मत्रों से विहित हैं। विवाह सस्कार वैदिक मत्रों से करने का विधान है। शूद्रों के लिए दस सस्कारों का लौकिक मन्त्रों द्वारा या अमन्त्रक करने का विधान है।

नवैता कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जक्रिया स्त्रिय ।
विवाहो मन्त्रतस्तस्या शूद्रस्यामन्त्रतो दश।। (व्या स्मृ १२/१५ १६)

महर्षि जातूकर्ण्य के अनुसार सोलह सस्कार निम्नाङिकत है।

१ गर्भाधान २ पुसवन ३ सीमन्त ४ जातकर्म ५ नामकरण ६–अन्नप्राशन ७ चौलकर्म ८ मौञ्जीबन्धन ६ १२ चतुर्वेद व्रत १३ केशान्त (गोदान) १४ समावर्तन १५ विवाह १६ अन्त्येष्टि।

मनुस्मृति में १ गर्भाधान २ जातक कर्म ३ नामकरण ४ निष्क्रमण ५ अन्नप्राशन ६ मौञ्जीबन्धन ७ वेदाध्ययन ८ केशान्त ६ समावर्तन १ विवाह ११ अग्निहोत्र आदि का ही वर्णन है। (वानप्रस्थ सन्यास अन्त्येष्टि) का भी निर्देश है।

पारस्कर गृह्य सूत्र में १२ सस्कारों का वर्णन है।

अधिकार भेद से ४ सस्कार ८ गुण मिलाकर कुल ४८ भी सस्कार वर्णित हैं। श्रुति कहती है यस्यैते चत्वारिंशत् सस्कारा इत्यादि यस्येते चत्वारिंशत् सस्कारा अष्टौआत्मगुणाश्च स ब्राह्मण सायुज्य प्राप्नोतीति गौतम ।

परन्तु ये मुमुक्ष जो विरक्त ब्राह्मण हैं उसके लिए है सर्वसाधारण के लिए नहीं। ये चालीस सस्कार निम्नाडिकत हैं ऊपर वर्णित १६ सस्कारों में से १ ८ तक तो वे ही हैं। ६ १२ चार वेदव्रत १३ समावर्तन १४ सहधर्मिणी सयोग १५ १६ देवयज्ञ ऋषि यज्ञ पितृ यज्ञ मनुष्य यज्ञ पञ्चमहाभूत यज्ञ २ अष्टका २१ पार्वण श्राद्ध २२ श्रावणी २३ आग्रहायणी २४ चैत्री २५ आश्वयुजी ये सात पाकयज्ञ २७ ३३ अग्न्याधान अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास चातुर्मास्य आग्रयणेष्टि निरुढ पशुबलि सौत्रामणि ये सात हविर्यज्ञ ३४ ४ सप्त सोमयज्ञ अग्निष्टोम उक्थ षोडशी बाजपेय अतिराज आप्तोयमि ये चालिस सस्कार हैं और आठ आप्तगुण हैं।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में ११ ही सस्कारों का वर्णन है। इस सभी सस्कारों का शास्त्र में वर्णन तो है परन्तु अधिकारी भेद से पहले १६ सस्कार ही गृहस्थों में प्रचलित थे अब उनमें भी बहुत से सस्कारों का प्रचलन बन्द है जैसे अत्यन्त आवश्यक गर्भाधान पुसवन सीमन्त जातकर्म अदि प्राय लोग भूल चुके हैं नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन मुण्डन यज्ञोपवीत समावर्तन विवाह वश ये ही सस्कार प्रचलित हैं इनमें भी जनेऊ लोग जब उस लडके का विवाह करना होता है करा देते है। प्राय विवाह सस्कार को छोडकर और सस्कार नाममात्र से हो जाते हैं। सविधि नहीं होता हा प्रदर्शन मात्र रहता है। जबकि शिखा और सूत्र सभी कर्मों में आवश्यक है।

सस्कारों का अधिकारी सभी व्यक्ति सभी कार्य (सस्कारों) के अधिकारी नहीं होते यह अधिकार निर्णय बहुत सोच विचार कर किया गया है किसी से पक्षपात या घृणा करके नहीं किया गया है। शूद्रों की वर्ण की उच्चारण शक्ति बहत ही स्थूल है। वे मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते अत उनका सस्कार अमत्रक करने का विधान है। ऐसे स्त्रियों का भी अमन्त्रक ही सस्कार करने का विधान है। यह अधिकार लौकिक व्यवहारों में भी देखा जाता है। अधिकारी ही समुचित क्रिया कलाप कर सकता है। शास्त्र सबके कल्याण के लिए कर्म विधान करते हैं अत जिसको जो कर्म करने का विधान हो उसे वहीं कर्म करना चाहिए। न्यायाधीश दण्ड विधान कर सकता है। साधारण जन नहीं। अगर साधारण

है अत वेद शास्त्र ने जो कर्म जिसके लिए बताये हैं उसको वह कर्म करने का अधिकार है।

सस्कार पूर्वाङ्ग प्राय सभी सस्कारों में पञ्चाङग विधान को पूर्वाङग कहते हैं। तात्पर्य अङगहीन कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता अत कर्म को सम्पन्न करने के लिए उसको अङगसम्पन्न करना चाहिए अङगहीन सभी प्राणी सभी जीव अपूर्ण हैं सभी पदार्थ अपूर्ण हैं पूर्ण होने को ही सम्पन्न कहते हैं साङगोपाङग सम्पन्न कर्म ही परमसुख का कल्याण का साधन होता है। वे अङग हैं १ स्वस्तिपुण्याहवाचन २ मातृकापूजन ३ वसोर्धारापूजन ४ पितृपूजन (आभ्युदायिक श्राद्ध) ५ आचार्यवरण।

इन सभी कर्मों की निर्विघ्नता के लिए प्रथम गणेशाम्बिका पूजन भूमिपूजन पूर्वक कलश स्थापन करना चाहिए।

इन कर्मों की विधि–भूशुद्धि प्रथम गाय के गोबर से भमि को लिपना चाहिए इससे स्थान शुद्ध हो जाता है। गोबर में कीटाणु नाश करने की शक्ति है पुन वहा आटा रोली हल्दी आदि से सुन्दर चौक पूरना चाहिए इससे दूषित कीटाणु भी नष्ट होते हैं स्थान की शोभा भी बढती है कर्ता का भी मन प्रसन्न होता हैं पुन यजमान सपत्नीक स्नानादि से शरीर शुद्ध कर पवित्र स्वच्छ वस्त्र धारण कर उत्तरीय वाम कन्धे पर रखकर पूजा स्थान में आवे कश कम्बल आदि का आसन बिछाकर बैठे। सर्वप्रथम आचमन करे शिखाबन्धन कर नूतन यज्ञोपवीत धारण कर पवित्री धारण कर कुश के जल से अपने शरीर को आसनतथा पूजन सामग्री से सींच(शुद्ध) कर प्राणायाम गायत्री जप आदि से पूर्ण शुद्ध होकर ईश्वर का ध्यान कर वातावरण की शुद्धि के लिए शान्तिपाठ तथा माङगलिक श्लोकों का पाठ करना चाहिए। अनन्तर शुद्धचित्त से कर्तव्य कर्म करने की प्रतिज्ञा सकल्प करना चाहिए। पुन पञ्चाङग पूजन सहित सकल्पित कर्म को सम्पन्न करना चाहिए।

सामग्री प्रत्येक सस्कारों की सामग्री भिन्न भिन्न होती है वह अपने आचार्य पुरोहित के आज्ञानुसार एकत्रित करना चाहिए। परन्तु सभी (सामान्य) पूजन में आवश्यक सामग्री का और उनकी उपयोगिता का विचार यहा किया जा रहा है।

देवपूजन पूजन करने के लिए जिन सामग्रियों की अपेक्षा है उनका विवरण देने के पूर्व पूजन सम्ब थी कुछ बातें जानना आवश्यक है जैसे हम किसी श्रेष्ठव्यक्ति को गुरु को आदरपूर्वक बुलाते हैं तो जब वह आता है तो खडे होकर प्रणाम करके उन्हें आसन पर बैठाते हैं पुन उनका पैर धोते हैं हाथ धुलाते हैं मुख धुलाते हैं स्नान कराते हैं वस्त्र पहनने को देते हैं जनेऊ देते हैं पुन उपवस्त्र उत्तरीय देते हैं पुन चन्दन लगाते हैं माला पहनाते हैं इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य का लेप या देह और वस्त्रों पर छिडकाव करते हैं सजावट की वस्तु देते हैं सुगन्धित धूप आदि देकर उस स्थान को सुगन्धित कर देते हैं स्नान के बाद मधुपर्क (दधि मधु घृत) पक्का नैवेद्य आदि जलपान के लिए देते हैं पुन

प्रकाश करने के लिए दीप भी जलाते हैं अनन्तर उन्हें भोजन कराते हैं जिसमें लेह्य चर्व्य चोष्य पेय चतुर्विध अन्न षडरस व्यञ्जन मोदकादि नानाविध नैवेद्य ऋतुफल आदि देते हैं। पीने के लिए शीतल सुगन्धित जल देते हैं पुन हाथ मुह धुलाते हैं पुन सुगन्धित द्रव्य (हाथ मुख में) लेप करने के लिए देते हैं लवडग इलायची पान सुपारी आदि मुखशुद्धि के लिए देते हैं। उनकी आरती करते हैं पादसवाहन करते हैं पखा झलते हैं उनके गुणों का यश का वर्णन करते हैं पुन उन्हें विदाई में दक्षिणा वस्त्रादि भी देते हैं। नमस्कार कर कष्ट के लिए क्षमा प्रार्थना कर विदा करते हैं अपनी आवश्यकता भी कहते हैं उनके अनुग्रह या कृपा की कामनाभी करते हैं।

ठीक यही पूजा की विधि है हम ध्यान धर कर मत्र द्वारा आवाहन करते हैं तो देवगण या इष्ट देवता वहा पहुच जाते हैं यह मन्त्र ही देवता हैं आज विज्ञान द्वारा सिद्ध है कि दूर अतिदूर रहने वाले व्यक्ति को हम फैक्स द्वारा सूचित करते हैं तो सूचना मिल जाती है हम बुलाते हैं तो वह आ भी जाता है। इनदेवताओं की भी हम मनुष्य जैसी आकृति है। श्रुति में कहा भी है मनुष्यवदग्ने तो हम अपनी शक्ति के अनुसार जो सामग्री श्रेष्ठ अतिथि सत्कार में देते हैं उसी सामग्री की आवश्यकता देव पूजन में भी पडती है अत वे सामग्री है

तीर्थजल या शुद्ध जल पञ्चामृत खडादाना (बिना टटा) चावल वस्त्र उपवस्त्र जनेऊ चन्दन केशर विविध फूल माला तुलसी (इत्र) धूप दीप नैवेद्य ऋतुफल पञ्चमेवा पान लवडग इलायची सुपारी दक्षिणा आरती प्रदक्षिणा नमस्कार स्तुति मन्त्र पुष्पाञ्जलि। ये सामग्रिया अपनी शक्ति के अनुसार जुटाना चाहिए जो समर्थ हों वे सब जुटावे असमर्थ अनेक वस्तुओं के अभाव में केवल चावल से काम चला लेता है। ये सामग्री षोडशोपचार पूजन में लगती है। यह आवश्यक नहीं कि षोडशोपचार ही किया जाय देवता तो भावना से श्रद्धासुमन से प्रसन्न होते हैं न वस्त्र हो तो सूत ही चढा दो नैवेद्य में लड्डू (मोदक) न हो तो गुड ही सही या जो वस्तु न उपलब्ध हो वहा चावल ही चढा दिया जाता है। या पञ्चोपचार ही करो इसमें केवल चन्दन फूलमाला (दूर्वा) धूप दीप नैवेद्य ही लगता है। हा श्रद्धा अपेक्षित है। अपनी-अपनी शक्ति (सामर्थ्य) के अनुसार सामग्री एकत्र करें।

उपयोगिता

कुश कुश शास्त्रों में परमपवित्र माना गया है हाथ में धारण करने से हाथ की शुद्धि हो जाती है हाथ से ही पूजन आदि किया जाता है अत कुश की पवित्री धारण करनी चाहिए। कुश का ही आसन विछाना चाहिए यह कुश भाद्रपद मास की अमावस्या को ग्रहण करना चाहिए वह एक वर्ष तक चलता है सोमावती अमावस्या अगर भाद्रपद महीने में

पडे तो अति उत्तम है उस समय लिया हुआ कश अयातयाम कहलाते हैं अन्य दिनों में उखाडा गया केवल एक दिन ही चलता है। कश यज्ञ भगवान का रोम माना गया है। विज्ञान की दृष्टि से भी कश में अनेक गुण सिद्ध किये गये हैं यह रोगवारक है विद्युत प्रवाह में प्रतिरोधक है। शास्त्रों में तो कुशा को आयुष्य वर्धक भी कहा गया है। यह हृदयरोगवारक भी है। यह जडसहित हो एक बित्ते से बडा न हो इसके पत्ते तथा ऊर्ध्व भाग कटे न हों तो इस का मुद्रा बनाकर अभिमन्त्रित करके हाथ में धारण कर जप आदि करें तो यह विद्युतप्रवाह को भी रोकता है। वशिष्ठ जी ने इसी ब्रह्मदण्ड से विश्वामित्र के सभी शस्त्र विफल कर दिये थे। इसीलिए दोनों हाथ की अगुलियों में शिखा में आसन में कुश का उपयोग करना चाहिए। दो कुशा की पवित्री दाहिने हाथ में ३ कशा की पवित्री बायें हाथ की अनामिका अगुली में धारण करने से कशा का आसन बिछाकर बैठने से सब वातावरण का शीत ताप का प्रभाव शरीर मन को प्रभावित नहीं कर सकता गोबर ऊन में भी वातावरण का प्रभाव विद्युतप्रवाह आदि रोकने का सामर्थ्य है।

पञ्चामृत दूध दही घृत आदि का गुण सभी जानते हैं ये पदार्थ शक्तिवर्धक आयुष्यकारक रोगनिवारक हैं ही सात्विक होने से मन बुद्धि चित्त शरीर सबकी शुद्धि करते हैं।

चन्दन शीतल तापशामक सुगन्धित है वातावरण शोधक है। इसे देवपूजन में भी समर्पित किया जाता है साथ ही स्वय भी लगाया जाता है। देवो भूत्वा देवमर्चेत् । अपने इष्टदेव के अनुरूप चन्दन या भस्म या गोपी चन्दन श्री चन्दन देवी चन्दन आदि धारण करे। इस शरीर में षटचक्र है इन चक्रों में अपने आराध्य देव का ध्यान किया जाता है।

आगम के अनुसार वाक्तत्त्व वेदान्त के अनुसार ब्रह्मतत्त्व या सक्षेप में अपने इष्टदेवों का इन चक्रो में ध्यान किया जाता है। ज्ञान का स्थान शिर वेद श्रुति है श्रवण का साधन श्रवणेन्द्रिय है अत ललाट कान कण्ठ हृदय नाभि में तथा शरीर रक्षा का साधन बाहुओं में चन्दन धारण करना चाहिए।

फूल आदि वातावरण के शोधक हैं सुगन्ध फैलाते हैं यह सुगन्ध भी रोग नष्ट करता है आयुवर्धक है सुगन्धि पुष्टिवर्धनम् कहा गया है। तुलसी पत्र भी कीटाणुनाशक हैं तुलसी पत्र विल्वपत्र रोगनाशक स्वास्थ्यवर्धक हैं इनमें स्वर्ण को गुण पाया जाता है। स्वस्थ मन स्वस्थचित्त ही अनुष्ठान करने योग्य होते हैं कर्म का पूर्ण फल प्राप्त कर सकते हैं इनके गुण आयुर्वेद में भी वर्णित हैं।

दूर्वा दूर्वा में श्रीवृद्धि वशवृद्धि बुद्धिवृद्धि कारक गुण हैं देखे दूर्वा कभी उच्छिन्न नहीं होती कट जाने पर भी अडकुरित हो जाती है गाठ से गाठ बढती जाती है हरी भरी रहती है। इसके अर्पण से बुद्धि विद्या वश की वृद्धि होती है। सिन्दूर व्रण पूरक मर्म स्थान का रक्षक भी है। इसे देवार्पण कर सिर में लगाने से सौभाग्यवृद्धि होती है अबीर आदि

सौभाग्यद्रव्य है दीप जलाने से श्रीवृद्रि होती है धूप दीप आदि वातावरण को शुद्ध करते हैं इसी प्रकार सभी वस्तुओं का प्रत्यक्षसिद्ध गुण है। इन धर्मानुष्ठान से जिस आध्यामिक तत्व का अर्जन किया जाता है उसकी रक्षा हेतु वातावरण की शुद्धि अत्यन्त अपेक्षित है।

कर्माड्गों की उपयोगिता

सपत्नीक यजमान को प्रथम स्नानादि से शुद्ध होकर पूजा के लिए आने पर ग्रन्थिबन्धन करना चाहिए यह दम्पती के मन बुद्धि चित्त की आत्मा की एकता का सूचक है। जन्म जन्मान्तर की एकता का सूचक है दोनों को ग्रन्थि द्वारा एक बनाया जाता है पत्नी शरीर से अलग होने पर भी पति की अर्धांडिगनी (आधा अग) बन जाती है पति जो कुछ शुभ कर्म करता हे उसका आधा फल पाती है।

तीन बार आचमन करने से अन्त करण (मन बुद्धि चित्त) शुद्ध होते हैं। प्राणायाम से चित्त की चञ्चलता शान्त होती है मन स्थिर होता है बुद्धि शुद्ध होती है प्रणायाम आरोग्यवर्धक भी है।

शान्तिपाठ से पञ्चभूतों की शान्ति होती है देशकाल की दैहिक दैविक भौतिक उपद्रवों की शान्ति के लिए ३ बार शान्ति शान्ति शान्ति कहा जाता है।

प्रथम गणपति पूजन हम सभी का शरीर पाच भूतों से बना है इन्हीं पाच भूतों से हमारा जीवन यापन होता है अत इनके अधिष्ठाता देव की उपासना करनी चाहिए।

हम पृथिवी पर ही रहते हैं पार्थिव पदार्थों से जीवन यापन करते हैं अत पार्थिवाधिष्ठान देव गणेश जी का प्रथम पूजन करते हैं। गणेश जी की पत्नी हैं ऋद्धि सिद्धि। पुत्र हैं शुभ लाभ। बुद्धिदाता देव हैं गणेशजी पृथिवी का ही रपान्तर पर्वत है इनका राजा हिमालय है हिमालय की पुत्री भगवती पार्वती हैं। पृथिवी तो भगवान विष्णु की पत्नी हैं परन्तु पार्वती भूतभावन भगवान शिव की पत्नी हैं उन्हीं पार्वती के पुत्र गणेश जी हैं अत इनका प्रथम पूजन किया जाता है। यह अनादि शिव तत्व ही गणेश तत्व है। अत शिव पार्वती के विवाह में भी गणेश जी का पूजन हुआ था।

गणेश गणेश जी गणनायक हैं हमारा नायक कैसा होना चाहिए इसे हम गणेश जी के नाम पर ध्यान दें तो सहज ही ज्ञात हो जायेगा। गणेश जी के कतिपय नाम
१ सुमुख = सुन्दर मुख वाला अर्थात् व्यक्तित्व अच्छा हो आकर्षक हो भव्य हो।
२ एकदन्त = गणेश जी का एक दात बाहर निकला हुआ है इसका तात्पर्य है कि सोच समझकर नायक को एक बात बोलनी चाहिए जो बात मुह से बाहर निकल गयी उसी पर दृढ रहना चाहिए दो बात नहीं करनी चाहिए अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहना चाहिए।
३ कपिल सदा एक रग रहे क्षण क्षण में बदलना नहीं चाहिए। गजकर्ण हाथी के कान

सुनकर देखकर पेट में रखे सब बात पचा ले। व्यक्त न करे। ६ विकट = जिससे कोई अवहेलना न कर सके लोग प्रभावित हों कुछ भयभीत भी रहें। ७ विघ्ननाश सबके विघ्नबाधाओं को दूर करे। ८ विनायक = सभी शुभ कार्यों में कल्याण कार्यों में आगे चलें और सबको उसी कल्याणकरी र्मा पर ले चलें। अपने ध्वज का सम्मान करें पूर्ण गण पर दृष्टि रखें। सबको ज्ञान का प्रकाश दे सन्मार्ग का ज्ञान करावें। गणेश जी महाराज विद्यावारिधि हैं बुद्धि के दाता हैं अत इनका पूजन माता गौरी के साथ (जो गौरी सभी सौभाग्य को देने वाली हैं सभी ऐश्वर्य को देने वाली हैं उनके साथ) सकल विघ्नबाधाओं को दूर करने के लिए किया जाता है।

अनन्तर पृथिवी मा की पूजा करके धान्य पर जलपूर्ण कलश रखकर वरुण पूजन करना चाहिए यह जलतत्व का पूजन है जल और पृथ्वी के सयोग से हमें जीवनोपयोगी अन्न फल औषधि दुग्ध आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं जल हमें तृप्त करता है यह कलश मगलकारी पदार्थ है हम सदा पूर्ण रहे इसलिए कलश का पूजन है अनन्तर सभी की कल्याण कामना से कर्म तथा कर्ता और सभी सम्मिलित सहयोगी की कल्याण कामना से स्वस्ति पुण्याह वाचन करना चाहिए। इससे रोग दोष अकल्याण उपद्रव सब दूर होते है।। शत्रु पराभूत होते हैं उपद्रव तथा ईति भीति शान्त हो जाते हैं। अनन्तर १६ मातृकाए हैं सात घृतमातृकाए हैं इनका पूजन भी धृति पुष्टि तुष्टि श्री आदि प्राप्ति के लिए करना चाहिए।

इसके बाद जिन पिता माता ने हमको पैदा किया पाला पोसा शिक्षा दीक्षा द्वारा हमें जीवन यापन के योग्य बनाया शरीर त्याग के अनन्तर भी सदा हमारे लिए शुभकामनायें किया करते हैं अत इनको अपने मागलिक उत्सव में भूल जाना कृतघ्नता होगी अत अपने अभ्युदय के कार्य में इनका भी पूजन करना चाहिए उसे श्रद्धापूर्वक करने से आभ्युदयिक श्राद्ध या वृद्धिमुख अथवा नान्दीमुख श्राद्ध कहते हैं। इसमें प्रार्थना की जाती है कि हमारे गोत्र बढें परिवार पुत्र पौत्रादि की वृद्धि हो वेदविद्या की वृद्धि हो हमारी श्रद्धा कभी विचलित न हो हम दाता बनें सबको बहुत दें कभी किसी से कुछ याचना न करें हमारे अन्न बहुत हों हमारे यहा अतिथि याचक आदि आवें हम सबका सत्कार करें पर पिताजी कभी ऐसा दिन न आवे कि हमें भी याचना करनी पडे। कितनी उदात्त भावना उत्कृष्ट कामना है यह मत्र वेद में है। गोत्र नो वर्धताम् दातारो नोऽभिवर्धन्ताम् वेदा सन्तति रेव च श्रद्धा च मा नो व्यगमद् बहुदेय च नोऽस्तु। अन्न च नो बहु भवदेतिथीं श्चलभेमहि। याचितारश्च न सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन । इति।

अनन्तर किये जाने वाले कर्म को सागोपाडग पूर्ण कराने के लिए आचार्य का वरण करना चाहिए।

फिर कर्माधिष्ठाता देवता के रप में भगवान विष्णु जो व्यापक आकाश तत्व है उनका पूजन करनाा चाहिए।

नवग्रह पूजन सूर्य भगवान से समस्त जीवों को ऊर्जा प्राप्त होती है प्रकाश तथा जीवनी शक्ति प्राप्त होती है उष्णता प्राप्त होती है स्थावर जगम सबकी आत्मा सूर्य है। ऊर्जा शब्द वेद में ही मिलता है। ऊर्क च मे (शु य वे १८/६) सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।(शु य २६/२४) सूर्य सबको कर्म में प्रवृत्त कराते हैं सूर्य की किरणों में कीटाणु नाश करने की शक्ति है। इनके प्रतिकूल होने से ताप ज्वर आदि रोग होते हैं चन्द्रमा हमें शीतल बनाता है ये सुधाकर है किरणों से अमृत वर्षा कर सभी को तृप्त करते हैं औषधियों के अधिपति हैं इस जगत की उत्पत्ति में अग्नि और सोम प्रधान कारण हैं इनकी अनुकूलता में शान्ति प्रतिकूलता में शीत सर्दी कफादि की वृद्धि आदि उपद्रव होते हैं। अग्निसोमात्मक जगत् यह श्रुति है।

मगल भूमि का पुत्र है यह उग्र प्रकृति का है क्रूर स्वभाव है राजस है अनुकूलता में तो ठीक है प्रतिकूता में रक्तविकार आदि दोष उत्पन्न करता है। बुध चन्द्रमा के पुत्र हैं सौम्य स्वभाव है बुद्धि और कल्पना शक्ति से इनका सम्बन्ध है सौम्य स्वभाव है विपरीत दशा में बुद्धि पर विपरीत प्रभाव डालते है। बृहस्पति अडिगरा ऋषि के पुत्र हैं वाक्यपति हैं विद्या बुद्धि के दाता सत्कर्मनिष्ठ हैं वागधिष्ठाता हैं ये प्राय सबके अनुकूल रहते हैं सदाचारी सधर्मरत के रक्षक हैं इन विपरीत स्थिति में मेधा वुद्धि वाणी पर विपरीत प्रभाव पडता है। शुक्र सौम्य स्वभाव भृगु महर्षि के पुत्र बहुत बडा तपस्वी हैं इनका शुक्र (वीर्य) पर सीधे प्रभाव पडता है। शनि ये सूर्य के पुत्र हैं छाया के गर्भ से उत्पन्न हैं बडे ही मनस्वी ये अनूकूल रहने पर सारी उन्नति करा देते हैं विपरीत स्थिति में सब नष्ट भी कर देते हैं। इनका प्रभाव मन बुद्धि सब पर पडता है। राहु केतु ये एक ही ग्रह के दो भाग हैं सिहिका के पुत्र हैं। ये तमोगुणी ग्रह हैं। अमृत मन्थन के समय जब विष्णु भगवान देवता और दैत्यों को भिन्न भिन्न पक्ति में बैठाकर देवों को अमृत पिला रहे थे उस समय छल से छिपकर राहु देवपक्ति में सूर्य चद्रमा के बीच आकर बैठ गया। और अमृत पान कर लिया इस धोखे से क्रुद्ध विष्णु ने उसका सिर काट लिया पर वह ता अमृत पीकर अमर हो चुका था अत एक से दो हो गया शिरोभाग राहु तथा धड भाग केतु कहलाया। भगवान ने इन दोनों ग्रहों के मध्य में स्थापित किया ये पापग्रह है छायारूप तमोग्रह है इनका कुप्रभाव उदररोग उत्पन्न करता है। ये नवग्रह हैं सभी ग्रह १२ राशियों पर भ्रमण करते रहते हैं जब ये ग्रह जन्मराशि या लग्न से ४/८/१२ स्थान में आते हैं तो विपरीत फल देते हैं। पापग्रह १ २ ५ ७ ६ स्थान में भी बुरे फल देते हैं परन्तु इनके प्रभाव से शरीर की धातु अग मन बुद्धि भी प्रभावित होते हैं अत इनको अनुकूल बनाने हेतु इनका पूजन भी आवश्यक है। जगत की व्यवस्था इन्हीं ग्रहों के आधार पर चलती है।

इन ग्रहों का लोक अलग अलग है वह जड है परन्तु इनके अधिष्ठाता देवता चेतन हैं उन्हीं का पूजन किया जाता है। जैसे गृह जड है गृहस्वामी चेतन है। वैसे ही ग्रहों को समझना चाहिए।

वास्तुदेवता योगिनी ६४ है। असख्यात रुद्र हैं। यद्यपि इनका पूजन किसी सस्कार में नहीं होता तो भी ग्रह याग रुद्रयाग विष्णुयाग चण्डीयाग आदि में तथा गृह प्रवेशादि कार्यों में होता है। अत प्रसडगवश इनका वर्णन कर दिया है इन्हें सस्कार का अडग नहीं समझना चाहिए।

अब इन पञ्चाडगों के निरूपण के बाद अब प्रधान सस्कारों का क्रमश निर्वचन किया जाता है।

गर्भाधान यह सस्कार है तो अत्यन्त महत्वपूर्ण परन्तु आज इसका प्राय लोप हो गया है कोई करता ही नहीं। यही कारण है कि आज का बालक उच्छृखल हो जाता है।

सन्तान की उत्पत्ति माता पिता के रज और वीर्य के मिश्रण से होती है रज और वीर्य दोनों खाये गये अन्नादि पदार्थों से बनते हैं खाद्य पदार्थ सात्विक ही नहीं राजस और तामस भी होते हैं लोग उन्हें अपनी रुचि के अनुसार भक्षण भी करते हैं खाद्य पदार्थ का प्रभाव रक्त औरवीर्य आदि धातुओं पर भी पडते हैं। स्त्री पुरुष समागम भी सन्तान उत्पत्ति की इच्छा से होता है वासना से भी होता है। अत वासना से दूषित मन का भी प्रभाव गर्भ में आने वाले शिशु पर पडता है। दोषों को दूर करने के लिए गर्भाधान सस्कार किया जाता है। यह सस्कार विवाह सस्कार के पश्चात् शीघ्र ही वधू प्रवेश होने पर समागम से पूर्व की करना चाहिए। सन्तान रूपी रत्नों की खानि गर्भाशय है इसे शुद्ध कर दिया जाय तो सन्तान रूपी रत्न भी बहुमूल्य उत्पन्न होंगे।

गर्भाधान की विधि विवाह के दिन से तीन दिन तक ब्रह्मचर्य ही रहना चाहिए। क्षारा पदार्थ (खारा) पदार्थ तीता या अधिक नमक वाला पदार्थ नहीं खाना चाहिए। मधुर स्निग्न पदार्थ का भोजन करना चाहिए। चौथे दिन की रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्नानादि से निवृत्त होकर वैवाहिक अग्नि की पञ्चभूत सस्कार पूर्वक स्थापना कर इस विधि को जानने वाले विद्वान अपने पुरोहित को या किसी अन्य विद्वान् को ब्रह्मा का वरण कर अग्नि के दक्षिण भाग में बैठाकर उत्तर भाग में जलपूर्ण पात्र स्थापित कर अग्नि पर खीर पकावे।

उस खीर (चरु की) एक आहुति अग्नि को एक आहुति सोम को दे। फिर पाच आहुति घी की दे। घी की आहुति देने के बाद प्रत्येक बार स्रुवा में बचे हुए घी को अग्नि के उत्तर स्थापित जलपात्र में डालता जाये।

आहुति देने के मन्त्र

अग्ने प्रायश्चित्ते त्व देगाना प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वानाथ कामउपधावामि यास्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वहा। इदमग्नये।

इस मत्र के प्रजापति ऋषि हैं त्रिष्टप छन्द हैं अग्नि देवता हें। इसका अर्थ है हे अग्नि देव तुम सब दोषों को नष्ट करने वाले हो देवताओं के दोषों का निवारण करते हो मैं ऐश्वर्य की कामना से तुम्हारी आराधना करता हू तुम इस वधू में जो पति विघातक दोष का अश हो उसे नष्ट करो।

इसी प्रकार वायु सूर्य चन्द्र गन्धर्व देवता को भी आहुति देने का मन्त्र है। मन्त्र में जो पहला पद अग्ने है उसके स्थान में क्रमश वायो सूर्य चन्द्र ग धर्व पढे शेष मन्त्र वहा पतिघ्नी हैं वहा इसी क्रम से प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी पद पढे।

अर्थात् वायु से सन्तति नाशक दोष सूर्य से पशुनाशक दोष चन्द्रमा से गृहनाशक दोष गन्धर्व से यश नाशक दोष को नष्ट करने की प्रार्थना करे। इन पाच आहुति के पश्चात् प्रजापतयेस्वाहा कहकर एक आहुति खीर की दे।

इन छ आहुतियों के देने के बाद जो अवशिष्ट अश जलपात्र में छोडा गया है उस जल से नीचे दिये हुए मत्र को पढकर वधू के सिर पर अभिषेक करे (छिउके) मन्त्र याते पतिघ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी निन्दिता तनू जरिघ्नीं तत एना करोमि साा जीर्य त्व मया सहाय।।

अथै तुम्हारे शरीर से जो भश पति पुत्र पशु गृह यश आदि के नाशक दोषों से (अगर) युक्त हों तो उन दोषों को मैं इस अभिषेक से नष्ट करता हू तुम मेरे साथ वृद्धावस्था तक पूर्ण जीवन का उपभोग करो। अनन्तर वर हवन से बचे हुए खीर को वर वधू को निम्नाङ्कित मन्त्र पढते हुए खिलावे मन्त्र प्राणेस्ते प्राणानू सन्दधामि अस्थिभिरस्थीनि मासैर्मासानि त्वचा त्वचम् ।

अर्थ मैं अपने प्राणों के साथ तुम्हारे प्राणों को अस्थियों के साथ अस्थि को मासों के साथ मासों को त्वचा के साथ त्वचा को सयुक्त करता हू। इस विधि से पति पत्नी की एकता हो जाती है (दोनों एक हो जाते हैं)

इस विधि के करने से यदि वधू के अग में या ग्रह स्थिति के अनुसार कोई पति पुत्र गृह पशु यश नाशक योग होते हैं तो उन्हें नष्ट किये जाते हैं। जीवन गृहस्थाश्रम के अनुरुप सर्वाङग सम्पन्न होता है। पति पत्नी दोनों एक हो जाते हैं। पत्नी अर्धाङिगनी हो जाती है। दोनों को एक रस रहने पर ही आनन्दमय जीवन व्यतीत होता है। अत एक होने का तात्पर्य एकमति एक विचार एक का दूसरे पर पूर्ण विश्वास पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है जीवन सुखमय तथा सर्वसम्पन्न होता है।

यह कर्मचतुर्थी कर्म रूप से प्रचलित था अब तो एक ही दिन में विवाह कर वधू वर के घर चली जाती है प्रथा बदल रही है तो वधू वर के घर जब चली जाय तो वर के घर ही प्रथम समागम के पूर्व इस विधि को कर देना चाहिए।

अनन्तर ऋतुकाल होने पर चौथे दिन वधू स्नान के पश्चात् शुद्ध होकर मोन होकर सूर्य की उपासना करे। उसी दिन पञ्चाङग कर्म करके पाचवी रात्रि से १६वीं रात्रि पर्यन्त पुत्र की कामना से युग्म रात्रियों में अर्थात छठी आठवी दशमी बारहवीं चौदहवीं सोलहवीं रात्रि में कन्या की कामना से पाचवी सातवीं नवीं पन्द्रहवीं रात्रि में (जब पत्नी की भी इच्छा हो) परन्तु उस ि्न अमावस्या अष्टमी पूर्णिमा चतुर्दशी तिथि न हो पुसज्ञक नक्षत्र ो पति अपने बाम भाग में पत्नी को सुलाकर (उस दिन मधुर रुचिकर भोजन करे। तीता खट्टा अधिक तीक्ष्ण दाहक पदार्थ का भोजन न करे प्रसन्न मन रहे) पति पत्नी के उपस्थ पर दाया हाथ रखकर मन्त्र जपे। मन्त्र पूषा भग सविता मे ददातु रुद्र कल्पयतु ललाम गुम्। विष्णुर्योनि कल्पयतु त्वष्टारूपाणि पिशतु। आसिञ्चतु प्रजापति र्धाता गर्भं दधातु ते ।। इसका अर्थ पूषा नामक सूर्य हमे भग अर्थात् ऐश्वर्य दें रुद्र सोन्दर्य की कल्पना करें विष्णु योनि की कल्पना करे। त्वष्टा रूप का सृजन करें। प्रजापति सृष्टिकर्ता ब्रह्मा गर्भधारण करावें। इस अर्थ का स्मरण करते हुए मन्त्र जपे।

पुन पति पूर्व मुख या उत्तरमुख बैठकर यह मन्त्र पढकर योनि को अभिमन्त्रित करे। मत्र गर्भं धेहि सिनीवाली गर्भं धेहि सरस्वती। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्ता पुष्कर स्त्रजौ ।

इसका अर्थ हे देवपत्नी लम्बेकेशों वाली मेरी पत्नी को गर्भ धारण करा। हे पद्म माला धारण करने वाले अश्विनी कुमार आप इस गर्भ में आने वाले शिशु को सौन्दर्य आरोग्य दीर्घजीवन प्रदान करें। अनन्तर मौन किसी इष्टदेव या महापुरुष के गुणों का स्मरण करते हुए गर्भाधान (मैथुन) करें। वीर्यपात के समय यह मन्त्र स्मरण करें।

रेतो मूत्र विजहाति योनि प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भोजरायुणावृतउल्लबञ्जहाति जन्मना ।

अर्थात इन्द्रिय इन्द्रिय में प्रवेश करता हुआ वीर्य का त्याग करता है वह गर्भ जरायु (नाल) से वेष्टित हो जाता है और जन्म के समय नाल का त्याग करता है।

अनन्तर गर्भाधान के बाद स्त्री का हृदय स्पर्श कर यह मन्त्र पढे यत्ते सुसीमे हृदय दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाह तन्मा तदविद्यात् पश्येम शरद शतम् जीवेम शरद शत श्रृणुयाम शरद शतम्

हे सुन्दर सीमन्तिनि तुम्हारा हृदय जो चन्द्रमा में केन्द्रित है वह मुझे जाने और मैं उसे जानू, (हम दोनों का हृदय एक हो) हम सौ वर्ष तक नेत्र श्रोत इन्द्रियों से सम्पन्न रहते हुए देखे सुने जीवें। कभी भी दिन में गर्भाधान न करें सन्ध्याकाल में न करे। प्रात काल शय्या से उठकर पति पत्नी कल्याण की चिन्तन करें। अनन्तर प्रत्येक ऋतुकाल में निषिद्ध दिवस छोडकर समागम करे। जब तक गर्भाधान न हो जाय। यदि किसी दोष

या कारण वश स्त्री गर्भ धारण न कर सके तो पति जब पुष्य नक्षत्र आवे उसके पहले दिन पति उपवास करे दूसरे दिन पुष्य नक्षत्र में सफेद फूलवाली भटकटैय्या को जउ सहित उखाड कर लावे जड को जल से पीस कर बहू के दाहिने नाक में वह रस डाले मन्त्र

ओऽम् इयमोषधित्रायमाणा सहमाना सरस्वती। अस्या
अह बृहत्या पुत्र पितुरिव नाम जग्रभम्।। इति

अर्थ यह औषधि रक्षा करने वाली वात पित्तादि दोषों का शमन करने वाली है इसके महाप्रभाव से जैसे मैं अपने पिता का पुत्र हू वैसे मैं भी उत्पन्न होने वाले पुत्र से पिता कहलाऊ। इस विधि से गर्भ धारण कर सकती हैं। यदि ग्रह बाधा से या रोगादि से शुक्र (वीर्य) या रक्त दोष से गर्भाधान न हो तो उसके निमित्त ज्योतिषशास्त्र के द्वारा जो बाधक ग्रह ज्ञात हों उनकी शान्ति आराधना जप आदि से औषधि से करनी चाहिए सन्तानगोपाल जप हरिवश श्रवण आदि भी उत्तम विधि है। एक और विधि है पितर अपने वश वृद्धि की कामना करते हैं अत पितृयज्ञ करें। उसमें जो मध्यम पिण्ड (पितामह के निमित्त दिया हुआ पिण्ड) पत्नी को खिलावें और स्थापित अग्नि में हवन करे आधत्त पितर इत्यादि मन्त्र से अलडकार सूघें। यह क्रिया किसी जानने वाले विद्वान से करावे।

काल विधान मुहूर्त का अर्थ होता है उचित समय। उचित समय से की गयी क्रिया उचित फल देती है। यह जगत अग्निषोमात्मक माना गया है। अत सासारिक प्रत्येक क्रिया पर इनका प्रभाव पडता है। चन्द्रमा विराट पुरुष के मन से उत्पन्न है यह जलीय सघातों का पिण्ड है हमारे शरीर में जलीयाश रक्त वीर्य आदि है उन पर चन्द्रमा पर सीधे प्रभाव पडता है पूर्णिमा को जब पूर्णचन्द्र होता है तो समुद्र में ज्वार भाटे आते देखे जाते हैं। अमावस्या को सूर्य और चन्द्रमा दोनों एक ही स्थान पर रहते हैं अत चन्द्रमा अस्त रहता है अष्टमी को भी समुद्र में जल का उतार रहता है चतुर्दशी में भी सूर्य के सन्निकट होने से चन्द्रमा में आकर्षण रहता है अ त इनका जैसे प्राकृत पदार्थो पर प्रभाव है वैसे मानव शरीर पर भी है। चन्द्रमा का जलीयाश रक्त रस प्राणादि पर प्रभाव पडता है। पूर्णिमा चतुर्दशी में उत्तेजित तथा अष्टमी आदि में ह्रास के कारण ये तिथिया वर्जित हैं। इनमें समागम से जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है।

उपयुक्त काल स्त्रियों को प्रतिमास स्वाभाविक रूप से मासिक धर्म होता है। इनमें प्रारम्भ से चार रात्रि तक दूषित रक्त रहता है पाचवी से सोलहवीं रात्रि तक गर्भाधान के लिए उपयुक्त रक्त रहता है। इनमें विषम रात्रि जैसे पाचवीं सातवी आदि में चन्द्र प्रभाव से रक्त में प्रबलता रहती है इनमें कन्या उत्पन्न होती है छठी आठवीं आदि में रक्त उत्तेजना में ह्रास रहता है अत वीर्य की प्रबलता से पुत्र उत्पन्न होते हैं। इन विषयों का ज्ञान हमारे ऋषियों ने अनुसन्धान द्वारा आदि काल में प्राप्त कर लिया था। तभी तो मनु

याज्ञवल्क्य आपस्तम्ब आदि ने इनका काल निर्धारण किये हैं। देखें मनु की उक्ति

ऋतु स्वाभाविकी स्त्रीणा रात्रय षोडश स्मृता ।
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रय ।।
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
पुमान् पुसोऽधिके शुक्रे स्त्रीभवत्यधिके स्त्रिया ।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियो वा क्षीणेऽल्पे च विपर्यय । (मनु ३।४६ ४६)

वीर्य की अधिकता प्रबलता में पुत्र रक्त की अधिकता तथा प्रबलता में कन्या दोनों की बराबरी हो तो नपुसक यदि बराबरी में प्रबलता हो तो पुत्र या कन्या जुडवा नि सारता हो अल्पता हो तो गर्भ नहीं होता।

रजस्वला स्त्री के शरीर में एक प्रकार का रक्त मास पर्यन्त इकट्ठा होता रहता है वह थोडा काला और दुर्गन्धयुक्त होता है वह वायु से प्रेरित धमनियों के द्वारा योनि के रास्ते बाहर निकलने लगता है इसे रज स्राव कहते हैं। प्रथम चार रात्रि तक उसमें दूषित कीटाणु भी निकलते हैं नकी तीन रात्रि तक अधिकता रहती है अत तीन रात्रि तक स्त्रियों को पूर्ण आराम की आवश्यकता रहती है इन्हें कोई काम नहीं करना चाहिए साथ ही समागम भी नहीं करनी चाहिए। चौथे दिन स्नान के बाद स्त्रिया शुद्ध होती हैं। स्नान के बाद शुद्ध होने पर स्त्रिया जैसा देखती हैं वैसा प्रभाव गर्भ पर भी पडता है अत प्रथम पति दर्शन करे पति न हों वहा तो भगवान राम कृष्ण आदि की मूर्ति या अपना ही मुख दर्पण में देखें।

पुसवन यह सस्कार पुत्र उत्पत्ति के निमित्त किया जाता है। पुत्र शब्द का अर्थ होता है पुत् = नरक से त्र = त्राण करने वाला। पुत्र पिता की अन्त्येष्टि आदि क्रिया के द्वारा पिता को पतन से बचाता है अत पुत्र की आवश्यकता बताई गई है। अत पुसवन = पुत्र उत्पन्न कराने वाला सस्कार करना चाहिए। यह सस्कार गर्भ स्पन्दन से पहले गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में करना चाहिए। पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा। जिस दिन चन्द्रमा पुसज्ञक नक्षत्र में हो (पुष्य पुनर्वसु मृगशिरा हस्त पूर्वाषाढ उत्तराभाद्रपद रेवती अश्विनी ये पुसज्ञक नक्षत्र हैं) चन्द्र तारा आदि के अनुकूल दिनों में जिस दिन करना निश्चय हो उसके पहले दिन बधू को उपवास करावे दूसरे दिन स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर चद्दर ओढकर वधू तथा पति भी शुद्ध वस्त्र धारण कर पूजा स्थान में आकर पञ्चाडग कृत्य करके वरोह (जो वट वृक्ष की शाखा से निकलकर नीचे लटकती है) वट का शुडग (ठूठा अर्थात् नये पत्ते के ऊपर नये पत्ते के ऊपर की फुनगी जो कली के समान होती है) किसी आचार्य के मत में कुश का काटा सोमलता का भी पीसने का विधान है।

इनको ठण्डे जल से पीसकर रस गारकर पत्नी के दायें नाक में छोडे (नस दे) नाक के छिद्र से रस पिलाते हुए निम्नाडिकत मन्त्र पढें

पहला मन्त्र

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात परितरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवी द्या मुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम।। (यजु २५।१)

अर्थ सबसे पूर्व हिरण्यगर्भ रूप से परमात्मा प्रकट होकर समस्त भूतों के एक पति हुये। उन्होंने भूमि आकाश स्वर्ग को धारण किया उसी देवता के लिए यह रस नाक में छोडते हैं (वे इस गर्भ को पुष्ट वीर्यवान बनावें)

दूसरा मन्त्र अद्भ्य सम्भृत पृथिव्यै रसाच्च विश्व कर्मण समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे।।
(यजु ३१/१७)

अर्थ वह परमा मा पृथिवी आदि पञ्चभूतों से रसों से विश्वकर्मा से पहले प्रकट हुआ। उसके रूप को धारण कर सूर्य उदय हुआ वह आजान देव हुआ। (देवता दो प्रकार के होते हैं कार्यदेव और आजान देव।) (कर्म से जो देव हुए वह कर्मदेव सृष्टि के आरम्भ में जो देव हैं वे आजान देव हैं) इस सस्कार को करने से पुत्र की उत्पत्ति होती है। वट का प्ररोह कोमल कली आदि के रस को नस देने से दीर्घायु वशवृद्धिकारक परोपकारी आश्रयदाता और दीर्घजीवी होता है। विशाल होता है। देखें वटवृक्ष कितना विशाल होता है कितना दीर्घजीवी होता है अपने फलों से विविध जीवों को जीवन देता है सबको छाया देता है इन सभी उत्तम गुणों से युक्त पुत्र होता है। वनस्पति विज्ञान के अनुसार भी वट प्ररोह कितना उपयोगी है इसे वहीं से जान सकते हैं।

सीमन्तोन्नयनम्

सीमन्त = केश वेष (माग) का उन्नयन। यह सस्कार पत्नी गर्भवती के शरीर की शुद्धि द्वारा गर्भस्थ बालक का बीज गर्भ समुद्भीव दोष को नष्ट करने के लिए तथा वीर प्रसव दीर्घायु पुत्र के प्राप्ति हेतु किया जाता है। यह सस्कार केवल प्रथम गर्भ में छठे या आठवें मास में जक चन्द्रमा पुसज्ञक नक्षत्र पर हो करना चाहिए यह एक ही बार किया जाता है। इसके करने से जो अदृश्य रूप से भूत राक्षस गण रुधिर प्रिय अलक्ष्मी आदि गर्भवती को स्पर्श नहीं कर सकते सौभाग्यलक्ष्मी का गर्भवती में वास होता है उसके अग शरीर और बुद्धि की शुद्धि होती है। बालक बुद्धिमान बलिष्ठ दीर्घजीवी होता है।

विधि पहले वर्णित पूर्वाडग करके भूशुद्धि पूर्वक पद्धति के अनुसार वेदी बनाकर उस पर अग्निस्थापन करके पुन कशकण्डिका कर ब्रह्मा का वरण कर तिल मूग मिश्रित स्थालीपाक बनाकर घृत से चार आहुति दे। मन्त्र १ प्रजापतये स्वहा २ इन्द्राय स्वाहा ३ अग्नये स्वाहा ४ सोमाय स्वहा। फिर स्थालीपाक से प्रजापतये स्वाहा मनसा आहुति दे। अब चरु और घृत से स्विष्टकृत होम करे। अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा मन्त्र से। अनन्तर भूरादि नव आहुति देकर सर्वप्रायश्चित सज्ञक आहुति प्रजापतये स्वाहा इद प्रजापतये नम कहकर दे। सस्त्रवप्राशन करे। दक्षिणासहित पूर्ण पात्र ब्रह्मा को दे। प्रणीता के जल से शिर पर सींच कर प्रणीता को ईशान कोण में उलट दें। फिर बर्हि होम करें। यह कर्म किसी योग्य विद्वान द्वारा कराना चाहिए।

इसके बाद वधू को नूतन वस्त्र पहनाकर (चद्दरसहित) अग्नि के पश्चिम भाग में आसन पर पति के दायें भाग में बैठावें। अनन्तर तीन साही के काटे पीपल की लकडी पीला सूत टिकुरी तीन कुश की पिञ्जुली गूलर का दो फल युक्त डठल से पति पत्नी के केशों को ऊपर उठावे। माग काढ दे अर्थात केशों को दो भागों में बाट दे। मन्त्र ॐ भूर्भुव स्व विनयामि किन्हीं आचार्यों का मत है कि क्रिया तीन बार करनी चाहिए और मन्त्र ॐ भूर्विनयामि ॐ भुवर्विनयामि ॐ स्वर्विनयामि पढना चाहिए। फिर गूलर का फल सहित डठल साही का काटा आदि सभी पाचों वस्तु को गर्भवती के दाहिने चोटी में पति बाध दे। मन्त्र है ॐ अयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव । फिर गूलर के फल को सूत में बाधकर वधू के गले में पहना दे।

फिर पति वीणा बजाकर गायन करने वाले दो पुरुषों से वीणा पर किसी राजा या वीर पुरुष का गान करने के लिए कहे। वे गान करें। अथवा सोम एव नो राजेमा मानुषी प्रजा अविमुक्त चक्र आसीरस्तीरे तुभ्यमसौ । इस वेदोक्त गाथा का गान करें।

अनन्तर गर्भवती समीप की नदी या गडगादि प्रमुख नदियों में से किसी का सम्बोधनान्त नाम जैसे गगा का गडगे नाम ले। अनन्तर ब्राह्मण भोजन करावे दक्षिणा दे। विष्णु भगवान का ३ बार नाम ले।

गर्भवती के नियम कोयला राख हड्डी चूल्ही सूप ओखली मूसल सील जाँता भूसी झाड आदि पर गर्भवती को नहीं बैठना चाहिए। गोबर आदि पर मल मूत्र नहीं करना चाहिए। केश खोलकर या विवस्त्र न रहे सूर्यास्त के समय न खाये न सोये शून्य स्थान में न जाये वृक्ष के नीचे न जाये। ककुम सिदूर कज्जल आभूषण धारण करे। और पति पत्नी दोनों पर्वतारोहण नौकारोहण यानमैथुन आदि न करें।

जातकर्म जातस्य कर्म उत्पन्न होने वाले शिशु के निमित्त कर्म। यह कर्म गर्भ में रहते हुए माता के द्वारा भुक्त अन्न जल के रस से पुष्ट हुए बालक के गर्भाम्बु पान आदि दोष को दूर करने के लिए आयु मेधा वृद्धि के लिए किया जाता है। पहले पूर्वाडग कर्म

सम्पन्न कर पति प्रसव पीडा से पीडित पत्नी को ज ा से मार्जन करे। मन्त्र एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुष्य सह। यथार्थ वायुरेजति यथा समुद्र एजति। **एवाय दशमास्यो अस्त्रज्जरायुणा सह** यह मत्र पढें। इससे प्रसव पीडा कम होती है फिर शिशु के शीघ्र उत्पत्ति हेतु पिता पत्नी के समीप बैठकर यह मन्त्र **ॐ अवैतु पृश्निशेवल शुशुने जराय्वत्तवे नैव मासेन पीवरीम्। न कस्मिश्चना यतनमवजरायुपद्यतरिमति** ।। जपे।

अनन्तर जब बालक उत्पन्न हो जाय तब नालच्छेदन से पहले पिता शिशु के आयुर्वृद्धि बुद्धिबल शरीरेन्द्रियवृद्धि निमित्त पहले आभ्युदयिक ााद्ध करके पितरों को सन्तुष्ट कर वश वृद्धि की प्रसन्नता में उनको प्रणाम कर उनका आशीर्वाद ग्रहण करे। फिर कमार को दायें हाथ की अनामिका अगुली से घी और शहद जो बरा ार भाग में न हो बालक को चटावें या केवल घी ही चटावे मन्त्र पढें ॐ भूस्त्वयि दधामि ॐ भुवस्त्वयि दधामि ॐ स्वस्त्वयि दधामि ॐ भूर्भुर्व स्व सर्व त्वयि दधामि। इस कर्म से नवजात शिशु की मेधा बढती है। यह मेधाजनन कर्म है। इ ाके बाद आयुष्य कर्म करे। कुमार के दक्षिण कान में या नाभि में मुह देकर तीन बार जप करे। वे मन्त्र हैं सोम आयुष्मान् स ओषध ीभिरायुष्मान् तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्त करोमि इससे पहले अग्नि का मन्त्र है। अर्थात् सोम ब्रह्मा देवता ऋषि पितर यज्ञ समुद्र आदि आयुष्मान है। वे क्रमश ओषधि ब्राह्मण अमृत व्रत स्वधा दक्षिणा नदियों से आयुष्मान हैं उस आयुष्य से तुमको आयुष्मान कर रहा हू। इसके तीन बार आयुष्य **त्र्यायुष जमदग्ने** इत्यादि का जप करें।

और यदि पिता चाहे कि उत्पन्न बालक सम्पूर्ण आयु प्राप्त करे तो बालक का सम्पूर्ण शरीर स्पर्श करता हुआ ओं दिव स्परि इत्यादि ११ मन्त्रों का जप करे। अनन्तर बालक के चारों दिशा में चार ब्राह्मण को एक को मध्य में अर्थात् पाच ब्राह्मणों को बैठाकर पिता एक एक ब्राह्मण से ऊपर देखता हुआ कहे कि इममनुप्राणिते ति इस शिशु को प्राणवान आप बनावें तब पूर्व दिशा में स्थित ब्राह्मण प्राण कहे दक्षिण में स्थित ब्राह्मण व्यान कहे पश्चिम में स्थित ब्राह्मण अपान उत्तरवर्ती ब्राह्मण उदान कहे मध्यगत ब्राह्मण ऊपर को देखता हुआ समान कहे। अगर ब्राह्मण न उपलब्ध हो तो पिता स्वय इस कृत्य को सम्पन्न करे। इस कर्म से शिशु पञ्चप्राण से सम्पन्न प्राणशक्ति से युक्त होता है। पश्चात पिता जिस स्थान पर बालक पैदा हुआ है उस स्थान को स्पर्श कर वेद ते भूमि हृदय दिवि चन्द्रमसि श्रितम् मन्त्र को पढें। इसमें सर्वेन्द्रिय सम्पन्न होकर बालक को सौ वर्ष तक जीने की कामना की गयी है। पुन पिता बालक का स्पर्श कर अश्मा भव सजीव शरद शतम् मन्त्र पढे इसमें शिशु को दृढ बलिष्ठ होकर चिरजीवी होने की कामना है। फिर मा को भी अभिमन्त्रित करे। इडासि मैत्रावरुणी मन्त्र पढकर इसका अर्थ है कि तुम हमें वीर पुत्र का पिता बनायी हो तुम भी वीर पुत्र की माता हो। इससे माता प्रसन्न होती है इसका दर्द भाग जाता है

फिर मा के दाहिने स्तन को धोकर बालक के मुख में इम स्तन मन्त्र पढता हुआ दे। पुन यस्ते स्तन और इम स्तनम् मन्त्र पढता हुआ बाया स्तन भी धोकर मुख में दे। आपोदेवेषु मन्त्र पढकर शिशु के सिरहाने जलपूर्ण पात्र रखें। फिर सूतिका गृहद्वार पर पञ्चभूतसस्कार कर अग्नि स्थापन कर प्रतिदिन दश दिन तक साय प्रात चावल सरसों की दो दो आहुतिया शण्डा मर्का आलिखन्ननिमिष मत्र पढकर दे इससे बाधाए और दृष्टिदोष नष्ट हो जाते हैं। शिशु को यदि बालगृह पीडित करे रोना हसना बन्द हो जाय पीना बन्द कर दे तो उसे जाल से या अपनी चादर से ढककर पिता गोद में लेकर कर्करस्सुर्कुर इत्यादि मन्त्र जपे और उसे माता के गोद में दे दें।

नामकरण इसका अर्थ है नाम रखना। श्रुति कहती है कि यह जगत ही नामरूप वाला है। नाम रूपात्मक जगत् अर्थात् एक सज्ञा है एक सज्ञी है। बिना नाम के हम किसी को पहचानते नहीं नाम के बिना सासारिक व्यवहार भी नहीं होगा धार्मिक कृत्य भी नहीं होंगे। अत नामकरण करना चाहिए।

काल दश दिन तक सूतक को जननाशौच रहता है यह नाल छेदन के बाद लगता है। अत श्रुति कहती है दशम्या पुत्रस्य अर्थात् पिता दशवी रात्रि के बाद उत्पन्न हुए पुत्र का नामकरण करे। द्वयक्षर चतुरक्षर वा नाम कृत कर्यान्न तद्धितम् स्त्रियै तद्धितान् शर्म ब्राह्मणस्य वर्मक्षत्रियस्य गुप्तेतिवैश्यस्य दासान्त वैश्यस्य इति।

पुत्र का नाम दो या चार अक्षर का हो कृत प्रत्ययान्त हो तद्धित प्रत्ययान्त न हो बालिका का तद्धितान्त हो अयुग्म अक्षरों का (तीन पाच अक्षरों का) हो। ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्मा क्षत्रिय के नाम के अन्त में वर्मा वैश्य के नाम के अन्त में गुप्त शूद्र के नाम के अन्त में दास जोडनाा चाहिए नाम त्रिपुरुषान्क हो तीन पीढी अर्थात बाप दादा परदादा के नाम के अन्त में जो उपाधि लगती है वह लगावें जो नाम रखें वह पिता पितामह आदि का नाम न हो। शत्रु का नाम न हो। इसे विद्वान से ही कराना चाहिए। नाम उच्चारण की दृष्टि से सरल सुनने में सुखद हो कुछ ऐसे गुण से युक्त हो जिसे स्वभिमानपूर्वक कह सकें कि हमारा यह नाम है। नाम सारे व्यवहार का कारण है कर्म में शुभावह है भाग्य का हेतु है नाम से ही कीर्ति प्राप्त करता है अत नामकरण करना चाहिए।

नामारिवलस्य व्यवहारहेतु शुभावह कर्मसु भाग्यहेतु ।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्तत प्रशस्त खलु नाम कर्म।। (बृहस्पति)

विधि मातृपूजा आभ्युदयिक आदि पञ्चाडग करके नामकरण करे। ब्राह्मण इष्ट मित्र बन्धु बान्धव अनुचर सेवक आदि को भोजन करावे।

यह नाम राशिनाम है नक्षत्र के आधार पर रखा जाता है उसे पिता तीन बार शिशु के कान (दाहिने) में कहे। एक व्यवहार के लिए भी नाम रखे (पुकारने का नाम) और

यशस्वी दीर्घायुष्य का आशीर्वाद दे। मन्त्र **अङ्गादङ्गात् सभवसि हृदयादधि जायते। आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरद शतम्।।**

निष्क्रमण इसका अर्थ है घर से बाहर निकलना ताकि शिशु बाह्य जगत से भी परिचित हो सके उन्मुक्त वातावरण में क्रीडा कर सके।

काल जब शिशु बाह्य शीत उष्ण सहनकरने में समर्थ पुष्ट गात्र हो जाय तब चौथे मास म जन्म नक्षत्र में जन्मतिथिमें गणपत्यादि पूजन करके माताकी गोद से बालक को पिता लेकर घर से बाहर आकर सूर्य का दर्शन करावे। दर्शन कराने का मन्त्र है चच्चक्षु देवहित पुरस्तात्च्छक्रमुच्चरत। पश्येम शरद शतम् जीवेम शरद शत शृणुयाम शरद शत प्रब्रवाम शरद शत मदीना स्या शरद शत भूयश्च शरद शतात् ।

अर्थ सूर्य ससार का नेत्र है शुभगुण युक्त देवीसम्पत्ति वाले पुरुषों का हितैषी है शुक्ल वर्ण पूर्व दिशा में उदित होते हैं। हमारे नेत्र सौ वर्ष तक देखें हम सौ वर्ष तक जीवित रहें सौ वर्ष तक सुनें सौ वर्ष तक बोलें सौ वर्ष तक दीन न हों स्वस्थ और समृद्ध रहें। सूर्यार्घ्य भी दें।

इसके बाद (समय पर) खटवारोहणसदुग्धपान ताम्बूल भक्षण चन्द्रदर्शन कर्णवेध आदि का भी सामान्य रूपसे करने का विधान है।

अन्नप्राशन शिशु के विकास शील देह की आवश्यकतानुसार ठोस पदार्थ (आहार) की उसे आवश्यकता होती है। अत उसे हल्का हितकारी अन्नमय भोजन देना चाहिए। अन्नप्राशन = अन्न चटाना इस से शरीर बलिष्ठ स्वस्थ होता है।

काल इसे छठें मास में करना चाहिए। कन्या को पञ्चम मास या विषम मास में अन्नप्राशन करावे।

विधि सर्वप्रथम अग्नि स्थापन कर स्थालीपाक पकाकर आज्यभाग की आहुतिया दें अनन्तर **देवी वाचमजयन्त देवा** तथा वाजो नो अद्य इन दो मन्त्रों से दो आहुति घी की दें। पुन प्राणेनान्नमशीय इत्यादि मन्त्र पढकर चार आहुतिया स्थालीपाक (चरु) से देवें। पुन सस्रवप्राशन करके सभी प्रकार के अन्नों रसों को एक में मिलाकर शिशु को चढाना चाहिए पिता खिलाते समय या मौन रहे या हन्त शब्द का उच्चारण करे।

इस क्रिया के पूर्व में पञ्चाङ्ग कर लेना चाहिए अन्त में ब्राह्मण भोजन बन्धु बान्धवादि को भोजन करना चाहिए। प्रत्येक कर्म के अन्त में विष्णवे नम ३ बार कहना चाहिए। इसी समय घर का वृद्ध बालक को कटिसूत्र बन्धन भी करते हैं। और पृथिवी पूजन कर बालक को भूमि पर बैठाते भी हैं। भूम्युपवेशन के समय बालक के सामने पुस्तक लेखनी शास्त्र वस्त्र स्वर्ण आदि रखना चाहिए बालक जिस वस्तु को प्रथम छता है उसी के अनुसार उसकी जीविका जानना चाहिए। यह विधि वैदिक विद्वान से ही कराना चाहिए।

इस संस्कार से इन्द्रिया पुष्ट होती है शरीर मन बल बुद्धि की वृद्धि होती है गर्भ स्थिति जन्म दोष नष्ट होते हैं।

चूडाकरण इसका अर्थ है चूडा=शिखा करण=करना। इसके कई प्रकार के विग्रह हो सकते चूडा क्रियतेऽनेन शिखा निष्पन्न की जाती है जिससे वह संस्कार। अथवा चूडा क्रियतेऽस्मिन्। जिस संस्कार में शिखा रखी जाय। इसे चौल कर्म भी कहते है। चौल = चूल केश कर्म। मुण्डन भी इस संस्कार को कहते है। यह त्वचा सम्बन्धी रोगों के लिए लाभकारी है।

लाभ इस संस्कार में स्वास्थ्य सौन्दर्य कल्याण स्वच्छता उत्साहवर्धन आदि की कामना निहित है। आचार्य सुश्रुत का कथन है

पापोपशमन केशनखरोमापमार्जनम्।
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्।।
(सुश्रुत स चि स्थान २४ ७२)

केश नख लोम का छेदन पाप का शमन करता है हर्ष देता है फर्तीला बनाता है सौभाग्य और उत्साह को बढाता है।

चरक के अनुसार केश श्मश्रु नखों के काटने से तथा प्रसाधन (सवारने) से पौष्टिकता बल आयुष्य शुचिता तथा सौन्दर्य की प्राप्ति होती है।

पौष्टिक वृष्यमायुष्य शुचिरूप विराजनम्।
केश श्मश्रु नखादीना कर्तन सप्रसाधनम्।। (च स)

मुण्डन से केश की गर्मी निकल जाती है इसमें नवनीत (मक्खन) भी लगाया जाता है उससे शीतलता प्राप्त होती है कोमलता प्राप्त होती है। बुद्धि बल आयु तेज की वृद्धि होती है। इससे फोडा फुन्सी आदि रोग दूर हो जाते हैं।

इसका श्रुति में भी निर्देश है यत्र बाणा सम्पतन्ति कमारा विशिखा इव (शु य १७/४८) कमार मुण्डितशिर विगता शिखा विशिखा यह अर्थ मन्त्राभाष्य वेददीप के अनुसार है। अत लोकाचार के अनुसार प्रथम मुण्डन में सभी केश कटा दिये जाते है। पुन मुहूर्त के अनुसार मुण्डन करके शिखा रखी जाती है। कुछ आचार्य इसका अर्थ विविधा शिखा विशिखा किए है उनके अनुसार एक तीन या पाच शिखा रखने का विधान है।

सभी धार्मिक कार्यों मे शिखाबन्धन और यज्ञोपवीत धारण का विधान है सदोपवीतिना भाव्य सदाबद्धशिखेन च।। बिना शिखा बाधे जो कर्म किया जाता है वह निष्फल हो जाता है। शिखा हमारी चेतना को जागरूक रखती है शिखा द्वारा सूर्य से ऊर्जा का ग्रहण होता

है जप तप से प्राप्त ऊर्जा केश के छिद्रो द्वारा बाहर न निकल जाय इसलिए शिखा बाधा जाता है।

समय जन्म से एक वर्षो के अन्दर या तीसरे वर्ष में कुलाचार के अनुसार यह सस्कार किया जाता है। कहीं तीन वर्ष के बाद पाचवे वर्ष में अर्थात विषम वर्ष में शुभ मुहूर्त में चन्द्र तारा की शुद्धि हो उत्तरायण में चैत्र मास न हो रिक्ता आदि तिथि न हो सोम बुध वृहस्पति शुक्रवार हो जन्ममास जन्मनक्षत्र जन्मतिथि न हो ज्योतिषी से दिन तिथि निश्चित कर के मुण्डन सस्कार करना चाहिए। (शुक्रास्तादि दोष नहीं होना चाहिए)

विधि यजमान नित्य क्रिया करके पञ्चाडगकृत्य सम्पन्न कर ब्राह्मण भोजन कराकर कुश काण्डिका कर अग्नि स्थापन करे। ब्रह्मा का वरण करे। माता कुमार को स्नान कराकर नूतन वस्त्र पहनाकर अपनी गोद में बालक को लेकर अग्नि के पश्चिम बैठे। उसे स्पर्श करते हुए पिता कुश काण्डिका हो जाने के बाद १४ आहुतिया दे। अन्वारब्ध आहुति देकर सस्रव प्राशन तक कर्म सम्पन्न कर ठण्डे जल में गर्म जल मिलाकर मन्त्र पढे **उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान् वप** । हे अदिति उष्ण जल के साथ यहा आओ केशों का छेदन करो। पुन नवनीत (मक्खन) या दधिपिण्ड जल में छोडे। (कुमार के शिर में पहले रात ही तीन जूडा एक दक्षिण तरफ एक पश्चिम एक उत्तर तरफ बाध दे) उस जल से **ॐ सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनु दीर्घायुष्टवाय वर्चसे** (सविता की प्रेरणा से दिव्य जल तुम्हारे देह को शुद्ध करे जिससे दीर्घायुण्य तथा तेज को तुम प्राप्त कर सको) दाहिने कान की ओर केशों को इस मन्त्र से भिगोवे। फिर साही के काटे से दक्षिण भाग में बधे जूडे को विकीर्ण कर तीन भाग करे उस एक एक भाग में तीन २ कुश के पत्ते गठिया दे। कुश बाधने का मत्र **ॐ ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैन हिसी** (अर्थ कुश रक्षा करो शिशु को पीडा न हो)।

तब पिता **ॐ शिवो नामासि स्वधितिस्तेपिता नमस्ते अस्तु मा मा हिसी** मन्त्र पढकर छरा उठावे। और **निवर्तयाम्यायुषेन्नाधाय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय** (मैं आयुष्य अन्नाद्य प्रजनन ऐश्वर्य श्रेष्ठसन्तान तथा शौर्य के निमित्त छेदन करता हू) इस मन्त्र को पढकर छरे को केश से सलग्न करे।

और येनावपत् सविता क्षुरेण सोस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्य जरदष्टि र्यथासत्। (वह छरा जिससे विद्वान् सविता ने राजा सोम तथा वरुण का क्षौर किया था हे ब्रह्मन् दीर्घायुष्य तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति तथा तेजस्विता के लिए उसी छुरे से इसके शिर का मुण्डन करो) इस मन्त्र से केश काटे। बधे हुए कुश पत्रों के साथ केशों को काटकर अग्नि के उत्तर रखे हुऐ बैल के गोबर पर रक्खे। इसी प्रकार केशो के दो और लटों को बिना मन्त्र उच्चारण किए काटे।

इसी प्रकार पश्चिम तथा उत्तर के जूडे में भी सारी क्रिया कर पश्चिम भाग के कुशपत्र बधे हुए जूडे को **ॐ यायुष जमदग्ने कश्यपस्यफत्रायुषम् यद्देवेषु यायुष तन्नो अस्तु यायुषम्** इस मन्त्र से छेदन कर बैल के गोबर पर रखे। शेष दो लटो को मौन काटकर रखे। पुन उत्तर जूडे को भी इसी प्रकार से काटे। उस का मन्त्र है **येन भूरिश्चरादिव ज्योक्च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय रचस्तये ।**

अनन्तर सारे शिर को भिगोकर तीन वार केश पर छुरा को दॉयी ओर से बायें के तरफ घुमावे। मन्त्र **ॐ यत्क्षुरेणमज्जयता सुपेशसा वप्त्वा वा वपति केशाश्छिन्धि शिरोमास्यायु प्रयोषी ।**

आघात विना पहुचाये इस के केशो को काटो यह कह कर पिता छरा नापित को दे दे। मन्त्र **अक्षण्वन् परिवप ।**

अब नापित शिखा को छोडकर कुलपरम्परानुसार मुण्डन करे।

(कहीं की परम्परा समस्त शिर मुण्डन की है कहीं की शिखा छोडकर मुण्डन की है। जहा समस्त शिर मुण्डन कराते हैं वहा पुन मुहूर्त से चूडन कराते हैं उस समय शिखा (चूडा) रखते हैं। (इसमें बहुत शास्त्रार्थ है अन्त में कल परम्परानुसार करने की व्यवस्था है।)

नापित मुण्डन करे तब माता नये वस्त्र में उन केशों के रोप ले या कुल परम्परानुसार बहन बेटिया रोपती हैं उन्हें दक्षिणा आभूषण आदि यथा शक्ति देकर प्रसन्न करना चाहिए। फिर उन केशों को दूध दधि सहित गोमय पिण्ड पर रख दे फिर उन केशों को जलाशय में तटपर गाड दे या प्रक्षेप करे। पुन बालक को केशादि से स्वच्छ कर (स्नान कराकर) स्रुवा से भस्म लाकर त्र्यायुष्करण करे (भस्म को ललाट में गले में दक्षिण बाहु के मूल में हृदय में लगावे। मन्त्र **ॐ यायुष जमददग्ने कश्ययस्य यायुषम्। यद्देवेषु भ्यायुष तन्नो अस्तु यायुष्म्** । इस मन्त्र से भस्म लगावे। फिर बालक को तिलक कर दूर्वा अक्षत आदि शिर पर लगावे। अनन्तर आचार्यादि को दक्षिणा दे नापित को सन्तुष्ट करे भूयसी दक्षिणा दे बहन वेटियों पवनी प्रजा को दक्षिणा दे।

अन्त में विष्णु भगवान का समरण तीनबार करके क्षमा प्रार्थना पूर्वक विसर्जन करें कलश के जल से अभिषेक कर बालक को तेजस्वी यशस्वी दीर्घायु बल शक्ति सम्नन्न होने का आशिर्वाद दे। बालक बडे बूढों को प्रणाम करे। आचारानुसार ब्राह्मण बन्धु बान्धवों को भोजन करावे। इस शिखा रखने की वैज्ञानिकता सुश्रुत के वाक्यों से प्रकट होती है। मस्तक के भीतर ऊपर की ओर शिराओं का सम्बन्ध है सन्निपात है। वही रोमावर्त के अधिपति रहते हैं। इस स्थान पर किसी भी प्रकार से आघात लगने पर तत्काल मृत्यु होने की

सम्भावना है। अत इसे केशो से आच्छादित रखे। **मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टात् शिरासम्बन्धि सन्निपातो रामावर्तो ऽधिपतिस्तत्रापि सघो मरणम्** ।

अत इस मार्मिक स्थान की सुरक्षा हेतु उस स्थान पर शिखा रखना आवश्यक है। शिखा के द्वारा मस्तक के भीतर मार्मिक अग की सुरक्षा होती है। मुण्डन से स्वच्छता और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। यासवल्क्य के अनुसार इन सस्कारों से गर्म वास से तथा वीर्य एव रजो जनित दोष शान्त होते हैं तथा बालक में तेजस्विता आती है।

अगिरा कहते है वैसे ही इन सस्कारों से तेजस्विता ब्रह्मणत्व स्फुटित होता है।

हारीत कहते हैं गर्भाधान से ब्रह्म गर्भ धारण करता है पुसवन से पुत्र की उत्पत्ति होती है फलस्नान कराने से पितृ वीर्य जन्म सारे दोष दूर होते हैं। तथा माता के रक्त में जो दोष होते हैं वे दूर होते हैं ये दोष पाच प्रकार के होते हैं। जात कर्म से प्रथम दोष नामकरण से द्वितीय अन्न प्राशन से तृतीय चूडाकरण से चतुर्थ स्नान से पञ्चम प्रकार का दोष शान्त होता है। गर्भाधान से लेकर मुण्डन तक के सस्कार गर्भ वीर्य जनित दोषों के शान्ति तथा तेजस्विता सदविचार कर्मनिष्ठा दुराचार की निवृत्ति के लिए किये जाते है।

आज ये सस्कार लुप्त हैं कुछ होते हैं वे भी विकृत रूप में ही होते हैं विधि से नहीं। यहीं कारण है कि बालकों में सदगुणों का अभाव उद्दण्डता आदि देखी जाती है अच्छे २ नेता भी भ्रषचार लिप्त हो रहे हैं। इसमें आश्चर्य नहीं प्राणी मात्र के अन्दर पाशविक आसुरी तथा दैवीवृत्ति विद्यमान है। परन्तु दैवी को दबाकर आसुरी वृत्ति ही प्रबल हो जाती है हम विवेक शून्य हो जाते हैं और न चाहते हुए भी उस कृत्य को कर बैठते हैं जो जाति समाज देश के लिए घातक होते हैं।

इन सस्कारों को करने से पाशविक वृत्ति आसुरी वृत्ति दब जाती हैं दैवी वृत्ति विकसित हो जाती है जिससे हम निर्भीक सदाचारी सतकर्मों के पालन में दृढ होते हैं दीर्घायुष्य तेजस्विता प्राप्त करते हैं देश समाज का हित करते हैं।

---

१ चित्र कर्मयथानकै प्रगैरुन्मिल्यते शनै।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् सस्कारैर्विधिपूर्वकै ।। (अगिरा लि)

२ गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्म गर्भ सन्दधाति पुसवगात् पुसी करोति फलस्नयनात् पितृज पाप्मानमपोहति जातकर्मणा प्रथर्ममपोहति नामकरणेन द्वितीयं प्राशनेनात्टतीय चूडाकरणेन चतुर्थं स्नानेन पञ्चममू। एतैगा सस्कारैर्गामोपघातात् पूतो मवति। (हारीत स्वति)।

सन्ध्या-वन्दन की वैज्ञानिकता

• डॉ आजाद मिश्र
उपाचार्य एव अध्यक्ष व्याकरण विभाग
केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ विशालखण्ड ४ गोमतीनगर
लखनऊ २२६ १

ध्यै चिन्तायाम् धातु से भाव कर्म तथा अधिकरण अर्थों की विवक्षा में अङ प्रत्यय और सम् उपसर्ग का योग करके स्त्रीलिग सन्ध्या शब्द की निष्पत्ति की जाती है। इससे भाव अर्थ विवक्षित होने पर सम्यक् ध्यान या चिन्तन क्रिया की प्रतीति होती है अधिकरण अर्थ की विवक्षा में सम्यक् ध्यान का काल अर्थ प्रतीत होता है तथा कर्म में प्रत्यय करने पर ध्यानोपयोगी कर्म अर्थ प्रकट होता है। सन्ध्या शब्द से उपस्थित होने वाले उक्त तीनों ही अर्थ योगज योगार्थ अथवा यौगिक कहलाते हैं जबकि विशेष ध्यान ध्यान के विशेष समय और ध्यानानुकूल कर्म विशेष को सन्ध्या कहते हैं। अत सन्ध्या शब्द योगरूढ है अथवा योगरूढ अर्थ का बोधक है। इसका योगार्थ मिश्रित रूढार्थ धर्मशास्त्रों में परिभाषित है जिसकी विधि एव उसकी वैज्ञानिकता पर प्रस्तुत लेख में कतिपय विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

धार्मिक कर्मानुष्ठान को हेय ओर उपादेय दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। हेय श्रेणी में काम्य एव निषिद्ध कर्म आते हैं तथा उपादेय में नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त और उपासना नामक कर्म बताये गये हैं। पितृपक्ष अमावस पूर्णिमा ग्रहण जन्म मृत्यु आदि शास्त्र बोधित किसी निमित्त से अनुष्ठेय धार्मिक कृत्य को नैमित्तक कर्म कहते हैं। ज्ञाताज्ञात पाप को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है तथा चित्त के शोधन के लिए निष्काम भक्ति अथवा देवाराधन किया जाता है जिसे उपासना कहते हैं। सन्ध्या इन तीनों से अलग नित्य कर्म के रूप में परिभाषित है। **अकरणे प्रत्यवायजनकत्वे सति पुण्याजनकत्व नित्यकर्मत्वम्** नित्यकर्म की इस परिभाषा के अनुसार जिसको करने पर कोई पुण्य न हो किन्तु न करने पर पाप अवश्य हो उसे नित्य कर्म कहा गया है।

स ध्या की अनिवार्यता

अहरह सन्ध्यामुपासीत इत्यादि श्रुतिवाक्यों के आदेश से जिस दिन उपनयन सस्कार सम्पन्न हो उसी दिन से निरन्तर प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिए। जैमिनि के अनुसार गायत्री मन्त्रोपदेश से पूर्व सध्या नह होती है। अत उपनयन के दिन दोपहर से सन्ध्या वन्दन आरम्भ होता है। इस कर्म को सामान्यत सन्ध्योपासना या सन्ध्या वन्दन

अथवा केवल सन्ध्या कहते हैं। इस प्रकार यहा सन्ध्या शब्द केवल रात एव दिन के सन्धिकाल का बोधक मात्र न होकर प्रात एव साय की जाने वाली विशेष प्रार्थना एव स्तुति का भी द्योतक है।

द्विज को सन्ध्या अवश्य करनी चाहिए। इसको न करने से व्यक्ति को शुभ कर्मों का पूर्णफल प्राप्त नहीं होता है

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्ह सर्वकर्मसु।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग् भवेत्।।

सन्ध्या हमारी अहोरात्रचर्या का मुख्य भाग है। विप्रो वृक्षस्तस्य मूल च सन्ध्या कहते हुए शास्त्रकारों ने उसे द्विजाति के लिए जीवन का मूल स्वीकार किया है।

नोपतिष्ठति य पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्य सर्वस्माद् द्विजकर्मण ।।
(मनु २/१ ६)

अर्थात् जो व्यक्ति प्रात और साय सन्ध्योपासना नहीं करता है वह अशुद्ध अपवित्र होता है अत वह निन्दनीय है। एवञ्च शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से शुद्ध स्वस्थ व्यवस्थित शुचि आस्तिक एव नैतिक रहने के लिए तथा सभी शुभ कर्मो के सम्यक् सम्पादन और पूर्ण फल आपादन के लिए सन्ध्या वन्दन हमारी दैनिक चर्या का प्रमुख अग माना जाता है।

सन्ध्या काल

सन्धौ भवा सन्ध्या दिन और रात की सन्धि के समय की जाने वाली उपासना सन्ध्या कहलाती है। आश्वलायन गृह्य सूत्र ३/७ आपस्तम्बधर्मसूत्र १/११/३ /८ गौतम धर्मसूत्र २/६७ मनुस्मृति २/१ १ याज्ञवल्क्य स्मृति १/२४ २५ आदि धर्मशास्त्रों के अनुसार सन्ध्योपासना प्रात एव साय सामान्यत दो बार ही की जाती है

(क) उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रात सन्ध्या त्रिधा स्मृता।।

प्रात काल की सध्या तारा गण के अस्त होने से पूर्व की जाय तो उत्तम है सूर्य निकलते समय मध्यम और सूर्य के चढ जाने पर कनिष्ठ मानी जाती है।

(ख) उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता साय सध्या त्रिधा स्मृता।।

साय सन्ध्या सूर्य रहते रहते की जाय तो उत्तम सूर्य डूबने पर मध्यम और तारे निकल आने पर कनिष्ठ समझनी चाहिए।

इस प्रकार शास्त्रों में प्रात एव साय स ध्या के ही सर्वमान्य काल का वर्णन मिलता है। किन्तु अत्रि ऋषि के अनुसार प्रात दोपहर और साय तीन बार सन्ध्या की जाती है। याज्ञवल्क्य के मत से प्रात सन्ध्या को गायत्री मध्याह्न सध्या को सावित्री एव साय स ध्या को सरस्वती कहा जाता है। इन तीनों सध्याओं के उपासना का काल भी निर्दिष्ट हे

प्रात सन्ध्या सनक्षत्रा मध्याह्ने मध्यभास्कराम्।
ससूर्यां पश्चिमा सन्ध्या तिस्र सन्ध्या उपासते।। (दे भा)

सभी के मत से प्रात सूर्योदय के पूर्व ही सन्ध्या आरम्भ हो जानी चाहिए और जब तक सूर्य का बिम्ब दीख न पडे तब तक चलती रहनी चाहिए। सायकाल सूर्य के डूब जाने तथा तारों के निकल आने तक सध्या होनी चाहिए। सन्ध्या करने का यह सर्वश्रेष्ठ समय कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसका गौण काल भी माना गया है। जैसे सूर्योदय एव सूर्यास्त के उपरान्त तीन तीन घटी गौण काल है। याज्ञवल्क्य के मत से दो घटी गौण काल है। किन्तु मनु के मत से जितनी देर तक चाहें हम सन्ध्या कर सकते हैं क्योंकि लम्बी सध्या करने से ही प्राचीन ऋषियों को दीर्घ आयु बुद्धि यश कीर्ति एव आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हुई थी।

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयु ।
प्रज्ञा यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च।। (मनु ४/९४)

सनातन जीवन पद्धति में अर्थ और काम को धर्म से सदा सम्पुटित रखा गया है। हमारी सस्कृति की यही विशेषता है और इसकी शाश्वत जीवन्तता की यही अमूल्य कुजी है। इसे क्रियान्वित करने के लिए ब्राह्म मुहूर्त्त में सोकर उठना और सबसे पहले धर्म का अनुपालन करना आवश्यक माना गया है

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशाश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च।। मनु ४/९२।।

ब्राह्म मुहूर्त्त में शौचादि स्नान क्रिया से निवृत्त होकर सन्ध्योपासना में जितना मन लगता है जो एक अलौकिक आनन्द और प्रकाश की अनुभूति होती है बाद में वातावरण परिवर्तन शोर शराबा एव अनेक ।पेघ्नों के कारण सन्ध्या में उतना मन नहीं

सन्ध्या के लाभ

(क) श्वास क्रिया का नियमन

सन्ध्या हमारे दैनिक जीवन का मूलाधार है। उसमें लौकिक एव पारलौकिक श्रेय की ऐसी प्रक्रियाओं का सम्मिश्रण है कि यदि उसे स्वास्थ्य शक्ति मेधा और दीर्घ जीवन की कुजी कह दें तो अनुपयुक्त न होगा। इससे भी अधिक सन्ध्या का प्रमुख उद्देश्य हमारी उस श्वास प्रक्रिया का नियमन है जो हमारे जीवन का वास्तविक मूल है।

प्राकृतिक रीति से मनुष्य को एक अहोरात्र में २१६ श्वास लेने चाहिए। और वे भी चिकित्सा शास्त्रीय व्यवस्थानुसार गरमी और सरदी की ऋतु में नाक के दाए अथवा बायें छेद से

> षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविशति ।
> एतत्सख्यात्मक मन्त्र जीवो जपति सर्वदा।।
> (योग चूडामणि उपनिषद् ३४/६६)

अर्थात् एक अहोरात्र में जीव इक्कीस हजार छ सौ बार सोऽहम् मन्त्र का जाप करता है।

स्वरशास्त्र में नाक के दायें छेद का नाम सूर्य और बायें छेद का नाम चन्द्रमा कहा गया है। ये दानों छेद यथा नाम तथा गुण के अनुसार क्रमश गर्मी और ठडक पहुचाने के साधन हैं। आज के मानव समाज को यह मालूम नहीं कि कब किस नासा छिद्र से श्वास लेना चाहिए। परन्तु हमारे पूर्वज दिन रात में तीन बार श्वास प्रश्वास क्रिया को ठीक किया करते थे। श्वास प्रश्वास प्रक्रिया की साधना का ही धार्मिक नाम सध्या है। यद्यपि सन्ध्या में आचमन सूर्योपस्थान भगवत्स्मरण आदि अन्यान्य भी कई लाभप्रद अनुष्ठान किये जाते हैं परन्तु सध्या का मुख्य तत्त्व प्राणायाम है। अन्यान्य सब विधिया इसी एक मुख्य तत्त्व की पोषक हैं।

(ख) आयुष्य वृद्धि

शास्त्रों में यह बात डिण्डिम घोष के साथ व्यक्त की गयी है कि **ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयु** (मनु ४/६४) अर्थात् दीर्घकाल तक सन्ध्या प्राणायाम के अनुष्ठान से ऋषियों ने दीर्घ आयु प्राप्त की थी।

इसमें विज्ञान यही है कि एक स्वस्थ मनुष्य को अहोरात्र में इक्कीस हजार छ सौ श्वास आने चाहिए। यदि कोई इससे अधिक श्वास लेता है तो उसी आधिक्य के अनुपात से वह अपनी आयु को क्षीण करता है। किन किन चेष्टाओं से श्वासों की मात्रा अधिक होती है ? अनुभवी योगियों ने इसका भी एक मापदण्ड निश्चित किया है

स्थितस्य द्वादश श्वासाश्चलतो ऽष्टादश स्मृता।
चतुर्विंशति सुप्तस्य त्रिंशद् ग्राम्यरतस्य च।।
अर्थात् बैठे बारह चलत अठारह सोत जाय चौबीस।
मद्य मास मैथुन सेवन में श्वास निकलते तीस।।

कोई भी मनुष्य सदा सर्वथा बैठा ही रहे यह कभी सम्भव नहीं। अत अन्य व्यापारों में श्वासों के आधिक्य के कारण सभावित आयुष्य की उस क्षति को पूरा करने का अमोघ उपाय सन्ध्या प्राणायाम है। अनिवार्य लोकयात्रा में जितने अधिक श्वास प्रश्वास चलेंगे उतने ही त्रिकाल सध्या में प्राणों का नियमन करने के कारण पूरे हो जायेंगे। जो व्यक्ति अष्टाग योग समाधि का अभ्यास करेंगे वे तो अपनी साधना के अनुसार सहस्रायु किवा यथेच्छ चिरजीवी अथच स्वच्छन्द मृत्यु तक पा सकेंगे।

(ग) पारलौकिक लाभ

सन्ध्या से जहा अनेक रोगों की निवृत्ति पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति और दीर्घायु का लाभ होता है वहा विधिवत् प्राण त्याग कर सकने की योग्यता प्राप्त हो जाने के कारण पुण्यलोकों की प्राप्ति तथा मोक्ष पद तक की भी प्राप्ति हो सकती है। शास्त्रों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि मानव पिण्ड में जो प्रत्यक्ष नौ छिद्र हैं उनमें उत्तरोत्तर ज्यों ज्यों ऊपर ऊपर के छिद्र से मृत्यु के समय प्राण जायेंगे त्यों त्यों उत्तम लोक की प्राप्ति होगी। अत मुमूर्षु व्यक्ति के अन्तिम प्रयाण को देखकर उसकी दुर्गति अथवा सुगति का अनुमान किया जा सकता है। शास्त्रों में शरीर के नौ छिद्रों के अलावा ब्रह्मरन्ध्र नामक एक दसवा गुप्त द्वार भी बताया गया है। यदि इस दरवाजे से प्राण निकले तो वह जीव न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते के अनुसार मोक्षपद को प्राप्त हो जाता है। महाप्रस्थान के समय ब्रह्मरन्ध्र भेदन में प्रमुख साधन सध्या हो सकती है। इसके दैनिक अभ्यास से प्राणों का निरोध करके उन्हें ऊर्ध्व गति देने की क्षमता प्राप्त हो सकती है।

जीव को उक्त लाभ दिलाने के लिए ही शास्त्रकारों ने सन्ध्या को न केवल नित्य कर्म कोटि में परिगणित करके इसे अनिवार्य अनुष्ठेय कृत्य कहा है अपितु इसको एक दिन भी न करने से प्रत्यवाय भी माना है इसीलिए मन्वादि स्मृतियों में सन्ध्या विहीन द्विज को दण्डस्वरूप शूद्रवद् बहिष्कार्य कहा गया है।

स ध्या से पूर्व अवधानीय

सन्ध्या वन्दन में बैठने से पूर्व कुछ कार्य आवश्यक हैं क्योंकि उनके बिना सन्ध्या का पूर्णलाभ नहीं मिलता। उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है

(क) शरीर शुद्धि

प्रात शौच क्रिया से निवृत्त होकर मुख शु‍ि के लिए दन्तधावन करना चाहिए क्योंकि इसके बिना मन्त्र फलदायक नहीं होते। आजकल शहर में जनसख्या के भार के कारण वनस्पतियों का उच्छेद होने से नीम आदि वनस्पतियों का दातून मिलना कठिन हो गया है अत टथपेस्ट का प्रयोग अधिक हो गया है तथापि दन्तरोग दूर करने की शक्ति दातुन में ही निहित है यह मेरा अपना अनुभव है। जब से मैंने नीम के दातून का प्रयोग प्रारम्भ किया तबसे दन्तरोग से मुझे मुक्ति मिल गयी नहीं तो उसके पूर्व अनेकों टेबलेट खाने पडे और दात के डाक्टर से दात की सफाई भी करानी पडी फिर भी रोग शान्त नहीं हुआ। इसीलिए दातून वनस्पति से प्रार्थना की गयी है

आयुर्बल यशोवर्च प्रजा पशुवसूनि च।
ब्रह्म प्रज्ञा च मेधा च त्वन्नो देहि वनस्पते।। (विश्वामित्रकल्प)

दातून के लिए योग्य वनस्पतिया

करञ्जोदुम्बर चूत करम्बो लोध्रचम्पकौ।
बदरीति द्रुमाश्चैते प्रशस्ता दन्तधावने।।

इनके अतिरिक्त कीकर नीम और खैर की दातून भी प्रशस्त है। मुख शोधन के पश्चात् यथाशक्य क्षौर कर्म एव तैलमर्दन करने के बाद स्नान करना चाहिए क्योंकि शरीर के प्रधान नवों छिद्र शयन करने से अपवित्र हो जाते हैं अत सम्यक् स्नान से ही उनका शोधन सम्भव है। अन्यथा उनमें रोगाणुओं की उत्पत्ति अवश्य होगी और शरीर नाना व्याधियों से ग्रस्त रहेगा। अत सन्ध्या आदि सभी धार्मिक कृत्यों में स्नान एक आवश्यक और अनिवार्य कृत्य माना गया है। **नित्य स्नात्वा शुचि कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्** ।

स्नान के लिए कुआ झरना सरोवर नदी तीर्थ एव गगा के जल को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना गया है। इसमें रहस्य यह है कि उत्तरोत्तर अधिक जल होने से उसमें प्रदूषण का अभाव रहता है। किन्तु आजकल प्रदूषण का प्रकोप सर्वत्र व्याप्त हो गया है। अत पवित्र जल से घर या बाहर परिस्थितिवशात् सम्यक् स्नान करना चाहिए ताकि शरीर का मल दूर हो जाय। हा स्नान करते समय गगादि पवित्र नदियों का स्मरण करके उनकी भावना करना न भूलें

गङ्गे! च यमुने! चैव गोदावरि! सरस्वति!
नर्मदे! सिन्धु! कावेरि! जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु।।

स्नान करके सध्या के लिए पूर्व दिन का क्षालित शुद्ध वस्त्र धारण करना चाहिए तथा कन्धे पर जनेऊ और ललाट पर भस्म या तिलक अवश्य होना चाहिए।

(ख) स्थान शुद्धि

सन्ध्योपासना के लिए स्थान स्वच्छ पवित्र एव एकान्त होना चाहिए। आपस्तम्ब एव गौतम धर्मसूत्रों में तथा मानव गृह्यसूत्र में गाव के बाहर सन्ध्या का उचित स्थान माना गया है। शाख्यायन ने एकान्त स्थान का उल्लेख किया है तो बोधायन ने नदी का तट किवा पवित्र स्थान लिखा है। किन्तु अग्निहोत्रियों के लिए अपने घर का ही विधान है क्योंकि हवन की अग्नि वहीं स्थापित है। इसी प्रकार ऋषियों ने गोशाला विष्णुमन्दिर और शिवालय का भी निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि अपना घर हो अथवा बाहर सन्ध्या वन्दन के लिए वातावरण स्वच्छ पवित्र एव शान्त होना चाहिए अन्यथा कर्म में विघ्न होगा और मन एकाग्र नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप व्यग्रचित्तो हतोजप के अनुसार कर्म का पूरा फल नहीं मिलेगा।

(ग) आसन शुद्धि

शुद्ध भूमि पर आसन बिछावे और उस पर बैठकर सन्ध्या करनी चाहिए। प्रत्येक धार्मिक कार्य आसन पर बैठकर करना आवश्यक माना गया है। शास्त्रों में भिन्न भिन्न कामनाओं से भिन्न भिन्न आसनों का विस्तार से उल्लेख हुआ है

(१) **कृष्णाजिनमखण्डम्** (स्वा दयानन्द)
अखण्डित काला मृगचर्म बिछाना चाहिए।

(२) **आसीनासो अरुणीनामुपस्थे।** (अथर्व १८/३/४३)

ऊन के आसन पर बैठे हुए ।

(३) **शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन ।**
नात्युच्छ्रित नातिनीच चैलाजिनकुशोत्तरम्।। (गीता ६/१२)

पवित्र स्थान में स्थिर आसन जमाना चाहिए जो न अधिक ऊचा हो और न अधिक नीचा हो। रेशमी मृगचर्म और कुश उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है।

(४) **काम्यार्थं कम्बल चैव श्रेष्ठ च रक्तकम्बलम्।**
कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिर्मोक्षश्रीर्व्याघ्रचर्मणि।
कुशासने मन्त्रसिद्धि नात्र कार्या विचारणा।।
(ब्रह्माण्ड पुराण तन्त्रसार)

काम्य कर्म में कम्बल वह भी लाल हो तो उत्तम ज्ञानसिद्धि के लिए काला मृगचर्म मोक्ष एव श्री के लिए व्याघ्रचर्म तथा मन्त्र सिद्धि के लिए कुशासन बिछाना चाहिए।

स न्ध्या करते समय अथवा कोई भी धार्मिक अनुष्ठान करते समय हमारा सम्बन्ध दैव शक्ति से स्थापित रहता है। उस समय हमारा ध्यान जितना अधिक केन्द्रित होगा शक्ति प्रवाह उतना ही तीव्र होगा। विहित आसन पर बैठे रहने के कारण वह दैवी विद्युत् हमारे मे ही प्रवाहित रहती है। अन्यथा विहित आसन न होने पर उस दैवी विद्युत् का जो हमारे शरीर में प्रवाहित है सम्बन्ध पृथिवी के गुरुत्वाकर्षण से स्थापित हो जायेगा जिससे हमारा कर्म विघात हो जायगा और उस कर्म का फल हमें नहीं मिल सकेगा। इसमें बिजली के करेण्ट का उदाहरण ले सकते हैं कि बिजली का तार छूने पर भी पैर आदि में असक्रामक प्लास्टिक रबड आदि पहने रहने के कारण करेण्ट झटका नहीं मारता अन्यथा वह जीवन लीला समाप्त कर देता है। इसमें कारण पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का सम्बन्ध ही है। इसीलिए शास्त्रकारों ने सन्ध्या आदि सभी धार्मिक कार्यों में आसन को अनिवार्य बताया है। ध्यान रहे सन्ध्या आदि में निषिद्धि आसन नहीं बिछाना चाहिए

धरण्या दु खसम्भूति दौर्भाग्य दारुजासने।
वशासने दरिद्र स्यात् पाषाणे व्याधिपीडनम्।।
तृणासने यशोहानि पल्लवे चित्तविभ्रम ।
जप ध्यानतपो हानि वस्त्रासन करोति हि।।
(ब्रह्माण्डपुराण तन्त्रसार)

खाली भूमि पर बिना आसन बैठने से दु ख लकडी के आसन पर दुर्भाग्य बास के आसन पर दरिद्रता पत्थर पर रोग पीडा घासफूस के आसन पर अपयश पत्तों के आसन पर चित्त में भ्रम और कपडे के आसन पर जप तप ध्यान की हानि होती है। अत कुशा अथवा ऊन के आसन पर बैठकर ही सन्ध्या आदि धार्मिक कृत्य का सम्पादन करना चाहिए।

(घ) दिक् शुद्धि

प्रात एव मध्याह्न सध्या करने के लिए कुशासन की ग्रन्थि को उत्तर तथा दक्षिण की ओर करके बिछावे और उस पर स्वय पूर्व की ओर मुख करके बैठै। सूर्य मण्डल का द्योतक सविता देवता की उपासना सध्या में की जाती है। जिसकी आराधना की जाती है उसे सामने रखने पर उससे सीधा सम्बन्ध जुडता है। सूर्य को सामने रखने पर सूक्ष्म रश्मियों का उससे सीधा सम्बन्ध रहता है और ध्यान में एकाग्रता बनी रहती है। इसीलिए शास्त्रकारों ने साय सध्या में पश्चिम की ओर मुख रखने का विधान किया है

जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात्।
सन्ध्या प्राक् प्रातरेव हि तिष्ठेदासूर्यदर्शनात्।।

सायकाल पश्चिम की तरफ मुख करके जब तक तारों का उदय न हो और प्रात काल पूर्व की ओर मुख करके ही सन्ध्या किवा अन्य धार्मिक कार्य अनुष्ठेय हैं। इसीलिए शास्त्रकारों ने कर्म के अनुसार दिशा का निर्धारण किया है क्योंकि एण्टीना के समान उधर से ही सीधा आकर्षण रहता है।

(क) प्राची दिगग्निरधिपति दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपति प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपति उदीची दिक् सोमोऽधिपति। (अथर्व ३/२७/१ ४)

(ख) देवानामेषा दिग् या प्राची पितृणामेषा दिग् या दक्षिणा।

(ग) प्राचीं दम्पती सश्रयेथाम्। दक्षिणा यम पितृभि। प्रतीचीं श्रयेथा सुकृत। दिशामुदीचीं कृणवन्नो अग्रम्। (अर्थव १२/३/७ १०)

सन्ध्या में अनुष्ठेय मुख्य कृत्य

तैत्तिरीय आरण्यक (२/२) में सर्वप्रथम सन्ध्या का वर्णन मिलता है जहा अर्घ्य एव गायत्री जप ही प्रधान क्रिया देखी जाती हैं। बाद में अन्यान्य क्रियायें भी जुडती गयीं जिनका उल्लेख गौतम धर्मसूत्र आपस्तम्बधर्मसूत्र मनुस्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति आदि सभी धर्मशास्त्रों में हुआ है। सन्ध्या के मुख्य कृत्यों का यह सग्रह श्लोक है

सकल्प आसनविशोधनमम्बुपान
प्राणावरोधनमघक्षयताऽभिषेक।
सौत्रामणीसवन सावभृथार्घ्यदान
सध्याविधिर्निगदितो मुनिभि पुराणै।।

सकल्प आसन शोधन आचमन प्राणायाम नित्यकृत पाप क्षयार्थ मार्जन अवभृथ अघमर्षण सूर्यार्घ्य और सूर्योपस्थान इन सब विधियोंको पुरातन मुनियों ने कही हैं। कालान्तर में पुराणों एव तन्त्रों से न्यास गायत्री ध्यान आवाहन शापविमोचनादि एव मुद्राओं का योग करके सन्ध्या कर्म को बहुत विस्तार दे दिया गया। इसके लिए सस्कार रत्न माला स्मृति मुक्ताफल स्मृति चन्द्रिका आदि प्राचीन ग्रन्थ अवलोकनीय हैं जहा न्यास एव मुद्राओं का विस्तृत वर्णन है। आजकल गीताप्रेस गोरखपुर तथा अन्य धार्मिक प्रकाशनों से सन्ध्या की उक्त सभी क्रियाओं के सम्पादनार्थ सन्ध्योपासना पद्धतिया प्रकाशित हैं जिनमें मन्त्रों के साथ विधियों का उल्लेख है अत उन पुस्तकों की सहायता से सन्ध्योपासना करते करते धीरे धीरे उनका क्रम सारे मन्त्र व विधिया अभ्यस्त होकर कण्ठस्थ हो जाती हैं।

नियमपूर्वक स्थापना को न्यास या धरोहर कहते हैं। यह वह क्रिया है जिसके द्वारा मन्त्रों से मन्त्रात्मक देवता का अपने शरीर के कुछ प्रमुख अगों में आवाहन किया जाता

है। अर्थात् शरीर के उस अग का हाथ से स्पर्श करते हुए उस देवता की भावना या स्थापना की जाती है जिससे शरीर भावित होकर उस क्रिया के लिए पवित्र हो जाता है। यह न्यास क्रिया गायत्री आवाहन और जप से पूर्व सम्पादित की जाती है।

मुद मोद राति आदत्ते इति मुद्रा । नित्याचार पद्धति ग्रन्थ के अनुसार देवता को प्रसन्न करने के लिए और असुरों के अपसारण के लिए गायत्री मन्त्र जप के पूर्व और जप के बाद मुद्रायें प्रदर्शित की जाती हैं। हस्ताकृति को मुद्रा कहते हैं दानों हाथों एव उनकी अगुलियों के सयोग विशेष से प्रदर्शित की जाने वाली भिन्न भिन्न आकृति को मुद्रा कहते हैं। अलग अलग ग्रन्थों में देवता के अनुसार मुद्राओं के नाम आकार एव सख्यायें अलग-अलग हैं। सन्ध्या कर्म में जप से पूर्व चौबीस मुद्रायें प्रदर्शित की जाती हैं

सुमुख सम्पुट चैव वितत विस्तृत तथा।
द्विमुख त्रिमुख चैव चतुष्पञ्चमुख तथा।।
षण्मुखाधोमुख चैव व्यापकाञ्जलिक तथा।
शकट यमपाश च ग्रन्थित चोन्मुखोन्मुखम्।।
प्रलम्ब मुष्टिक चैव मत्स्य कूर्मो वराहकम्।
सिहाक्रान्त महाक्रान्त मुद्गर पल्लव तथा।।
एता मुद्राश्चतुर्विंशज्जपादौ परिकीर्तिता ।।

जप के अन्त में की जाने वाली आठ मुद्रायें

सुरभिर्ज्ञानवैराग्ये योनि शङ्खोऽथ पङ्कजम्।
लिङ्ग निर्वाणमुद्राश्च जपान्तेऽष्टौ प्रदर्शयेत्।।

शरीर के विभिन्न आसनों के अन्तर्गत इन मुद्राओं की गणना की जा सकती है। इनको धीरे धीरे कुछ क्षण रोक कर करने से हमारी नसें स्वस्थ रहती हैं। योग चिकित्सा में हाथ के नसों की अकडन दूर करने के लिए आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न मुद्राओं को कुछ समय किये रहने की सलाह दी जाती है और उससे अवश्य लाभ होता है। महासहिता के मत से मुद्राए भीड भाड में नहीं करनी चाहिए क्योंकि उससे देवता कुपित होते हैं और मुद्राए विफल हो जाती हैं।

मुद्राओं का प्रभाव दूर दूर तक गया है। जैन एव बौद्ध सम्प्रदायों में भी मुद्राओं का प्रचलन है। वर्धमानसूरि के आचार दिनकर ग्रन्थ में जैनों के लिए बयालीस मुद्राए बतायी गयी हैं और उनकी परिभाषा भी दी गयी है। हिन्देशिया के बालि द्वीप के बौद्धों और शैव पुजारियों द्वारा व्यवहृत मुद्राओं पर भी पुस्तक प्रकाशित है जिसमें साठ चित्र छपे हैं।

उपनयन सस्कार की वैज्ञानिकता

• आचार्य रामनारायण त्रिपाठी

उपनयन और विवाह सस्कारों में प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों के अर्थों को ज्ञात कर लेने पर स्वत उसकी वैज्ञानिकता प्रकट हो जाती है। त्रिकालज्ञ सूक्ष्मदर्शी महर्षियों ने जिन कृत्यों के लिये स्वानुभूत मत्रों का विनियोग किया है जिनका प्रयोजन दृष्ट अदृष्ट और उभय होता है। हम चर्मचक्षु लोग दृष्ट प्रयोजन को ही पर्याप्त रूप से नहीं समझ सकते हैं तो पुन अदृष्ट प्रयोजन की क्या बात है। वे ही ऋषि मुनि मत्र की शक्ति फल विनियोग जानेगे जिनके लिये **अतीतानागतज्ञान प्रत्यक्षान्न विशिष्यते** कहा गया है। तथापि मैं **उद्वाहुरिव वामन** की तरह उक्त विषय पर कुछ कहने का विफल प्रयास करुगा।

उपनयन विवाह कृत्यों का क्रमपूर्वक विधियों पद्धतियों में पूर्णरूप से दी गई है जिनके अनुसार ये सस्कार सम्पन्न किये जाते हैं। अत यहा उसकी चर्चा नहीं की जायेगी। यदि कहीं पद्धतियों और कृत्यों मे भेद दिखाई देता है तो वह देश जनपद कुल आचार्य भेद के कारण है जो वहा मान्य है। कहीं कछ क्रियाओं में भेद देखे जाते हैं। उनमें भी जाति कुल का धर्म ही कारण है।

प्राय इस लेखन में सभी विधिया तथा उसकी क्रिया प्रणाली न दी जायेगी केवल मुख्य कार्यों का विचार किया जायेगा और वही उसकी उपयोगिता को यथामति प्रकट किया जायेगा इसके लिये अलग प्रकरण नहीं रहेगा।

सस्कार

उपनयन और विवाह सस्कार के निरूपण के पूर्व सस्कार का स्वरूप तथा उसकी सख्या उपयोगिता का परिचय कराना आवश्यक समझ कर उस पर कुछ ग्रन्थमत दृष्टिपात कर रहा हू।

सस्कार सस्करण सशोधन का नाम है। ससार में जड चेतन सभी पदार्थो के लिये सस्कार अपेक्षित है। इससे पदार्थ गत दोष की निवृत्ति शुद्धता और विशिष्ट गुणों का आधान होता है। जिससे उस सस्कृत पदार्थ की पहली अर्घता और उपयोगिता सिद्ध होती है।

---

१ वैदिकै कर्ममि पुण्यै र्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्य शरीरसस्कार पावन प्रेत्य चेह च।। मनु १/२६
गार्भैर्होमै जातकर्म चौडमौञ्जीनिबन्धनै ।
वैजिकगार्भिंक चैनो द्विजानामपमृज्यते।।१/२ ब्राह्मीय क्रियते तनु १/२

यहा मानव एव सस्कार विशेषकर भारतीय मानव सस्कार के विषय ही विवक्षित है। मानव सस्कार वह क्रिया है। जिसके द्वारा धार्मिक बौद्धिक शारीरिक आध्यामिक दोषों का निवारण तथा विशेष गुणों का आधान किया जाता है। जैसे अन्य पदार्थो विशेष कर धातुओं रत्नों आदि की सस्कार से उसमें महार्हता महार्घता लोकोपयोगिता प्रत्यक्ष दृष्ट होती है। उसी प्रकार मानव में सस्कार से बुद्धि और मन में सात्त्विकता सर्वप्रियता मानसिक सुख मूल प्रवृत्तियों का उदय सुख शान्ति सचार वास्तविक अनुभव चित्तशुद्धि आध्यात्मिक उन्नति का लाभ होता है। जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रडगो के द्वारा अपने चित्र को सजाकर आकर्षक बनाता है उसी प्रकार विविध सस्कारों से सुसस्कृत मानव को मानवताधायक के योग्य किया जाता है। विशेषकर ब्राह्मणों में ब्राह्मणत्व स्थापित किया जाता है।

चित्रकर्म यथाऽनेकै रङ्गैरुन्मील्यते शतै ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् सस्कारैर्विधिपूर्वकै ।।

शास्त्रों में सस्कारों की सख्या भिन्न भिन्न मिलती है। कहीं ४८ कहीं चालीस कहीं २५ कहीं २३ कही गई है लेकिन बहुतायत १६ सख्या की ही चर्चा है जो लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध तथा चर्चित एव महनीय है। आधुनिक श्रेष्ठ जनो ने भी १६ सख्या की ही मान्यता दी है। जैसे आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती काशी धर्म महामण्डल के स्वामी दयानन्द आदि। ज्योतिष ग्रन्थों निबन्धों गृह्यसूत्रों में भी अधिकतर यही सख्या मिलती है। इन सोलह सस्कारों के नामों में भी परिवर्तन मिलता है। दशकर्म पद्धति[७] आदि ग्रन्थों में दश सस्कारों की चर्चा है किन्तु उसका तात्पर्य मुख्यता से ही है गणना से नही। सोलह १६ सस्कार ये हैं गर्भाधान पुसवन सीमन्तोन्नयन जातकर्म नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन चूडाकरण कर्णबेध उपनयन वेदारम्भ समावर्तन केशान्त विवाह अग्न्याधान अन्त्येष्टि। इनमें अक्षरारम्भ और विद्यारम्भ का नाम नहीं है।

गर्भाधान पुसवन सीमन्तो जातकर्मच।
नामक्रिया निष्क्रमणोऽन्नाशन वपनक्रिया।।
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भ क्रियाविधि ।
केशान्त स्नानमुद्वाहो विवाहोऽग्नि परिग्रह ।।

---

१ गौतम धर्म सूत्र-अष्टचत्वारिंशत्कसस्कारै संस्कृत
२ गौतमधर्मसूत्र अष्टचत्वारिंशत् सस्कारै सस्कृत
३ अंगिरास्मृति
गृह्यसूत्र
५ व्यास स्मृति जातूकर्ण्यस्मृ
६ संस्कार विधि
मनुस्मृति में १३ आश्व गृ ११ पार गृ १२

चेताग्निसग्रहश्चेति सस्कार षोडश स्मृता । संस्कार भास्कर

कही त्रेताग्नि भी पाठ मिलता है। इनमें भी नामों का परिवर्तन अन्यत्र देखे जाते हैं। इसका कारण आचार्यों का मतान्तर ही माना जाता है। इनमें कुछ मम्कारों का प्रयोजन निम्ननिदिर्दिष्ट है

निषेकाद् बैजिक चैनो गाभिर्मिक चापमृज्यते। क्षेत्रसस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलस्मृतम्।।
गर्भाद्भवेत् पुसूते पुस्त्वस्य प्रतिपादनम्। निषेकफलवज्ज्ञेय फल सीमन्तकर्मण ।।
गर्भाम्बुपानजो दोषो जातात् सर्वोपि नश्यति आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा।।
नामकर्मफल त्वेतत् समुद्दिष्ट मनीषिभि । सूर्यावलोकनादूर्यायुरभिवृद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।।
निष्क्रमादायु श्रीवृद्धिरित्युद्दिष्टा मनीषिभि । अन्नाशनान्मातृगर्भमलाशादपि शुद्ध्यति।।
बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूडाकर्मफल स्मृतम्।
उपनीते फल त्वेतद् द्विजता सिद्धिपूर्विका। वेदाधीत्याधिकारस्य सिद्धि ऋषिभिरीरिता।।
पत्या सहाग्निहोत्रादि तस्य स्वर्ग फल स्टम्। ब्राह्मऽधुदूवाहसभूत पितृणा तारक सुत ।।
विवाहस्य फल त्वेतद् व्याख्यात परमर्षिभि ।

ये सस्कार सभी वर्णो के लिये है प्राय करणीय है किन्तु त्रैवर्णिक का समन्त्रक होना चाहिए और इतर का अमन्त्रक या लौकिक (पौराणिक) मन्त्र से होना चाहिए।

ब्राह्मणक्षत्रियविट शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजा ।
निषेकादिश्मशानान्तास्तेषा वै मन्त्रत क्रिया ।।
शूद्रोप्येवविध कार्यो बिना मन्त्रेण सस्कृत । याज्ञ स्मृ

इनमें उपनयन वेदारम्भ समावर्तन अग्न्याधान सस्कार त्रैवर्णिको के लिये ही निहित है अन्य के लिये नहीं है।

उपनयन

उपनयन सस्कार का ही अपर नाम उपवीत यज्ञोपवीत व्रतबन्ध ब्रह्मसूत्रधारण मौञ्जीवन्धन जनेऊ आदि है। उप समीपे (गुरो) वेदाध्ययनार्थं येन कर्मणा नीयते तद् उपनयन वेदाध्यायन के लिये गुरु (आचार्य) के समीप जिस क्रिया के द्वारा बालक को पहुचाया जाता है उसे उपनयन सस्कार कहते हैं।

---

१ उपवीतं नाम उपरि स्कन्धदेशे वीत परिहितम्।

२ यज्ञेन प्रजापतिना यज्ञाय वेदोक्तकर्माधिकाराय इति का उपवीत उपरिस्कन्ध देशे वीत परिहितम्।

३ व्रतेन ब्रह्मचर्येण वेदाध्ययनेन वा बन्ध क्रियते येन स

४ सूचनाद् ब्रह्मतत्त्वस्य वेदतत्त्वस्य सूचनात्। तत्सूत्रमुपवीतत्वाद ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम्।। स्मृति प्रकाश

क आचार्यसमीपानयनम् अग्नि समीपानयनम्,
सावित्री वचनञ्च छान्दोग्यपरिशिष्ट

गृह्योक्त कर्मणा येन समीप नीयते गुरो
बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयन विदु ।। गो गृ सू भाष्य

उपनयन सस्कार से त्रैवर्णिको की द्विज सज्ञा होती हे। इसमें ज्ञानमय जन्म आचार्य द्वारा होता है। और आचार्योपदिष्ट गायत्री ही यहा माता मानी गई है।

मातुरग्रेऽधिजनन द्वितीय मौञ्जीबन्धने । मनु २/१६९
जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय सस्काराद् द्विज उच्यते ।। अत्रि स्मृ १३८
द्वे जन्मनी द्विजातिना मातु स्यात् प्रथम तयो ।
द्वितीय छन्दसा मातुर्ग्रहणाद् विधिवद् गुरो ।। व्यासस्मृ १/२२

इस प्रकार के वचन वसिष्ठ स्मृति २१२ ३ शखस्मृति १/६ में भी उपलब्ध होते है। जब तक उपनयन सस्कार नहीं होता है। तब तक वेद माता गायत्री के जप करने में तथा वेदो के अध्ययन में बालक अधिकारी नहीं होता है। जन्मना तो निश्चित रूप से ब्राह्मणत्वादि धर्म रहता है। ब्राह्मण्या ब्राह्मणाज्जात ब्राह्मणा) ऐसा आर्षवचन प्राप्त है किन्तु एकजत्व (मातृजन्यत्व) के कारण द्विजत्व सभव नही है। वह तो जन्म और सस्कार दोनो से ही प्राप्त होता है (द्वाभ्या जन्मसस्काराभ्या जायते इति द्विज)। जो लोग जन्मना जायतेशूद्र सस्काराद् द्विज उच्यते कहते हैं। उसका शूद्र सादृश्य अर्थ है। न कि शूद्र अर्थ है। और वह सादृश्य गायत्री एव वेद के राहित्य के कारण ही है। अन्यथा जन्मना शूद्र मानने पर चारो वर्णों का उपनयनादि सस्कारों गायत्रीजाप वेदाध्ययन श्रौत यज्ञ आदि वैदिक कर्मो में समानाधिकार हो जायेगा जो परम्परा सस्कृति वेदशास्त्र मर्यादा वर्ण धर्म लोक धर्म के विपरीत एव गर्हित है।

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्य कृत । पु सू १०
अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत ऐकादशवर्ष राजन्यम् पा गृ सू २१
गर्भाष्टमेंऽब्दे कुर्वीति ब्राह्मणस्योपनयनम्। मनु
ब्राह्मण्या ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मण

इत्यादि श्रुतिसूत्रस्मृति वचनो से भी सिद्ध होता है कि जन्मना ब्राह्मणत्वादि धर्म या जाति रहती है। इसका विलोप नहीं होता अन्यथा ये वचन अनर्थक हो जायेगे। अत वहा शूद्र का शूद्रवत् अर्थ करना ही उचित है।

जो लोग वर्णाश्रम धर्म को नही मानते हैं वे भी विवाहादि सम्बन्ध स्वाधीन पदो के वितरण चुनाव आदिकार्य में धर्म जाति मर्यादा समता विषमता आदि का विचार करते हैं। तदनुकूल कृत्यों को करते हैं। ऐसा लोक में देखा जाता है।

त्रैवर्णिको की कन्या का यज्ञोपवीत सस्कार नहीं होता है और न वेदमाता गायत्री वेदाध्यनाध्यापनादि में अधिकृत है। यद्यपि यमस्मृति तथा अन्यत्र कुछ वचन प्राप्त होते है **पुराकल्पे तु नारीणा मौञ्जीबन्धनमिष्यते।**

अध्यापन च वेदाना सावित्री वाचन तथा। उद् पा (/५

तत शैलवर सोपि प्रीत्या दु र्गोपवीतकम् कारयामास सोत्साह वेदमन्त्रै शिवस्य च।। शि पु

स्त्रियोऽपि अध्ययनाध्यापनयोरधिकारिणो भवन्ति।

इन वचनो को भाष्यकारो ने युगान्तरीय माना है। यह भी ध्यातव्य है कि स्त्रिया दो प्रकार की होती है। १ सद्योवधू २ ब्रह्मवादिनी। ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का यज्ञोपवीत वेदाध्ययन में अधिकार था जैसे गार्गी आदि। ऐसी चर्चा हारीत स्मृति में आई हैं किन्तु सद्योवधू स्त्रियों तथा शूद्रो को अधिकार नही हैं। स्त्रियों के लिए विवाह सस्कार ही यज्ञोपवीत स्थानीय माना गया है क्यों कि उसमें वैदिक मत्रों का उच्चारण आहुति क्रिया को करती है। अभिभावक द्वारा कन्या को वर के पास वैध रुप से नयन करना ही विवाह है। और वह उसका द्विजत्व का सम्पादन करता है। विवाह में वर के द्वारा दिया गया वस्त्रद्वय में उत्तरीय का यज्ञोपवीत की तरह लपेटना ही उपनयन सूत्र है। विवाह सस्कार में कन्या द्वारा कई वेद मन्त्रों को वर के आश्रय से बोलना ही आचार्य माणवक की तरह वेदारम्भ है। पति के साथ स्त्री का लाजा का हवन करना ही समिदाधान है। जैसे पुरुष उपनयन में सस्कृत होते हैं वैसे ही स्त्रिया विवाह से सस्कृत होती हैं। अत विवाह से भिन्न स्त्रियों का पृथक् उपनयन सस्कार नहीं है।

वैवाहिको विधि स्त्रीणा संस्कारो वैदिक स्मृत ।
पतिसेवा गुरौवासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रमा।। मनु २/६७

इस प्रसग में जिज्ञासु जने के लिये उपर्युक्त श्लोक की कुल्लूक भट्ट मेधातिथि गोविन्दराज श्रीनारायण राधवानन्द नन्दन की टीकाओं को देखना अवश्य चाहिए। विस्तार के मय से यहा नहीं दिया जा रहा है। इन सभी टीकाकारों का स्त्रियों के यज्ञोपवीत निषेध में मतैक्य है और सभी ने विवाह को उपनयन स्थानीय माना है। यहा विचारणीय विषय है कि स्त्रिया रजोधर्म के समय चार दिन यज्ञोपवीत किस प्रकार धारण करेगी। दूसरी बात प्रसूति के समय तथा शिशु के शैशव काल में किस प्रकार ब्रह्मसूत्र को पवित्र रख सकती

---

१ यत्तुहारीतेनोक्त द्विविधा स्त्रियों ब्रह्मवादिभ्य सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययन स्वगृहे च भिक्षाचर्येति। सद्योवधूना तु उपस्थिते विवाहे कथञ्चिदुपनयनमात्रंकृत्वा विवाह कार्य। उद्घृत स्मृति चन्द्रिका भाग १ पृ २

है जहा शिशु गोदी में ही मलमूत्र अचानक असमय त्याग कर देता है। अत उनके लिये कदापि उपनयन अर्ह नहीं हो सकता। गृहकार्यों में व्यस्त स्त्रिया उपवीत के निर्वाह करने में सर्वथा असमर्थ है। शूद्र भी उपनयन सस्कार में अधिकृत नहीं है। उनके ा़िये वर्णाश्रम विहित क्रिया ही सर्वथा उपादेय है।

ब्राह्मण क्षत्रियों वैश्य त्रयोवर्णा द्विजातय ।

चतुर्थो एक जातिस्तु शूद्रो जातिस्तु पञ्चम । मनु 1 /4 इनके लिये उत्तरीय ही उपवीत स्थानीय है।

उपनयन सस्कार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण एव मूलाधार है। इसके बिना ये त्रैवर्णिक द्विज या द्विजाति सज्ञा के भागी नही हो सकते और न तो वास्तविक में ब्राह्मणादिसज्ञा से पूर्णतया स्थापित हो सकते हे। वेदिक क्रियाकलापों एव स्मार्त अनुष्ठानहवनादि कार्यों में उनकी प्रवेशार्हता अधिकारिता नहीं हो सकती। लोक में अनुपनीत बालकों को ब्राह्मण भोजन हवन यज्ञादि कर्म काण्ड आदि कृत्यों में सम्मिलित नहीं किया जाता है। और न उनकी गणना होती है। इन सस्कार से ही द्विज सज्ञा वेदा ययन यागादि क्रिया में बालक अधिकृत होता है और वास्तव में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विज या द्विजाति सज्ञा का भागी होता है।

अन्य सस्कारों की अपेक्षा इसकी सर्वोपरि महत्ता है। किन्तु खेद है कि आजकल यह सस्कार लुप्तप्राय या नाम मात्र रह गया है। इसकी जितनी उपेक्षा नागरिक क्षेत्र और आधुनिक सभ्य समाज विशेष कर अभिजात्यवर्ग में है उतनी ग्रामीण क्षेत्र में नही है। इसके अधिकारी त्रैवर्णिको में क्षत्रिय और वैश्यों में कुछ अपवादो को छोड कर इसका अभाव ही है। प्राय इनके यहा तिलक और विवाह में पुरोहितों द्वारा यज्ञोपवीत पहना दिया जाता है। सभव है कि उस दिन (तिलक विवाह) या उसके पूर्व दिन नाम मात्र का सस्कार भी होता हो।

त्रैवर्णिकों में इन दोनों से अतिरिक्त ब्राह्मण वर्ण जो अग्रजन्मा पथ प्रदर्शक सर्वशिक्षक ब्रह्ममुख कहे जाते हैं। इनके यहा भी मुख्य काल (८ वर्ष) में कालप्रवाह आधुनिक वातावरण या अन्य कारणवश प्राय नहीं हो पाता है अर्थात् असभव सा ही है। अपवाद को छोडकर गौणकाल (१६ वर्ष) के अन्दर होना भी आज कल क्वचित् ही देखा जाता है। प्राय इस वर्ग में भी तिलक या विवाह के अवसर या अन्य किसी शुभ कार्य में यज्ञोपवीत का नाटक कर देते हैं। उपनयन का क्या उद्देश्य है उसे न जानते हैं। और न जिज्ञासा रखते हैं तो ऐसी दशा में वैज्ञानिकता का प्रदर्शन क्या कर सकता है। यज्ञोपवीत सस्कार की अवहेलना जितना सभ्रान्त शिक्षित सभ्य वर्गो में है वैसी दशा सामान्य वर्ग में नही है। इसका ही परिणाम द्विजेतर अन्य जातिया भी स्वेच्छा या यज्ञोपवती धारण कर शर्मा सिह हो गई।

यज्ञोपवीत सस्कार का जो समय महर्षियों ने मुख्य माना है उसका अभिप्राय यह है कि वह समय वेदादि मन्त्रों को कण्ठस्थ तथा स्मरण हेतु अत्यन्त उपयोगी है।

कष्ट है कि पथ प्रदर्शक ब्राह्मणो के घरों में इस सस्कार का यथोचित पालन नही हो रहा है। जिस जाति पर मनु को यह अभिमान था।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ।। मनु २/२

इस सस्कार में समयातिक्रमण में निर्धनता समयाभाव विविध विपदाए आदि अनेक कारण हो सकते हैं। किन्तु विशेष कारण युग का प्रभाव अभिरुचि की न्यूनता कर्म निर्वाह में आलस्य सदिच्छा तथा उत्साह की अल्पता और अज्ञानता भी है।

द्विजातिमात्र विशेषतर ब्राह्मणो से निवेदन है कि नियत समय (मुख्य और गौण) के अन्दर बालको का सस्कार अवश्य करा दें। यदि वह स्वतत्र रूप से अपने घर में कराने में असमर्थ हो तो अकरणान्मदकरण श्रेय के अनुसार देवालय तीर्थ स्थान सामूहिक यज्ञोपवीत स्थान। आदि पर करा दें जिससे शास्त्र मर्यादा और लोक परम्परा सुरक्षित रहे।

यदि समयावधि तक सस्कार न हो सके तो काल तिक्रम को अधिक बढाने की चेष्टा न करना अत्यन्त अनुचित है। अन्त में कहना यह है कि गले में यज्ञोपवीत डालना अत्यावश्यक है। जिससे ब्राह्मण जाति सुरक्षित रहे।

यज्ञोपवीत हि नाम ब्राह्मणस्य महदुष्पकरणाद्रव्यम् मृच्छ ३/१६

सदोपवीतिना भाव्यम्, कात्या १/४

विना यज्ञोपवीतेन द्विजातिर्यद्युपस्पृशेत् लघुहारीत २१

यज्ञोपवीत नाम ब्राह्मणस्य चिन्हम्

यज्ञोपवीत निर्माण विधि

यज्ञोपवीत उपवीत ब्रह्मसूत्र यज्ञसूत्र त्रिसूत्र जनेऊ आदि शब्द पर्याय वाचक है। इसका निर्माण और स्वरूप अधोनिर्दिष्ट है।

ब्राह्मण या ब्राह्मण की कुमारी कन्या अथवा सौभाग्यवती स्त्री के द्वारा पवित्रता पूर्वक पवित्र स्थान में कपास या नरमा की रूई (तूल) से तकली आदि द्वारा निर्मित सूत्रों की त्रिसूत्री बनावे।

ब्राह्मणेन तत्कन्याया सुभगया धर्मचारिण्या ब्राह्मण्या वा कृत सूत्रमादाय। पुन उस त्रिसूत्री को ९६ चौका (चतुरगुली) लपेट कर जल प्रोक्षण के साथ तकली टिकुरी से दायें तरफ से ऐठन देने के पश्चात् पुन उसे त्रिवृत अर्थात् त्रिगुण कर बायें तरफ से ऐठन देकर परमार्जित कर तैयार करना चाहिए। इस प्रकार वह सूत्र नौ तन्तुओं का हो जाता है। और नाप में लगभग ३२ चौवे का होता है। पुन उस सूत्र को समानाकार रूप में त्रिवृत् कर प्रवरानुकूल ग्रन्थि (गाठ) देकर शिखा बना दिया जाता है। और तब वह उपवीत सज्ञा युक्त हो कर धारण करने योग्य होता है।

यज्ञोपवीत कुर्वीत सूत्रेण नवतन्तुकम्। वीरमित्र स प्र पृ ४१६
कार्पासमुपवीत स्यात् विप्रस्योर्ध्ववृत त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसूत्रिकम्।। मनु २/४४

यज्ञोपवीतलक्षण स्मृत्यर्थसारे

कार्पासक्षौम ।ोवालशा ।वल्कतृ ।।दिकम्।
यथासभवत कार्यमुपवीत द्विजातिभि ।।
शूचौ देशे शुचि सूत्र सहताङ्गुलिमूलके।
आवेष्टयषण्णवत्या तत् त्रिगुणीकृत्य यत्नत ।।
अब्लिङ्गकैस्त्रिभिसम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृत च तत्।
अप्रदक्षिणमावृत्यसावित्र्या त्रिगुणी कृतम्।।
अध प्रदक्षिणावृत्त सम स्यान्नवसूत्रकम्।
त्रिरावेष्टय दृढ बद्ध्वा हरिब्रम्हेश्वरोन्नमेत्।।

यज्ञोपवीत के निर्माण के अवसर पर व्याहृति गायत्री त्रिदेव ब्रह्मा विष्णु महेश का स्मरण-आवश्यक है।

यज्ञोपवीत का निर्माण वही व्यक्ति (ब्राह्मण) कर सकता है जो परम्परागत विज्ञ पुरुषो से उसकी शिक्षा लिया हो।

---

१ अर्थात् यज्ञोपवीत निर्माण प्रकार वक्ष्याम। ग्रामाद् बहिस्तीर्थे गोष्ठे वा गत्वाऽनध्याय वर्जित पूर्वाह्णे कृतसन्ध्योऽष्टोत्तरशत सहस्त्र वा यथाशक्ति गायत्री जपित्वा ब्राह्मणेन तत्कन्ययो सुभगया धर्मचारिण्या वाकृतं सूत्रमादाय भूरिति प्रथमा षण्यावर्ती मिनोति भुवरिति द्वितीया स्वरिति तृतीया मीत्वा पृथक् पलाशपत्रे सस्थाप्य आपोहिष्ठेति तिसृभि शन्नो देवीत्यनेने सावि या चाभिषिच्य वामहस्ते कृत्वा त्रि संताडय व्याहृतिभि स्त्रिवलित कृत्वा पुनस्ताभिस्त्रिगुणित कृत्वा पुन स्त्रिवृतं कृत्वा प्रवणेन ग्रन्थि कृत्वोङ्कार-अग्नि नागाम् यमपितृन् प्रजापति वायु सूर्यं विश्वान् देवान् नवतुन्तुषु क्रमेण विन्यस्य सपूजयेत्। देवस्येत्युपवीतमादाय उद्वय तमस्परोत्यादित्याय दर्शयित्वा यज्ञोपवीतमित्यनेन धारयेंदित्याह भगवान् कात्यायन कात्यायनपरिशिष्टे

यज्ञोपवीत ९६ चौवे के बनाने में कई कारण विज्ञजन बताते हैं जो निम्न लिखित है।

१ चारो वेदो में वेदमाता गायत्री मन्त्र २४ अक्षरो का होता है इसलिये २४ के चौगुने ९६ चौवे का यज्ञोपवीत बनाया जाता हैं जिससे उपवीती बालक चारो वेदो के अध्ययन का अधिकारी होता है।

चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरा।
तस्माच्चतुर्गुण कृत्वा ब्रह्मसूत्रमुदीरयेत्।।

२ १५ तिथिया ७ बार २७ नक्षत्र २५ तत्त्व ४ वेद ३ गुण ३ काल १२ मास इन सभी की सयुक्त सख्या ९६ होती हैं। यज्ञोपवीत में ये सभी निहित है। इसलिये वह भी ९६ चौवे का होता है।

तिथिर्वार च नक्षत्र तत्त्ववेदगुणान्वितम्।
कालत्रय च मासाश्च ब्रह्मसूत्र चषण्णव।। छान्दोग्यसूत्र परिशिष्ट

३ सामुद्रिकशास्त्र की मान्यता के अनुसार पुरुष का माप अपनी अगुलियों से ८४ से १ ८ अगुलियों तक है। ८४ और १ का मध्यमान ९६ होता है। इस कारण यज्ञोपवीत ९६ का बनाया जाता है।

४ ९६ चौवे के यज्ञोपवीत होने की व्यावहारिकता यह भी है कि जनेऊ नाभि या कटि से नीचे नही जाना (लटकना) चाहिये और स्तन से ऊपर भी नहीं पहुचना चाहिए। अन्यथा हानि होती है। अर्थात् नाभि से नीचे होने पर तप का क्षय होता है और स्तन के ऊपर होने से श्री की हानि होती है। इसलिये ऐसा विचार कर ९६ चौवे का बनाया गया है। जिससे तदनुकूलमाप हो। यद्यपि इस माप से बनने पर भी यज्ञोपवीत उचित स्थान से घट बढ जाता है। किन्तु वह घटना बढना निर्माता और परिधाता के भेद के कारण हैं। यज्ञोपवीत का माप यज्ञोपवीती के माप से ही होना चाहिए।

स्तनादूर्ध्वमधोनाभिर्न कर्तव्य कदाचन।
स्तनादूर्ध्वं श्रिय हन्ति नाभ्यधस्तात् तप क्षय ।।
गो गृ स 3/54

५ चारो वेदो के कर्म और उपासना काण्डों की मत्र सख्या ९६ हजार है। इस लिये यज्ञोपवीत ९६ बार लपेटा जाता है। ब्रह्मचारी और गृहस्थ दोनो ही इन्हीं काण्डो के अधिकारी है। पुन उन सूत्रों को तीन करके एक में लपेट कर एक सूत्र बनाया जाता है। जो नौ सूत्रात्मक होता है। जिनको त्रिसूत्री के रूप में किया जाता है। इनका भी अभिप्राय विद्वज्जन अनेक प्रकार के बताते हैं।

१ तीनो सूत्रो का सबन्ध तीनो आश्रमो (ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ) से है।

२ तीनो वेदो (ऋक यजुष साम) से है।

३ तीनो श्रौत यज्ञो से है।

४ तीनो पुरुषार्थो (धर्म अर्थ काम) से है।

५ तीनो अग्नियों (गार्हपत्य दाक्षिणात्य आवहनीय) से हे।

६ तीनो वर्गो (धर्म अर्थ काम) से है जिससे मन का मूल आवरण और विक्षेप दूर हो जाय।

७ तीनो देवो (ब्रह्म विष्णु महेश) से है। इन देवो से सबन्ध होने से तत्सबद्ध कृत्यो आराधनाओं में मनुष्य अधिकृत होता है।

किसी का मत है कि उपनयन सस्कार के पूर्व जातक का गर्भाधान पुसवन सीमन्तोन्नयन जातकर्म नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन कर्णवेध चूडाकरण इन पूर्वकृत नौ सस्कारों के क्रमश एक एक त्रिक को नव तन्तुमयी त्रिसूत्री क्रमश स्मरण दिलाती है जिससे यज्ञोपवीती उत्साहित रहता है।

इस प्रकार से निर्मित त्रिसूत्री (यज्ञोपवीत) के प्रत्येक सूत्रों में नौ सूत्र होते हैं। इन सूत्रों में क्रमश नौ देवता ओंकार अग्नि नाग सोम पितृ प्रजापति वायु यम या सूर्य विश्वेश (सर्वदेवता) निवास करते हैं।

यज्ञोपवीत कुर्वीत सूत्रेण नवतान्तवम्।
देवतास्तत्र वक्ष्यामि आनुपूर्व्येण या स्मृता ।।
ओङ्कार प्रथमतन्तुर्द्वितीयश्चाग्निदैवत ।
तृतीयो नागदैवत्यश्चतुर्थे सोमदैवत ।।
पञ्चम पितृदैवत्य षठश्चैव प्रजापति ।
सप्तमो वायुदैवत्यश्चाष्टमो यम दैवत ।।
नवम सर्वदैवत्य इत्येते नव तन्तव । गृह्य सग्रह ३/४८ ५१

ये देवता क्रमश ब्रह्मज्ञान तेजस्विता धैर्य भारवहन अह्लाद स्नेहशीलता स्वयरक्षण शक्तिशालीनता प्रजापालन बलशालिता दुष्टदमन अथवा प्रकाश दिव्यगुण अथवा सात्त्विकता इन नौ गुणो की प्राप्ति कराते हैं। इन देवताओं से इन गुणों का प्राप्त करने के लिये यज्ञोपवीती को यत्न करना चाहिए। धारणीय यज्ञोपवीत के जो त्रिसूत्र हैं उनका तात्पर्य देव ऋषि पितृ सबद्ध तीनो ऋणो के भार को द्योतित करना जिससे उपवीती उस भार को उपनयन करने में अधिकारी हो और तदर्थ सर्वदा सचेष्ट रहे। त्रिसूत्र का अभिप्राय तीनो आश्रमों (ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ) में अधिकृत हो तथा ऋक् यजुष् साम में अधिकृत होते हुए तीनो के मन्त्र विशेष विषय का ज्ञान पूर्वक तदविहित क्रियाओं का

ब्रह्मग्रन्थि

यज्ञोपवीत में ब्रह्मग्रन्थि का विशेष स्थान है क्योंकि यह ग्रन्थि चरम लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति का स्मारक होने के कारण ब्रह्मग्रन्थि कहलाती है। ससार में यह परिपाटी प्रसिद्ध है कि जब किसी वस्तु को विशेष रूप से स्मरण रखना चाहते हैं तो उसके लिये कपडे में एक गाठ लगा लिया करते हैं। ऐसे ही अर्थ में गाठ बाध लेना यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। ब्रह्मग्रन्थि प्रणव मन्त्र जप पूर्वक प्रवरानुकूल दी जाती है। अर्थात् जिस गोत्र के जितने प्रवर हो उतनी ग्रन्थिया दी जाती है। गोत्रानुसार प्रवरो (प्रवर ऋषियों) की सख्या और नाम भिन्न भिन्न होते हैं। प्रवर सख्या ३ ५ ७ और १ पाई जाती है। प्रणव ॐ सत् रजस् तमस् तीन गुणों के प्रतिनिधि त्रिदेव विष्णु ब्रह्मा शिव का स्मारक और अपने प्रवर ऋषियों का स्मारक है। ग्रन्थि के बाद जो शिखा बनाई जाती है वह अपने सूत्र और शिखा के स्मरणार्थ है।

वर्णानुसार (कपास शण ऊन) विहित यज्ञोपवीत के अभाव में गोमिल मुनि के मतानुसार सभी प्रकार के यज्ञोपवीत सभी वर्णों (द्विजातियों) के लिये ग्राह्य है। अथवा कार्पास सूत्र का यज्ञोपवीत त्रिवर्णों के लिये उपादेय है। व्यवहार दशा में या यज्ञोपवीत सस्कार के अवसर पर कार्पास सूत्र का ही यज्ञोपवीत प्रयुक्त होता है।

वर्णानुसार यज्ञोपवीत धारण करने से वर्ण का ज्ञान देखने मात्र से ही हो जाता है। तदर्थ पूछने की आवश्यकता नहीं पडती। दूसरी बात यह है कि शण (सन) और ऊन का बना हुआ उपवीत दृढ होता है। इसकी दृढता युद्ध और व्यापाररत क्षत्रिय वैश्यों के लिये उपयुक्त रहती है।

यज्ञोपवीत धारण प्रकार एव उपयोगिता

उपनयन सस्कार के समय बटक को एक ही त्रिसूत्र धारण करने का विधान है और वह एक जनेऊ ब्रह्मचर्य अवस्था (आश्रम) तक रहना चाहिए क्योंकि इस प्रवस्था तक ब्रह्मचारी केवल श्रौत कर्म का ही अधिकारी है। समावर्तन सस्कार में वह ब्रह्मचारी दूसरा यज्ञोपीत धारण करे अर्थात् समावर्तन सस्कार गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार है तब से गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ तक युग्म (जोडी) जनेऊ धारण करने का विधान है। इन आश्रमों में स्नातक श्रौत और स्मार्त दोनो कर्मों में अधिकारी है और वे दोनो जनेऊ दोनों कर्मों

के द्योतक हैं। उत्तरीय के अभाव में उसकी पूर्ति के लिये तृतीय यज्ञोपवीत धारण क का भी शास्त्रीय विधान है।

यज्ञोपवीत बायें कधे पर रखकर पृष्ठभाग और वक्ष सील को स्पर्श करता हुआ नाभि या कटि तक लटकता सर्वदा विद्यमान रहना चाहिए। नाभि या कटि के ऊपर का भाग विशेष रूप से पवित्र रहता है।

ऊर्ध्वं नाभे र्मेध्यितर पुरुष परिकीर्तित ।
तस्माद् मेध्यतम त्वस्य मुखमुक्त स्वयम्भुवा।। मनु १/६२

यज्ञोपवीत द्विज का चिन्ह है ऐसा प्रयोगरत्न में कहा गया है। (यज्ञोपवीत द्विजत्वचिन्हार्थम्) यहा पर भरी ध्यातव्य है कि जैसे यज्ञोपवीत की लम्बाई न अधिक हो और न कम हो अर्थात् नाभि या कटि तक हो उसी प्रकार उसकी मोटाई भी न अधिक हो और न अतिसूक्ष्म हो अपितु सरसो के फली के बराबर मोटा हो। मोटा जनेऊ यश और सूक्ष्म जनेऊ धन का नाश करता है।

सिद्धार्थफलमानेन धार्यं स्यादुपवीतकम्।
यशोहरमतिस्थूलमतिसूक्ष्म धनावहम्।।

शौचादि (मल मूत्र त्याग) अवस्था में जनेऊ का दायें कान में तीन बार या पूरा लपेटना चाहिए। कहीं कहीं शिर में भी लपेटने का विधान मिलता है।

---

१ कर्मप्रदीपे पृष्ठवशे च नाभ्या च धृण यद् विन्दते कटिम्।
तद् धार्यमुपवीत स्यान्नातिलम्ब्य न चोच्छ्रितम्।।
तस्मादूर्ध्वमधो नाभेर्न धार्यं तत् कथञ्चन।
ब्रह्मचारिण एव स्यात् स्नातकस्य द्वे बहूनि वा।।
तृतीयमुत्तरीय वा वस्त्राभावे तदिष्यते।
ब्रह्मसूत्रे च सव्येऽशे स्थिते यज्ञोपवीतिता।।
प्राचीनावीतिताडसव्ये कण्ठस्थे हि निवीतिता।
यस्त्रं यज्ञोपवीतार्थं त्रिकृत् सूत्रं च कर्मसु।।
कुशमुञ्जवालनन्तुरज्जवा का सर्व जातिषु।।
उद्धृत पा गृ सू २१२ गदाधरमा ये
ब्रह्मचारिणमेक स्यात् स्नातकस्य द्वे बहूनि वा/आ गृ सू

२ वैश्वानस धर्मसूत्र ३/६/३ निवीती दक्षिणे कर्णे यज्ञोपवीत कृत्वा मूत्रपुरीषे विसृजेत्। बौधायन गृह्यसूत्र ४/६/६ यज्ञोपवीत शिरसि दक्षिणे कर्णो वा कृत्वा शौच विधि कात्यायन परिशिष्ट शौच सूत्र भी द्रष्टव्य है। याज्ञ स्मृ आ प्र ब्रह्मचारी प्रकरण १६ पद्य कर्णस्थ ब्रह्मसूत्र उदङ्मुख कुर्यात् मूत्रपुरीषे वही मिताक्षरा पवित्रे दक्षिणे कर्णे कृत्वा विण्मूत्रामुत्सृजेत्। आग्निवेश्य गृ सू ३/६/८ कर्णस्थब्रह्मसूत्रो के मूत्रपुरीष विसृजति।

इसका अभिप्राय यह है कि दाया कान और शिरो भाग सर्वदा पवित्र रहता है। इसलिये इस पवित्र ब्रह्म सूत्र वहीं रखना उचित है। शिरो भाग में भी दाया कान विशेष रूप से पवित्र है क्योंकि मन्त्र दीक्षा उसी में ही लिया जाता है और उसमें देवताओं का वास रहता है।

शाडख्यायन **आदित्या वसवो रुद्रा वायुरग्निश्च धर्मराट।**
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्य तिष्ठन्ति देवता ।।

आचारमयूख **अग्निरापश्च वेदाश्च सोम सूर्यानिलास्तथा।**
एते सर्वे तु विप्राणा श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे।।

पराशर स्मृति **प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्या सरितस्तथा।**
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे वसन्ति मनुरब्रवीत्।।
मनु स्मृ ७१/३९ ४ १२ २ द्रष्टव्य है।

गोभिलगृहयसग्रह ३/६ मरुत सोम इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ तथैव च।
एते सर्वे च विप्रस्य श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे।।

यहा विप्र शब्द द्विजमात्र का उपलक्षण है। प्राधान्येयेन व्यपदेशा भवन्ति। अत यहा तीनों वर्णो (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) का ग्रहण है।

दायें कान की पवित्रता इस प्रकार से भी सिद्ध है कि पञ्च महाभूतों में चार तत्त्व देश कालानुसार अपवित्र हो जाते हैं। किन्तु आकाश तत्त्व किसी देश काल में अपवित्र नहीं होता हे। ऐसे आकाश तत्त्व से श्रोत्रेन्द्रिय सबद्ध है अत वह सर्वथा सर्वदा ही शुद्ध है। इसीलिये अन्य कार्यो में भी दाहिने कान का स्पर्श किया जाता है।

क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथाऽनृते।
पतिताना च सभाषे दक्षिण श्रवण स्पृशेत्।। गृह्यासग्रहरा ८६

शौचादि के समय निवीती होने का शास्त्र विधान मिलता है। उसका भी अभिप्राय कान पर जनेऊ रखने से ही है। शास्त्रो में बाये कान पर भी यज्ञोपवीत रखने का विधान मिलता है

मूत्रे तु दक्षिणे कर्णे पुरीषे वामकर्णके।
उपवीत सदा धार्य मैथुने तूपवीतवत्।।
कृत्वा यज्ञोपवीत तु पृष्ठत कण्ठलम्बितम्।
विण्मूत्रे गृहरि कुर्यात् वामकर्णे समाहित ।।

इसका तात्पर्य है कि निवीती होकर दाये कान पर चढाते हुए शिर से होकर बाये

कान पर रख दे। ऐसा करने पर पूरा जनेऊ गले के ऊपर ही रह जाता है। जिससे उसका शुद्धि प्रक्रिया बनी रहती। प्राचीनो में यह प्रणाली कही देखी गई है।

कार्तिक माहात्म्य १/३५ तथा पराशर स्मृति ७/३८ में आचमन के स्थान पर कर्णस्पर्श किया गया है। लोक में भी शिष्टो के यहा ऐसा आचार देखा जाता है। यहा तक अपराधी भी अपनी शुद्धि के लिये कान छते हैं। अत कर्ण की शुद्धता में कछ भी सन्देह नही हैं।

यदि मल मूत्र त्याग के समय यज्ञोपवीत दाहिने कान पर रखना भूल गया हो तो दूसरा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।

मलमूत्र त्यजेद् विप्रो विस्मृत्यैवोपवीतधृक्।
उपवीततदुत्सृज्य धार्यमन्यद् नव तदा।।

इसी प्रकार जनेऊ टूट जाने पर सूतक और अशौच पड जाने पर ग्रहण श्रावणी पर और चाण्डाल रजस्वला शव के स्पर्श हो जाने पर यज्ञोपवीत बदल देना चाहिए।

सूतके मृतके क्षौरे चाण्डालस्पर्शने तथा।
रजस्वलाशवस्पर्शे धार्यमन्यन्नव सदा।।

यह इसका धार्मिक पक्ष है। वैज्ञानिक अथवा आयुर्वेदिक पक्ष यह है कि कान की नसों (स्नायुओं) का सबन्ध जननेन्द्रिय और अण्डकोष से है। मूत्रपुरीषोत्सर्ग के समय वीर्यस्राव की आशका रहती है। वीर्य का मुख्य केन्द्र मस्तिष्क माना जाता है। यद्यपि सामान्य रूप से वीर्य सर्वशरीरवर्ती है। और वह किसी छिद्र से निकल सकता है। तथापि मुख्य द्वारा गुदा और लिडग ही है जो मूत्रादि के समय में वीर्य मस्तिष्क से चलकर दाहिने कान की लोहितिका नस के द्वारा आता हुआ मल मूत्र के साथ सूक्ष्म रूप से गिरता है। इसी कारण चिकित्सक मूत्र के द्वारा ही वीर्यस्राव की परीक्षा करते हैं।

ब्रह्मसूत्र को कान पर लपेटने से वीर्यस्राव से रक्षा होती है। इसके अतिरिक्त अशत स्वप्नदोष से निवृत्ति होती है। मूत्रजन्य अण्डवृद्धि का निरोध होता है। लोक में ऐसा देखा जाता है कि कुछ लोग अण्डवृद्धि के निवारण हेतु कान को छिदा कर ताबे आदि का सूत्र पहनते हैं। इन दृष्टियों से भी जनेऊ कान पर चढाना आवश्यक है।

कान पर जनेऊ रखने से वह व्यक्ति स्वय अपने को अशुद्ध मानता हुआ हस्त पादादि प्रक्षालन गण्डूषादि स्वय करता है तथा इसके बाद ही स्पर्श प्रणाम आशीर्वाद शुद्ध आसन पर बैठना आदि क्रियाओं को करता है। इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति भी एक दूसरे को कान पर जनेऊ चढाए हुए देख कर समझ लेता है कि वह व्यक्ति अशुद्धावस्था में है और स्पर्श

जनेऊ की पवित्रता बनी रहे वह अशुद्ध मल मूत्रादि विद्युत कणों से दूषित न हो एतदर्थ कान पर जनेऊ रखना आवश्यक है। शरीर का शिरोभाग सर्वदा शुद्ध रहता है। दाहिने कान पर जनेऊ रखने का तात्पर्य यह भी है कि शरीर का दक्षिण भाग वाम भाग की अपेक्षा पवित्र पुरुष शक्तिविशिष्ट बलिष्ठ दक्ष सौविध्यजनक है।

द्विजातियों विशेषत ब्राह्मणों के लिए यह स्मर्तव्य है कि यज्ञोपवीत प्राचीनतम परमपवित्र है इसके लिए स्वय तनत्रत यज्ञोपवीत परम पवित्रम इत्यादि ही स्पष्ट कर देता है प्रमाणान्तर यहा अपेक्षित नही है। यह ब्रह्मसूत्र केवल सूत्र नहीं है। अपितु ब्रह्मास्त्र है। यह यत्न पूर्वक रक्षणीय सविधि सेवनीय है। इससे परमैश्वर्य की प्राप्ति होती है। इस विषय में प्राचीन इतिहासों पूर्वजों एव बृद्धजनो से अपनी जिज्ञासा शान्त की जा सकती है। मैं तो यही कहूगा कि ब्राह्मणों का परम बल हैं।

यज्ञोपवीत धारणविधि

नवीन यज्ञोपवीत को एक पुटक या पात्र में रखकर उस पर अक्षत से नौ तन्तुओ में नौ देवताओं प्रणव अग्नि नाग सोम इन्द्र प्रजापति वायु सूर्य विश्वदेव को न्यस्त करे। अनन्तर उसे सूर्य को मन्त्रोच्चारण पूर्वक दिखाकर पुन करसम्पुट में रखकर दशबार गायत्री मत्र से अभिमन्त्रित करे तथा विनियोग कर ओं यज्ञोपवीतम् इत्यादि मत्र से यज्ञोपवीत धारण करे। धारण करने के बाद दो बार आचमन करें। यह विधि नवीन यज्ञोपवीत धारण में सर्वदा के लिये है न केवल यज्ञोपवीत सस्कार में ही है।

यज्ञोपवीती का प्रथम कर्तव्य है कि वह व्यक्ति दैनिक पञ्च महायज्ञ का सम्पादन करे और इन क्रियाओं में सव्याय सव्यादि का निर्वाह करे।

प्रसगवश विभिन्न कार्यों में यज्ञोपवीत धारण की प्रक्रिया भेदो का यहा उल्लेख किया जा रहा है।

१ सर्वदा व्यवहार अवस्था अध्ययन देवकार्य पूजापाठ माडगलिक कृत्य आदि में उपवीती रहना चाहिये। इसके ही पर्याय वाचक शब्द यज्ञोपवीती सव्य (सव्यकरण) हैं। देव ऋषि तर्पण भी उपवीती को ही करना चाहिए।

तस्माद् यज्ञोपवीती एव अधीयीत् याजयेद् यजेत वा यज्ञस्य प्रसृत्यै/तै आ २१६
दक्षिणबाहुमुदधृत्य शिरोऽवधाय सव्येन प्रतिष्ठापयति
दक्षिणकक्षमन्ववलम्ब भवति एव यज्ञोपवीती भवति। गो गृ सू १/२/२
उद्धृते दक्षिणे पाणौ उपवीतीत्युच्यते द्विज । मनु २/६३
उपवीत यज्ञसूत्र प्रोद्धृते दक्षिणे करे। अ को २/७/४६
वाम शरीर सव्य स्यात् प्र को ३/१/८४

पितृकार्य सम्पादन अर्थात् पितृतर्पण श्राद्ध अन्त्येष्टि आदि प्राचीन[1]वीती होकर ही करना चाहिए। इसे असव्य अपसव्यकरण भी कहते है।

पितृकार्य में भी कहीं कहीं अपवाद भी देखा जाता है जैसे नान्दीश्राद्ध (साकल्पिक) अथैन पितर प्राचीनावीतिन सव्य जानु अन्वाच्य उपसीदन्। शतपथ २/४/२/२ पितृयज्ञे प्राचीनावीती भवति। गो गृ सू १/२/४

२ ऋषिकार्य में निप्रीती का विधान है। इसमें कण्ठीकृत उपवीत किया जाता है। सनक आदि ऋषियों का तर्पण विश्वदेवश्राद्ध आदि क्रिया निवीती होकर ही किया जाता है। प्राचीन वीतमन्यस्मिन् निवीत कण्ठ लम्बितम्। अ को २/७/५

कृतोपवीती देवेभ्यो निवीती च भवेत्तत ।
मनुष्यास्तर्पयेद् भक्त्या ऋषिपुत्रान् ऋषींस्तथा। आह्निकसू

इसका स्मरण रखना चाहिए कि यदि विस्मरणवश जनेऊ कहीं गिर गया हो या टट गया हो तो उस दशा में जल ग्रहण नहीं करना चाहिए। दूसरा नया जनेऊ धारण कर के ही जल और अन्न ग्रहण करे अन्यथा वह व्यक्ति प्रायश्चित का भागी होता है।

विना यज्ञोपवीतेन द्विजातेर्यद्युपस्पृशेत्।
प्राजापत्य प्रकुर्वीत निष्कृतिर्नान्यथा भवेत्।। लघुहारीत २१
विना यज्ञोपवीतेन भुङ्क्तेतु ब्राह्मणो यदि।
स्नानं कृत्वा जप कुर्वन् उपवासेन शुध्यति।। वही २३

उपनयन सस्कार में एक ही यज्ञोपवीत पहनाना चाहिए युग्म का प्रयोग ब्रह्मचारी के लिये निषिद्ध है। गृह स्वामी वानप्रस्थ स्नातक ही युग्म उपवीत के अधिकारी हैं।

ब्रह्मचारिण एक स्यात् स्नातकस्य द्वे बहूनि वा। आश्व गृ आ सू
यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि।
तृतीयमुत्तरार्थो तु च वस्त्राभावे तदिष्यते।। हेमाद्रि
एकैकमुपवीत तु यतीना ब्रह्मचारिणाम्।
गृहिणा च वनस्थानामुपवीतद्वय स्मृतम्।। वृद्धहारीत सूत्र ८/४४

---

१ सव्यबाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽशे प्रतिष्ठापयति सव्य कक्षमन्ववलम्बं
भवत्येव प्राचीनवीती भवति। गो गृ सू १/२/३
प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा।
पित्र्यमानिधनात् कार्यं विधिवद् धर्मपाणिना। मनु ३/२ ६
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने।। मनू २१६३

उपवीत वटोरेक द्वे तथोत्तरयो स्मृते। देवल
गृहस्थाश्रमी यज्ञोपवीते धारयेत्। वैखानस ध सू ३/१/१

उपनयन के अनन्तर आचार्योपदेश

ब्रह्मचर्य के लिये आचार्य के द्वारा नियम का उपदेश देना चाहिए जो ब्रह्मचारी उपनीत बटक के लिये अत्यावशय एव पालनीय नियम है।

१ पृथ्वी पर सोना चाहिये।

२ खारी (क्षार) नमकीन नहीं खाना चाहिए।

३ पलाशदण्ड कृष्णमृगचर्म मेखला (यथाविहित) धारण करना चाहिए। अर्थात् इसका परित्याग कभी नहीं करना चाहिए।

४ पेड से सूख कर स्वय पृथ्वी पर गिरी हुई लकडी लाना चाहिए।

५ प्रात काल और सायकाल दोनो समय सन्ध्योपासन कर के वेदी पर परिसमूहन से लेकर हवन आयुष्करण तक शास्त्रो क्त विहित कर्म को यथावत् आचरण करना चाहिए।

६ गुरु की सेवा सर्वदा करना चाहिए।

७ प्रात और सायकाल भोजन के लिये गृहस्थ से दो बार भिक्षा लेना चाहिए मद्य मास नहीं खाना चाहिए। मधु भी नहीं खाना चाहिए।

८ अञ्जन नहीं करना चाहिए।

१ कुश के आसन पर गद्दे आदि बिछाकर या तकिया लगाकर न बैठे।

११ स्त्रियों के मध्य (बीच) में न बैठे।

१२ झूठ न बोले।

१३ बिना दी हुई वस्तु ग्रहण न करें।

१४ अन्य स्मृतियों में कहे गए यम नियम का पालन करे।

१५ पहने हुए वस्त्र को बिना धोए दुबारा न पहने

१६ फटे पेद लगे सिले विकृत (निकृष्ट या रगीन) वस्त्र न पहने

१७ उदय और अस्त के समय सूर्य को न देखे।

१८ बासी अन्न का भक्षण न करें

१६ कासा लोहा रागा मिट्टी के पात्रों से न भोजन करे और न पानी पीए

२ पान न खाना चाहिए।

२१ उबटन आजन जूता छाता शीशा का उपयोग नहीं करना चाहिए।

यद्यपि एक दिन में ही तीनों सस्कारो के होने के कारण समावर्तन सस्कार के अन्त में दिये जाने वाले उपदेश ही प्रधान महत्वपूर्ण उत्तरकाल में व्यवहर्तव्य एव उचित हैं।

क्योंकि उपनयन के अनन्तर वेदाध्ययन का समय (अन्तराल) में मिलता ही नहीं है। तत्समय समावर्तन कर देने के कारण तथापि यह उपदेश आवश्यक है। यदि वेदाध्ययन नहीं करते हैं जब भी स्वजीविकोपयोगी विद्या कला आदि का अध्ययन तो करते ही हैं वैसी अवस्था में इस उपदेश का यथाशक्ति निर्वाह कर लेंगे तो उनके लिये यह परमोपयोगी सिद्ध होगा।

उपनयन में बटुक के अधिकारी

यज्ञोपवीत कराने के लिये सर्वप्रथम बटक का पिता उसका अधिकारी है। वही उपनयन गायत्र्युपदेश वेदगध्ययन शिष्टाचार के लिये आचार्य को सौंपता है। इतना ही नहीं अपितु उपनयनार्थ आचार्यवरण भी वही करता है। ऐसी परम्परा देखी गई है। जो लोकशास्त्रानुकूल उचित और उपयुक्त है। आचार्य समीप नयन आचार्यवरण का अधिकारी भी वही है। पिता के अभाव या अनुपस्थिति में पितामह पितृव्य ज्येष्ठ भ्राता गोत्रज जातिकल के लोग क्रमश अधिकारी हैं।

पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजा ।
उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे पर पर ।।
पितैवोपनयेत् पुत्र तदभावे पितु पिता।
तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सहोदर ।। वृद्धगर्गवचनम्
उद्धृत पा गृ सू २/२/१ गदाधरभाष्ये

यह ध्यातव्य है कि यदि उपर्युक्त अधिकारी न हो तो कुटुम्बी या सबन्धीजन विशेषकर मातृपक्ष के लोग अधिकारी हो सकते हैं। सर्वाभाव में माणवक (बटुक) स्वय अधिकारी है। राजा का यह धर्म है कि राज्यरक्षा की तरह वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करे। अधिकारी के अभाव में सस्कार का लुप्त होना अनुचित है। किसी भी प्रकार सस्कार होना चाहिए। कोई भी अधिकारी हो सकता है।

आचार्य

उपनयन सस्कार में आचार्य का सर्वाधिक महत्त्व है। वही सस्कार के प्रधान पुरुष हैं और उन्हीं के ऊपर सभी भार आधृत है। आचार्य के लक्षण अनेक हैं। यहा गृह्यसूत्र के भाष्यानुसार दिया जा रहा है

सत्यवाक् धृतिमान् दक्ष सर्वभूतदयापर ।
आस्तिको वेदनिरत शुचिराचार्य उच्यते।।
वेदाध्ययनसम्पन्नो वृत्तिमान् विजितेन्द्रिय ।

न याजयेद् वृत्तिहीन वृणुयाच्च न त गुरुम्।।
यमवचनम उ जयराम भाष्ये

सत्यवक्ता धीर कुशल सभी प्राणियों पर दया करने वा स्तिक वेदनिष्ठ पवित्र आचार्य करना चाहिए। साथ ही साथ कलीनता सदाचारिता विद्वत्ता सद्गुणों पर यान देना भी अनिवार्य है।

खेद है कि आज कल प्राय पूज्य ब्राह्मणों फूफा बहनोई आदि से तथा दीक्षा गुरु या उनके परिवारिक जनों से ही गायत्री की दीक्षा दिला दी जाती है। इनमें यदि उक्त योग्यता है तब तो ठीक है। अन्यथा उचित कदापि नहीं है। यहा यह उचित है कि योग्य व्यक्ति न मिले और बटक का पिता योग्य है तो अन्य की अपेक्षा वह इस कार्य के लिये उचित है। **पिता भवत्याचार्य** ऐसा वचन मिलता है। इस दृष्टि से पितामह भी उपयुक्त है। किन्तु सध्या गायत्री जपविहीन व्यक्ति एतदर्थ सर्वथा अनुपयोगी है।

उपनयन के लिये अवस्था का विचार

उपनयन सस्कार तीन प्रकार का होता है काम्य मुख्य और गौण। मनु ने वर्णानुसार काम्य का काल क्रमश ५ ६ ८ वर्ष माना है। ब्राह्मण ब्रह्मचर्यस् की कामना से पाच वर्ष में तथा क्षत्रिय बल की कामना से छठे वर्ष में और वैश्य धन की कामना से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत कर सकता है

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिन षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।। मनु १/३७

भगवान् शडकराचार्य का उपनयन पाचवें वर्ष में ही हुआ था ऐसी जनश्रुति है ऐसा मानने पर ही अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित् इस उक्ति की सगति होगी।

उपनयन का मुख्य काल गर्भ और जन्म दोनों से माना गया है। यह काल भी वर्णानुसार क्रमश ८ १२ १४ वर्ष कहा गया है।

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भाच्च द्वादशे विश।। मनु १/३६
विप्रो गर्भाष्टिमें वर्षे क्षत्र एकादशे तथा।
द्वादशे वैश्यजातिस्तु व्रतोपनयनमर्हति।। व्या स्मृ १/१६

---

१ गोभिलगृह्यसूत्र २/१ /१ ३ गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत गर्भैकादशेषु क्षत्रियम् गर्भद्वादशेषु वैश्यम्, आपस्तम्ब गृ सू /१ /१ ३ द्राह्यायण गृ सू ३/ /१ ५ जैमिनि गृ सूत्र १/१२ वसिष्ठ धर्मसूत्र ११/४४ शंख स्मृ अ २ याज्ञ स्मृ आचाराध्याय १४ इत्यादि।

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत् गर्भाष्टमे वा एकादशवर्षं राजन्यम्, द्वादशवर्ष वैश्यम्
पा गृ स २/२/१२३

अन्य शास्त्रों का वचन एव अक टिप्पणी में दिया जायगा। इसके अतिरिक्त पारस्कर गृह्यसूत्रकार का यह मत है यथामडगल वा सर्वेषाम् २/२/४ अर्थात् शास्त्रान्तर देशाचार कलाचार के अनुसार भी यज्ञोपवीत कर सकते हैं।

यहा यह ध्यातव्य है कि ऋषियों ने जो अवस्था निर्धारण किया है वह वर्णानुसार उपदिश्यमान गायत्री त्रिष्टम् जगती छन्दों के चरणाक्षरानुसार है और अक्षरारम्भ विद्यारम्भ के बाद वेदाध्ययन गायत्रीजप और ब्रह्मचर्यारम्भ के लिये उपयुक्त समय है। इस समय की कण्ठस्थ की गई विद्या चिरस्थायी होती है।

यज्ञोपवीत का गौण काल इसका समय सूत्र स्मृतिकारों ने त्रैवर्णिकों के वर्णानुसार क्रमश १६ २२ २४ वर्ष कहा है

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्विविशात् क्षत्रब धोराचतुर्विशतेर्विश ।। मनु १/३८

उपनयन के लिये अवस्था का विचार

आषोडशाद वर्षाद ब्राह्मणस्यानतीतो का ा भवत्याद्वाविशात् क्षत्रियस्याचतुर्विंशाद वैश्यस्य गो गृ सू २/१ /८ इस सूत्र के भाष्य में स्मृतियों के अनेक वचन उद्धृत किये गये हैं जिनका उल्लेख यहा नहीं किया जा रहा है। क्योंकि वे सभी समानार्थक हें।

गौणकाल के अभ्यन्तर यदि त्रैवर्णिकों का यज्ञोपवीत सस्कार नहीं होता है तो वे बालक व्रात्य एव पतितसावित्रिक हो जाते हैं। और वेदाध्ययन के लिये अयोग्य और सबध के अनर्ह है।

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसस्कृता ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिता ।। मनु २/३९
अग्रजा बाहुजा वैश्या स्वावधेरूर्ध्वमब्दत ।
अकृतोपनयना सर्वे वृषला एव ते मता ।। निर्णयसिन्धु १९२

जो बालक व्रात्य हो जाते हैं अर्थात् शास्त्रोक्त अवधि के भीतर जिनका सस्कार नहीं हुआ उनको प्रायश्चित्त कराके यज्ञोपवीत कराना चाहिए। यह स्मरणीय कालातिक्रम अधिक न होने पावे क्योंकि जितने ही समय बीतता जायेगा उतना ही प्रायश्चित की मात्राए

आषोडशाद द्वाविशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात भत ऊर्ध्वं पतन्त्येते [illegible] गा [illegible]

बढती जायेंगी। प्रायश्चित्त के विषय में स्मृतियों में भिन्नता है जिसका समन्वय कालातिक्रम के अनुसार किया जा सकता है। गोभिलगृह्यसूत्र के भाष्य में यमस्मृति के वचन उदधृत है

सशिख वपन कृत्वा व्रत कुर्यात् समाहित ।
एकविशतिरात्र तु पिबेत् प्रसृतियावकम्।।
अतो यावकशुद्धस्य ”स्योपनयन स्मृतम्।

प्रायश्चित्त के निमित्त विशेषकर धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थ विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

यज्ञोपवीत का मुहूर्त

यज्ञोपवीत के समय और मुहूर्त के विषय में गृह्यसूत्रकारों का मत हैं कि ब्राह्मण बसत ऋतु में क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य शरद ऋतु में उपनयन सस्कार करे। वर्णों के अनुसार यह समय विभाजन अनुकूल और उचित है। सात्त्विक प्रकृतिवाले ब्राह्मणों के लिये न अतिशीत और न अत्युष्ण बसन्त ऋतु तथा ओजस्वी क्षत्रियों के लिये तेजप्रात्यर्थ ग्रीष्म और व्यापारकुशल वैश्य के लिये धूलि उष्णता मेघ वृष्टि शैत्य से रहित शरद ऋतु उपयुक्त है।

ज्योतिर्विदो के अनुसार उत्तरायण अर्थात् मकर सक्रान्ति मिथुन सक्रान्तिक में करना चाहिये। वृद्ध गार्ग्य का भी यही मत है। किसी का मत है कि माघादि पञ्च मास ही उपनयन के लिये प्रशस्त हैं। और किसी ने माघादि छ मास का समय बताया है। आषाढ के ग्रहण करने में उत्तरायण का भी सामञ्जस्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त जहा मासों की फलश्रुतिया कही गई हैं वहा यज्ञोपवीत निमित्ति आषाढ की फलश्रुति है। यदि विधान न होता तो फलश्रृति की आवश्यकता ही नहीं पडती सति कुडये चित्रम इस न्याय से भी आषाढ का ग्रहण हो जाता है। लोक में विवाह के साथ या स्वतन्त्र उपनयन सस्कार होते हुए देखे जाते हैं। इस विषय में कुछ वचन उद्घृत करना उचित है **उत्तरायणगे सूर्ये कर्तव्य ह्यौपनायनम्।** उद्धृत पा गृ सू २/१/६ गदा भा

माघादिषु च मासेषु मौञ्जी पञ्चसु शस्यते।
विप्र बसन्ते क्षितिज निदाघे वैश्य घनान्ते व्रतिन विदध्यात्।
माघादिशुक्लान्तिकपञ्चमासा साधारणा वा सकलद्विजानोम्।। वही

पूर्वाषाढ हरित्रयेऽश्विमृगये हस्तत्रये रेवती ज्येष्ठा पुण्य भगेषु वोत्तरगते मानौ चष्क्षे सते। गोमीन प्रमदावनचरे शुक्रे गुरौ भास्करे पञ्चमी दशमीत्रये व्रतमिद श्रेष्ठ द्वितीयाद्वये।। ज्ये सा मु प्र ज्योतिष् शास्त्र का विवेचन लोकमान्य और लोकप्रचलित है। और इसमें सभी त्रैवर्णिक अधिकृत है। ज्येष्ठ मास में ज्येठ पुत्र का उपनयन नहीं कराना चाहिए। मीन सक्रान्ति केवल ब्राह्मणो के लिय ही प्रशस्त है क्षत्रिय और वैश्य के लिये नहीं।

उपनयन में गुरु और चन्द्र का बा अपेक्षित है। जन्म मास तिथि वार नक्षत्र उपनयन में वर्जित है। वसिष्ठ ऋषि के अनुसार जन्म मास में जन्मतिथि और वार गर्ग जन्मतिथि से आठ दिन तथा भागुरी पक्ष को छोड़कर शुभ मानते हैं। यदि ज्येष्ठ मास में मिथुन की सक्रान्ति लग जाय तब से ज्येष्ठ मास का दोष नही माना जाता है। ब्राह्मणो के लिये पुनर्वसु नक्षत्र शुभ नहीं है। धनु मीन कर्क के बृहस्पति निन्द्य होते हुए भी शुभ है। गुरु यदि शुद्ध न हो और आठवा वर्ष हो तो मीनगत सूर्य में ोऊ कर सकता है। यदि गुरु निन्दित हो या सिहस्थ हो तब मीनार्क में ब्राह्मण यज्ञोपवीत कर सकता है।

मूर्हूत का प्रयोजन मुहूर्त साधना विश्व के सभी मतों में न्यूनाधिक रूप में देखी जाती है। मास दिन वेला तिथि (तारीख) किसी रूप में मुहूर्त की महत्ता सर्वथा मानी जाती है। मुहूर्त के विचार भारतीय सस्कृति में वेद विशेषत (अथर्व १६/७ ८ सूक्त) वेदाङग (ज्योतिष) रामायण महाभारत पुराण धर्मशास्त्र में पूर्णत चर्चित एव हिन्दू समाज में मुहूर्त साधा प्रचलित है। प्रत्येक शुभाशुभ कार्यों में का साधना की जाती है। वस्तुत काल सर्वेश्वर है और वह विचित्र है। कालो हि सर्वस्येश्वरो य पितासीत् प्रजापते अत वह विचारणीय है। वह जन्य का जनक और पाचक है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड का सबन्ध है। ब्रह्माण्ड में सभी ग्रह नक्षत्र तारायें राशिया आदि रहती हैं। जो अपने करों (रश्मियों) के द्वारा पिण्ड से सबन्ध रखती है। या सबद्ध हैं। उनकी अनुकूलता और प्रतिकूलता का ज्ञान मुहूर्त साधना के द्वारा ही जान कर उसकी हेयता उपादेयता निश्चित किया जाता है। सूर्य और चन्द्र का सबन्ध साक्षात् विद्यमान है उनका बलाबल देखना आवश्यक है। सभी समय सभी कर्मो के प्रत्येक कार्य वस्तु समय सभी के लिये सदा उपयोगी नहीं होते हैं। अत अनुकूलता और सफलता के लिये सभी का विचार आवश्यक है। इस दृष्टि से मुहूर्तविचार परमावश्यक है। उपयुक्त नहीं होता है और न तो लोग ऐसा आचरण ही करते हैं। इसलिये तत्त्व वेत्ता महर्षियों ने अपने आर्षज्ञान के द्वारा विभिन्न कार्यों के लिये विभिन्न मुहूर्तो का निर्धारण किया है।

उपनयन और विवाह सस्कारों में लोकरीतियों का स्थान उपनयन और विवाह सस्कारों में शास्त्रीय विधियों के अतिरिक्त देश ग्राम और कुल की रीतियों का भी पालन होता है जो अत्यन्तक आवश्यक है। क्योंकि वे सभी पारम्परिक मौलिक महनीय एव उपादेय हैं। शास्त्रकारों ने भी इनकी ग्राह्यता स्वीकार की है

कुलाचारोऽपि कर्तव्य इति शास्त्रविदो विदु ।
देशाचारस्तथा धर्म इति प्राह पराशर ।। वृ पृ स्मृ ४/१६७
देश जाति कुलधर्माश्च आम्तयैर विरुद्ध प्रमाणम्, गौ ध सू १/१/१

अथ खलु उच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च तान् विवाहे प्रतीयात् आ गृ सू १/

इतना ही नहीं शास्त्रकारों ने जो यहा तक कहा है कि जहा पर श्रुतियों ओर स्मृतियों द्वारा साक्षात् किन्हीं विधियों का निरपण नहीं किया गया है। और न हीं किसी बात का निर्देश किया गया है। वहा देशाचार और कुलाचार के द्वारा ही धर्म को व्यवस्थित करना चाहिये।

न यत्र विधय साक्षात् न निषेध श्रुतौ स्मृतौ।
देशाचारै कुलाचारैस्तत्र धर्मो निरूप्यते।।

इसके अतिरिक्त इस विषय पर मनु वेद स्मृति सदाचार २१ देश धर्माञ्जा तिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान् १/११८ येनास्य पितरो याता येन याता पितामहा तेन यायात् सता मार्गस्तेन गच्छन्त रिष्यते ४/१७८ तथा पारस्करगृह्यसूत्र १ तथा २ काण्ड गदाधरादिभाष्य सहित आश्वलायनगृह्यसूत्र १/१७/१ आपस्तम्बगृह्यसूत्र ६/५/७ गीता १/४३ ४४ आदि भी द्रष्टव्य एव मननीय हैं।

यहा यह ध्यातव्य है कि प्रत्येक शुभ कृत्य समय तदर्थ जो कलस्त्रिया गीत गाती हैं। मगलदायक और सुहावना तो है ही है अपितु मत्र की तरह महत्त्वपूर्ण हे। शास्त्रकारो ने कन रि ायों के वचनों को प्रमाण माना हे। गीत अपभ्रश रूप में तदर्थ कृत्यों का लौकिक मन्त्र और विनोद प्रिय एव उत्साह जनक हे।

देशगाम कल की रीतिया धर्म की त्वचा होती है जैसे चावल की त्वचा तुष (फूसी) चावल की रक्षा करती है उसी प्रकार रीतिया धर्म कौलिक सस्कृति परम्परा जाति की रक्षा करती हैं। परम्पराप्राप्त सभी प्रयोगों की दृष्टादृष्ट कोई न कोई प्रयोजन का तात्पर्य रहता है।

रीतियॉ

प्रसगवश उपनयन विषयक कुछ रीतियों का यहा उल्लेख किया जा रहा है।

लग्न स्थापन (लग्न धराई)

उपनयन और विवाह दोनों सस्कारो में लग्न स्थापन होता है वह कृत्य के ५ ७ दिन पूर्व शुभ मुहूर्त में कुल स्त्रियों द्वारा गीत के द्वारा प्रारम्भ होता है। इस कार्य का आचार्य स्त्रिया ही हैं और तब से प्रतिदिन सान्ध्य गीत होता है। साथ ही साथ उषा काल के समय भी मगलगीत होता है। जिस दिन लग्न धर दिया जाता है। उस दिन से बटुक वर और कन्या गाव के बाहर नही जाते हैं। विशेष कर कन्या घर के बाहर अर्थात् दूसरे के घर

---

१ पा गृ सू १/ /११ ग्रामवचन च कर्यु ृ्प जयराम ग्रामवचन वृद्धस्त्रीवस्वाय विवाहे मरणे च प्रमाणम्। एवमेव हरिहरगदाधरौ ब्रूत।

नहीं जाती है। उनके लिये कूआ झाकना पेड पर चढना बाग में जाना नदी तालाब में स्नान करना। रात में बाहर जाना आदि कार्य वर्जित हैं। लग्न स्थापन के दिन से इन लोगो के लिये उबटन का भी प्रयोग कराया जाता है।

इस अभिप्राय से यह कि बाह्यबाधा भूत प्रेता दि बाधा यह बाधा प्राकृतिक बाधा आकस्मिक बाधा अभिचार टोना टोटका दृष्पिात दृष्टिदोष नजर आदि दोषों से उपनयन में बटक और विवाह में वर और कन्या सुरक्षित रहते हैं क्योंकि ऐसी अवस्था में इन बाधाओं (भूतप्रेत बाधा और दृष्टि दोष) की सभावना रहती है। उबटन प्रयोग सौन्दर्य वृद्वि हेतु है।

सा ध्यगीत यह स्मरणीय है कि जब से लग्न रखा जाता है। तब से पारिवारिक स्त्रिया प्राय साय की गीतों में समवेत होती है। उससे कौटुम्बिक सौहार्द स्थापित होता है तथा पारस्परिक कटता दूर होती है। स्वय में गीत मगलकारी और शुभकार्य का परिचायक है।

सम्भार सयोजन यज्ञोपवीत हेतु नवीन अन्न शुभ मुहूर्त में इन सस्कारों में प्रयोग करने के लिये अन्न (गेहू, चावल उडद चना दाल आदि) तथा अन्य उपयोगी सामान बाजार से खरीद कर आता है। और पारिवारिक सुभगा स्त्रिया मगल गान करती हुई शुद्धि करती हुई तैयार करती हैं। उस सामग्री में से घर खर्च के निमित्त नहीं निकाला जाता है। यदि ऐसा हुआ तो लोगों का कथन है कि शुभ कार्य में कुछ दैवी और भौतिकी बाधाओं का भय रहता है। सभी मागलिक कार्य निर्विघ्न समाप्त हों एतदर्थं ग्रथ उपाड सभार क्रियाओं को शुभ मुहूर्त में शुभ प्रकार से किया जाता है।

उपनयन सस्कार से पूर्व आवश्यक कृत्य

१ उपनयन के पूर्व बटक का लग्न स्थापन सस्कार सभार समायोजन मण्डपाच्छादन हरिद्रानुलेपन ककणबन्धन पूर्वदिनकृत्य पिता या अभिभावक द्वारा स्वस्तिवाचन सकल्प गौरी गणेश पूजन कलश प्रतिष्ठा पूजन नवग्रह पूजन पुण्याहवाचन मण्डपप्रतिष्ठा मण्डपपूजन तृणतोरणादिपूजन मातृकापूजन सप्तघृतमातृकापूजन आयुषमडप नान्दीश्राद्ध। यह कृत्य पूर्व दिन में करना उत्तम है। क्योंकि इसके करने के अनन्तर यदि आकस्मिक सूतक आशौच दोष आदि पारिवारिक बाधा आ जाय तो मुख्य कार्य रोका नहीं जा सकता अर्थात् इसके करने के बाद सूतकादि दोष नहीं लगते।

अशक्य पक्ष में ही इन क्रियाओं को उपनयन के दिन करना चाहिये अन्यथा नही। क्योंकि उपनयन का समय पूर्वाह्ण ही प्रशस्त माना गया है। जो सस्कार के लिये पर्याप्त है।

१ व्रतयनविवाहेषु होमेऽर्चने जपे। प्रारब्धे सूतक न स्यादनारब्धेनु सूतकम्।।
प्रारम्भो वरण यज्ञे संजल्यो व्रतसत्रयो। नान्दीश्राद्ध विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिक्रिया।।

लग्नस्थापन उपनयन के कछ दिन पूर्व शुभ मुहूर्त में सौभाग्यवती पारिवारिक स्त्रिया मगल गीत के साथ बटक का लग्न रखती हैं। उस दिन बटुक की सुरक्षा सान्ध्य प्रात गीत का आयोजन करती है।

सभार सयोजन उपनयन सस्कार के लिये अलग से अन्नादिसग्रह शुद्धिकरण सज्जीकरण मगलगानपूर्वक कुल स्त्रिया करती है।

मृत्तिकानयन मृत्तिकोत्पादन मरिकोडवा मटिमगरा तास्माब तथा उर्वरक खेत से मिट्टी लाकर चूल्हा तथा पितरों की घरिया आदि बनाकर स्थापना आदि करती हैं।

मण्डपछादन पुच्चक रहित उपनयन विहित या विवाह विहित नक्षत्रों शुभवार भद्रादि रहित शुभ मुहूर्तों में निर्माण करना चाहिए। बीच में बास के साथ हलीषा (हरिस) पल्लव सहित गाड दिया जाता है। कहीं कहीं खम्भ भी गाडे जाते हैं। प्रत्येक कासों में तृण के साथ कशोए भी बाधा जाता है।

तेल हरिद्रानुलेपन कडकणबन्धन तेल बात कहीं पर अलग किया जाता है और कही तेल और हरिद्रा तथा ककण बन्धन एक साथ ही कर दिया जाता है। तेल वानतो लोक रीतियों में माना जाता है। किन्तु हरिद्रानुलेपन उपनयन और विवाह के अग है। अत यह गणेशादिदेव पूजन पूर्वक हरदी और तेल दूब से लगाकर ककणबन्धन किया जाता है यह पण्डित पुरोहित द्वारा करने कलाचारानुरूप स्त्रिया भी हरदी लगाकर प्रोत लोकोपचार करती हैं।

मण्डप माणवक जिसका उपनयन सस्कार करना है उसके हाथ से सोलह हाथ लम्बा चौडा मण्डप का निर्माण शास्त्र विहित है। अभिभावक (पित्रादि) के हाथ का प्रयोग इसमें उचित नहीं है क्योंकि जिसका कृत्य है उसीका औचित्य है। गृहाडगण में स्थान न हो तो घर के बाहर भी बनाया जा सकता है। स्थान की कमी है तो हाथों की सख्या स्थानानुकूल किया जा सकता है। किन्तु उसका माप लम्बाई चौडाई में समान होना चाहिए। तथा हाथ की सख्या सम हो।

चारों कोनो पर बास और मध्य में एक बास और हलीषा गाड कर ठीक करना चाहिए।

षोडशारत्निक कुर्यात् चतुर्द्वारोपशोभितम्।
मण्डप तोरणैर्युक्त तत्र वेदीं प्रकल्पयेत्।।
मगलेषु च सर्वेषु मण्डपो गृहवामत।
कार्य षोडशहस्तो वा न्यूनहस्तो दशावधि।।

मण्डप स्थापन प्रतिष्ठा पूजन पद्धति के अनुसार करना चाहिए।

उपनयन सस्कार की क्रिया तालिका

१ पिता और बटक द्वारा कर्मलोप निमित्तक एक एक कृच्छत्रयात्मक गोदान
२ १२ हजार गायत्री जप कराने का सकल्प
३ ब्राह्मण भोजन सकल्प तपन स्नान ब्राह्मणों के साथ बटक क्र भोजन
४ आचार्य वरण
५ कौपीन धारण
६ मौञ्जी मेखला धारण। अष्टभाण्डघन यज्ञोपवती सस्कारपूर्वक यज्ञोपवीत धारण मृगचर्म धारण
७ पलाश दण्ड
८ सूर्याध्र्य सूर्यप्रेक्षण आचार्यकृत माणवक का हृदयस्पर्श
९ सूर्य और गुरु का नमस्कार
१ ब्रह्मा का वरण
११ कुशकण्डक
१२ हवन अन्वारब्ध १४ आहुतिया
१३ सस्रव प्राशन आचमनादि कुशपिण्डका का शेष कृत्य समाप्ति
१४ आचार्यानुशासन
१५ गायत्र्युपदेश
१६ ब्रह्मचारी द्वारा ५ बार सूखे कडे से हवन इसके बाद ३ बार पलाश की लकडी से हवा पुन ५ बार सूखे कडे से हवन करना चाहिए।
१७ ब्रह्मचारी कृत मुखविमार्जन
१८ अडगस्पर्श
१९ त्रआयुष्करण
२ वरुण सूर्य आचार्य का अभिवादन
२१ भिक्षाचर्याचरण
२२ आचार्यकर्तृक नियमोपदेश
२३ उपनयननिमित्त ब्राह्मण भोजन भूपसीह क्षिणा आचार्य दक्षिणा

उपनयन सस्कार के प्रमुख कृत्यों और पदार्थों की चर्चा

वपन और ब्राह्मण भोजन

वपन का अपर नाम मुण्डन है। मुण्डन दो प्रकार को होता है। एक शिखा के सहित दूसरा शिखा रहित अर्थात् शिखा के साथ शिर के सभी बालो को छुरे क्षुर क्षुरप्र) से साफ मुडवा करा देना। दूसरा शिखा छोड कर शिर के सभी बाल छरे से साफ करा देना।

यज्ञोपवीत सस्कार में कैसा मुण्डन अभीष्ट है यह विषय विचारणीय है। सूत्रकार का वचन है **तच अर्युप्तशिरसम् आहनकृतमानयन्ति** यॉ गृ सू २/२/५ इसके भाष्यकार विश्वनाथ का कथन है भोजनात् प्राक् शिरस मुण्डन शिखावर्जं कारयित्वा भोजनोत्तरमलकृत्याचार्य समीपमानयन्ति इसका अभिप्राय है कि शिखा छोडकर शिर मुडवाना चाहिये। कर्काचार्य जयराम हरिहर और गदाधर ने भी मुण्डित मुण्ड अर्थ ही पर्युप्तशिरा पद का किया है। इन लोगों ने शिखा के विषय में त्याग और ग्रहण की चर्चा नहीं की है। पद्धतियों में सशिखकृतक्षौर यह पद लिखा गया है जिसका दोनों प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। १ शिखया सहित सशिख कृत क्षौर येन स कृतक्षौर सशिखश्चासो कृतक्षौरश्चेति सशिखकृतक्षौर ऐसा विग्रह समास करने पर शिखा को छोड शिर मुडाना चाहिये यह अर्थ उक्त पद का होगा। २ शिखया सहित कृत क्षौर येन अथवा शिखया सहित सशिखम् सशिख क्षौर कृत येन स सशिखकृततक्षौर ऐसा विग्रह समास करने पर शिखा सहित मुण्डन करना चाहिए ऐसा अर्थ होगा। इस विषय में स्मृतिवचन भी भिन्न मिलते हैं। जैसे

शिखा छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा।
पुन सस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातय ।।
श्रियै शिखा यजु वा स १६/६२
मङगलार्थं शिखिनोऽन्ये का गृ सू ४ /७

अत्रैव देवपाल नि शिखत्व तु अमगल धर्मोडरिष हेतु तथा च पठन्ति अमेध्यमेतत् शिरोऽशिखम्।

खल्वाटत्वादिदोषेण विशिखश्चेन्नरो भवेत्।
कौशीतदा धारयीत ब्रह्मग्रन्थियुतां शिखाम्।।

उपर्युक्त वचन सामान्य वचन है। इसका तात्पर्य है साधारण अवस्था में शिखा छेदन नहीं होना चाहिये। शिखा सूत्र विहीन कदापि नहीं मान्य है। छन्दोगपरिशिष्ट का यह वचन इस प्रकरण में ध्यातव्य है। **सशिख वपन कार्ययान्नानाद् ब्रह्मचारिणाम्।**

उक्त उदधरणों से उभय अर्थ की प्रतीति सामान्य रूप से हो रही है। मुण्डन और उपनयन सस्कार को छोडकर अन्य मुण्डन के प्रसग में जैसे

वपन और ब्राह्मण भोजन

तीर्थ मुण्डन प्रायश्चित्तमुण्डन आरौच्य मुण्डन अथवा स्वेच्छामुण्डन में शिखारहित मुण्डन का विधान है जिनको शिखा न हो वे कशमयी शिखा धारण करें।

मुण्डन चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वय विधि ।
वर्जयित्वा कुरुक्षेत्र विशाला विरज गयाम्।।

तीर्थराज समासाद्य वपन यो न कारयेत्।
स कोटिकुलसयुक्तो रौरव नरक व्रजेत्

मुण्डयेत् सर्वगात्राणि कक्षोपस्थशिखा विना। प्रयाग महा शिखा का वपन दण्डस्वरप माना जाता है

वैरूप्यमङगेषु कशाभिघातो मौण्डयन्तथा लक्षणसन्निपात ।
एतान् हि दूते प्रवदन्ति दण्डान् वधस्तु दूतस्य न न श्रुतोऽस्ति।।
वा रा सु का ५२/१५

इतना ही नही अपितु शिखाविहीन करना मृत्युदण्डस्थानिक मरणोपलक्षण है। किन्तु मुण्डन और उपनयन दोनों सस्कारों में शिखा सहित मुण्डन वैध है। मुण्डन में गर्भजात केश होने के कारण सर्वमुण्डन होता है। और उपनयन सस्कार में प्रथमाश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम) में प्रवेश हेतु कामभक्षण कामवादादिजन्य दोषों से शुद्धि पाने के लिये सर्ववपन उचित है। लोक में दोनों प्रकार की रीतिया पाई जाती है। कुछ कुलों में जैसे गर्गवश में शिखा छोड कर मुण्डन होता है। और शेष सभी गोत्रों में शिखासहित मुण्डन यज्ञोपवीत मे देखा जाता है। हो सकता है कि मुण्डन में भी ऐसी विकल्प प्रथा ोक में प्रचलित हो किन्तु उसे उचित नहीं माना जा सकता है। यह कार्य कुलाचार पर आधारित है। बहुतायत लोक व्यवहार शिखासहित मुण्डन के ही पक्ष में है। विश्वनाथ को छोडकर कोई भाष्कार शिखा रहित मुण्डने नहीं कहा है। और सूत्रकार तो स्पष्ट कहे हैं अत यह पक्ष प्रबल है।

इस समय यह ध्यातव्य है कि सूत्रकार के पर्युप्तशिरसम् कहने पर भी लोकाचार में शिर के सभी बाल पहले नहीं मुडा दिये जाते हैं अपितु किनारे कुछ बाल छोड दिये जाते हैं। जिसका वपन समावर्तन में होता है। और उसका लापर बहन और बूआ लेती है। और उसके लिये परिवार विशेष कर माता पिता द्वारा नगर (दक्षिणा) पाती है। इसका कारण यह है कि उपनयन सस्कार के साथ ही साथ वेदारम्भ समावर्तन दोनो सस्कार कर दिये जाते है। इसलिये बाल (केश) का कुछ अश समावर्तन के निमित्त छोडना पडता है।

वपन और ब्राह्मण भोजन

माणवक के वपन और स्नान के अनन्तर पूर्वनिमन्त्रित ब्राह्मणों के साथ बटक को भोजन करावे। गृह्य सूत्रकार ने ब्राह्मणान् भोजयेत्त च पा गृ सू २/२/५ ब्राह्मण शब्द बहुवचन का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य तीन या तीन से अधिक सख्या हो सकती है। भाष्कार कर्काचार्य ने श्राद्धव्यतिरिक्तान् ब्राह्मणन् भोजयेत् जयराम ने श्राद्धव्यतिरिक्तान् त्रिप्रभृतीन् भोजयेत्, गदाधर ने **उपनेता आभ्युदयिक ब्राह्मणव्यतिरिक्तिास्नीन् ब्राह्मणान् भोजयेन्** विश्वनाथ ने भी तीन ब्राह्मणों का भोजन लिखा है। इसके अतिरिक्त पद्धतियों में

कही तीन और कहीं आठ और कहीं पर आठ और तीन ब्राह्मणों का विकल्प भी मिलता है। अस्तु सरयूपार क्षेत्र में प्राय आठ ब्राह्मणों के भोजन का ही प्रचलन हे। उनके यहा जो उपनयन में आठ भाण्डों का दान होता है। वह वस्त्र अन्न गुड फल यज्ञोपवीत दक्षिणा सहित उन्हीं को दे दिया जाता है। ऐसा प्रचलन अभी भी है। और सामञ्जस्य भी सुन्दर होता है। अन्यथा दान के पत्रों का अन्वेषण करना पडेगा।

कहीं कहीं पर आठ बटक को दही चीनी या खीर खिलाने की भी प्रथा है। यह शास्त्र विरुद्ध है। अत यह उचित नहीं हैं।

वपन की उपयोगिता वपन से जो अदृष्ट लाभ और औचित्य है वह यथा स्थान सिद्ध है उसमें ननु नच और तर्क वितर्क की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त दृष्ट प्रयोजन यह है कि वपन से शिर और शरीर की शुद्धि होती है। शिर के ऊपर चिपकी हुई फफूदी कालुष्य आदि का मार्जन हो जाता है। और साथ ही साथ पुष्टि वृष्यता आयुष्य पवित्रता सुन्दरता की वृद्धि होती है।

पौष्टिक वृष्यमायुष्य शुचिरूप विराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीना कर्तन सप्रसाधनम्।। चरक सूत्रस्थान ५/९३

ब्राह्मण भोजन की उपयोगिता

शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान के दो मुख हैं। १ अग्नि मुख २ ब्राह्मण मुख। इन दोनों मुखों में आहुति देने से भगवान् सन्तुष्ट और प्रसन्न होते हैं। इसीलिये भारतीय सस्कृति में ब्राह्मणभोजन का महत्त्व है। बडा से बडा कार्य और छोटा से छोटा कार्य यहा तक की सत्यनारायण की कथा तक में ब्रह्मभोज का महत्त्व है जब तक ब्राह्मण भोजन न हो तब तक कार्य की पूर्ति नहीं होती। आज कल को लोग नहीं मानते हैं वे भी आचार होकर ब्रह्मभोज कराते हैं। यहा अन्य के निषेध में तात्पर्य नही है अपि अधिकृत से तात्पर्य है। उपर्युक्त विषय के लिये युधिष्ठिर के प्रति नारद के निम्न वचन भी विमर्शनीय है

नह्यग्निमुखतोऽय वै भगवान् सर्वयज्ञभुक्।
इज्येत हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतै ।।
तस्माद् ब्राह्मण देवेषु मर्त्यादिषु यथार्हत ।
तैस्तै कामैर्यजस्वैन क्षेत्रज्ञ ब्राह्मणाननु।। भा पु ७/१४/१७ १८

यज्ञोपवीत सस्कार में वस्त्र

उपनयन सस्कार में माणवक के लिये कैसा और कितना वस्त्र दिया जाय जिसे धारण कर वह सस्कार को सम्पादित करे। इस विषय में शास्त्रों में विभिन्न मत मिलते हैं।

मनु का मत है कि ब्राह्मण के लिये शाण क्षत्रिय के क्षौम और वैश्य के और्ण वस्त्र होना चाहिए। **वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च। मनु २/४१**

महर्षि गोभिल ने ब्राह्मण के लिये क्षौम और शाण दोनों का विकल्प किया है। क्षत्रिय के लिये कार्पास और वैश्य के लिये और्ण वस्त्रों को कहा है। आनुपूर्वीक वस्त्र के अभाव में सभी वस्त्र सभी वर्णों के लिये उचित माना है।

क्षौमशाणकार्या सौणन्यिेषा वसनानि गो गृ सू १/१ /८
क्षौम शाण वा वसन ब्राह्मणस्य कार्पास क्षत्रियस्याविक वैश्यस्य
२/१ /१४ आपस्तम्ब

धर्मसूत्र तथा वसिष्ठ स्मृति में वस्त्र के साथ उसके रग भी कहे गये हैं। आपस्तम्ब के अनुसार वर्णानुक्रम से शाण क्षौम और अजिनवस्त्र हो तथा उसी क्रम से काषाय माञ्जिष्ठ और हारिद्र रग होना चाहिए। वसिष्ठ के अनुसार सफेद नया वस्त्र ब्राह्मण के लिए तथा माञ्जिष्ठ क्षत्रिय के लिये हारिद्र या कौशेय वैश्य के लिये वस्त्र होना चाहिए। अथवा सभी के लिये तान्तव (कार्पास) वस्त्र हो किन्तु लाल रग न हो।

यद्यपि उपर्युक्त वचनों में वस्त्र और रग का उल्लेख है किन्तु उसके आकार वहा नहीं कहे गये तथापि ब्रह्मचारियों के लिए अन्यत्र कौपीन वस्त्र का विधान मिलता है। वही विधान इन ब्रह्मचारी वटुकों के लिये भी मान्य है।

यम मेखलामजिन दण्डमुपवीत च नित्यश ।
कौपीन कटिसूत्र च ब्रह्मचारी तु च नित्यश ।
कौपीनं कटिसूत्र च ब्रह्मचारी तु धारयेत्।।
पा गृ सू २/५/गदा भा उद्

लोकव्यवहार में हरदी से रग कर पीले वस्त्र का कौपीन वटुक को पहनाया जाता है किन्तु उत्तरीय नही दिया जाता है। हो सकता है पूर्वकाल में उत्तरीय देने की प्रणाली रही हो जो लुप्त हो गई। सभव है कि उत्तरीय देने की प्रणाली है। शास्त्रकारों के अनुसार मृगचर्म को ही उत्तरीय माना गया है। लेकिन इस बात का सामञ्जस्य नहीं लगता कि अधोवस्त्र कार्पास हो और उत्तरीय अजिन हो। यदि कहा जाय कि उत्तरीय रूप मृगचर्म द्वारा ग्रीष्म (आतप) वर्षा और शीत से परित्राण भली भाति हो सकता है। तो यह कहना अन्यथा सिद्ध है। प्रकारान्तर से भी परित्राण हो सकता है। अर्थात् वस्त्र से भी।

---

१ आप ध सू १/१/२/३९ १ वास। शाणक्षौमाजिनानि। काषाय चैके वस्त्रमुपदिशन्ति। माञ्जिष्ठ राजन्यस्य। हारिद्र वैश्यस्य।

२ वसिष्ठ ११/६४ ६ शुक्लमहत वासो ब्राह्मणस्य माञ्जिठ क्षत्रियस्यं हारिद्र कौशेंय वा वैश्यस्य। सर्वेषां तान्तवमरक्तम्।

मेखला

उपनयन सस्कार में मेखला का विशिष्ट स्थान है। मेखला का अपर नाम काञ्ची रशना आदि है। लोक में कटिसूत्र या करधनी कहते हैं। बाल्यकाल में ही बालक को पहना दिया जाता है। ब्रह्मचारियों के लिये यह दूसरी मेखला उपनयन सस्कार में पहनाई जाती है। यह मेखला वर्णानुसार बनायी जाती है। इसका विधान गृह्यसूत्रों ओर स्मृतियो में विहित है मनु ने कहा है

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी।। १/४२

ब्राह्मण के िए मौञ्जी अर्थात् मूज की तीन लडी वाली चिकनी मेखला तथा क्षत्रिय के लिये मूर्वा की मूञ्जवत् बनी हुई रज्जु की मेखला तथा वैश्य के लिये शण (सन) की बनी हई मु जेवत मेखला होनी चाहिए। मूञ्जादिके अभाव में कश अश्मन्त ओर बल्व का मेखला बनावे ऐसा मनुवाक्य है। गोभिलगृह्यसूत्र के अनुसार मुञ्ज काश और शण की मेखला वर्णानुसार होनी चाहिए। इन सभी की रस्सी त्रिवृत हो अर्थात् तीन लडी के हों और पुन त्रिवृत कर अवरानुकूल १ ३ ५ ७ गाठ (ग्रन्थि) दी गई हो।

त्रिवृता मेखला कार्या त्रिवार समावृता।
तद्ग्रन्थयस्त्रय कार्यास्त्रय पञ्च वा सप्त वा।।

गर्गपद्धति में भी प्रवरों के अनुकूल १ ३ ५ ७ ग्रन्थियों का विधान है। इन सभी प्रकार की मेखलाओं की रचना मौञ्जी के सदृश होनी चाहिए। वर्णानुसार मेखला के अभाव में सभी वर्णो के लिये मौञ्जी ग्राह्य है। आचार्य गोमिल के अनुसार वर्णानुसार मेखला के अभाव में सभी प्रकार की मेखलाए सभी त्रिवर्णों को उपादेय हैं। मनु के मुञ्जादि के अभाव में कश डाभ तृण की मेखला वर्णानुक्रम से विहित किये है।

यद्यपि मेखा ा नई एव तात्कालिक रचित और यज्ञोपवीत के समय में ही बाधी जानी चाहिए किन्तु आज कल पहले की बनी पुरानी तथा दूसरे द्वारा धारण की हुई बटुक को पहना दी जाती है। जब कि ग्रन्थिबन्धन आचार्य के द्वारा ही होना चाहिए। वर्तमान समय में व्यावहारिक सुलभता के कारण पुरानी मेखला ही प्राय बाध देते है जो अशास्त्रीय एव अमर्यादित है। जब सभी वस्तुए सस्कार में नवीन हैं तो इसे क्यों पुराना लिया जाय।

---

१ मुञ्जालाभे तु कर्तव्या कुशाश्मन्तकबल्वजै।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभि पञ्चभिरेव।। मनु १/४३

२ मुञ्जकाशसाम्बल्यो रशना गो गृ सू २/१ /१ तत्रभा ये ताम्बल शण

मेखला

मेखला की उपयोगिता

मेखला की उपयोगिता दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार से है। अदृष्ट प्रयोजन तो मेखला धारण का मत्र ही बता रहा है। जिसका अर्थ है। बटक कह रहा है कि मेरे पास आई हुई यह मेखला मेरी कथित दुरुक्तियों तथा असज्जन्य अपवित्रता का अपसारण करती हुई और मुझे पवित्र करती हुई प्राण अपान के द्वारा सामर्थ्य को स्थापित करे और बहन (भगिनी) के समान कल्याण कान्ति और सौभाग्य को देने वाली हो।

दृष्ट प्रयोजन बालक को बाल्यावस्था में कटि सूत्र पहना दिया जाता है। जिससे उनके अधोवस्त्र गिरते नही हैं और न ढीले (शिथिल) होते अपितु दृढ रहते हैं। इसके अतिरिक्त कटिसूत्र एक प्रकार का आभूषण है। स्त्रिया भी आभूषण के रप में रजतमयी सुवर्णमयी मेखला पहनती हैं। पहने स्त्री पुरुष दोनों कटिसूत्र पहनते थे जिससे अधोवस्त्र सुगठित रहता था। आधुनिक समय में यह लोगों द्वारा उपेक्षित हो गया है।

ब्रह्मचारियों के लिये ब्रह्मचर्याश्रमानुसार मुञ्जादितृणविशेष के द्वारा बनी हुई मेखला का विधान शास्त्रों द्वारा किया गया है। यह मेखला स्वरूप ज्ञान का एक विशेष चिह्न है। इस आश्रम के लिये सूत्र रजत स्वर्ण आदि की मेखला निषिद्ध है। विभिन्न प्रकार के मेखलाओं के देखने मात्र से वर्ण विशेष का ज्ञान हो जाता था एतदर्थ पूछने की आवश्यकता नहीं पडती थी।

आयुर्वैदिक दृष्टि से मेखला हार्निया रोग का निवारक है। ब्रह्मचर्य अवस्था में यदि इसे धारण किया जाय तो अन्य रोग नहीं होता है। मेखला का ही रूपान्तर पेटिकाबन्धन कटि के निम्न भाग पर मेखला दबाव होने से प्राण और अप्रान वायु की गति ठीक रहती है। और कटिशक्ति बढती है। इसीलिये लोग प्राय कटि पट्टा बाधते है।

तृणों में मुञ्ज का विशेष महत्त्व है। वह शुभ मङगलमय पवित्र पीतवर्ण चिरस्थायी विकासशील सदा हराभरा तृण है। अत वह धारण करने वाले व्यक्ति को अपने गुणों को प्रदान करता है। विशेष बात यह है कि वह कभी उच्छिन्न नहीं होता अपितु बराबर प्रसरणशील रहता है। मागलिक (तोरण) आदि कार्यो में इसीलिये लोग उसका प्रयोग करते हैं।

अष्टभाण्डदान

उपनयन सस्कार में उपवीत धारण के पूर्व यज्ञोपवीत फल अक्षत दक्षिणा गुड सहित आठ भाण्डो का दान होता है। कहीं कहीं वस्त्र भी रखा जाता है। भाण्ड के लिये

१ पा गृ सू २/२/

शक्त्यनुसार लोटा अथवा गिलास या मिट्टी का पुरवा लोग रखते हैं। ये सभी भाण्ड चावल से भरे रहते हैं।

सरयूपारीण क्षेत्र में बटक के साथ आठ ब्राह्मण भोजन करते हैं और उन्हीं को धोती या अगोछा रूपी वस्त्र और ये भाण्ड दे दिये जाते है।

पारस्करगृह्यसूत्र और उसके भाष्यों में इसकी चर्चा नहीं है। किन्तु पद्धतियों भी इसकी चर्चा है। वहा इसे आचार माना गया है। किन्तु वहा स्पष्ट नहीं किया गया है। कि वह देशाचार है या कुलाचार। मेरी दृष्टि में यह देशाचार ही होगा कुलाचार नहीं। क्योंकि सरयूपारीय क्षेत्र में सभी कलों में इसकी परम्परा देखी जाती है। **नास्त्यमूला प्रसिद्धि** इस न्याय से इस परम्परा का कही मूल अवश्य होगा जो अन्वेषणीय है।

यह अष्टभाण्डदान द्विजत्वसिद्ध्यर्थ हे। उपनयन में गायत्री के उपदेश के अनन्तर द्विजत्व की प्राप्ति हो जाती है। ब्राह्मण की उत्पत्ति गायत्री छन्द से है और गायत्री के प्रत्येक चरण में आठ आठ अक्षर हैं।

गायत्रेया छन्दसा ब्राह्मणमसृजात्
अष्टाक्षर ह वा एक गायत्रयै पदम् वृ उ ५/१४/१

इस दृष्टि से आठ भाण्डों का दान किया जाता है। अथवा आठ वर्ष में उपनयन होना चाहिए इस दृष्टि से भी आठ भाण्डों का औचित्य हो सकता है। विशिष्ट आठ आठ गुणों का आधान करने के लिये भी अष्ट भाण्ड दान उचित है। जिससे गुणों की भाण्डता की सिद्धि हो वस्तु को प्रदान करने वाले आठ वसुदेवों के प्रसन्नतार्थ भी यह दान उचित है।

मृगचर्म (अजिन)

उपनयन सस्कार में ब्रह्मचारी बटुक के उत्तरीयार्थ परिधानार्थ या आसनार्थ मृगचर्म देने का विधान है। चर्म अजिन वर्णानुसार विहित है। ब्राह्मण के लिये काले मृग क्षत्रिय के लिए रुरु (श्वेतमृग) किसी का मत है कि चितकबर मृग का और वैश्य के लिये बकरे (छाग) का चर्म होना चाहिए यह मृगचर्म उत्तरीय हेतु भाष्यकार ने माना है। महर्षि पारस्कर ने ऐणेयमजिनमुत्तरीय ब्राह्मणस्य रौरव राजन्यस्याज गव्य वा वैश्यस्य सर्वेषा

१ कार्ष्णरौरवबास्तानिचर्माणि ब्रह्मचारिणा। मनु १/ १
ऐजेय रौरवाजान्य जिनानि गो गृ सू २/१ /८
तत्रैव भा ये एण कृष्ण मृग कृष्णसारश्च मण्यते रुरुगौरिभृग।
तथा चोक्तम् अवृचो माणवकोऽेय एण कृष्णमृग स्मृत।
रुरुर्गौरमृग प्रोक्ताम्बल शणउच्यते।।
२ त्रदिदमुत्तरीभामिप्रायसूत्रम्। कत चर्माणुत्तरीयाणि इति गृह्यान्तर सूत्रणात् पृ २८

गव्यमसति प्रधानत्वाद्दा।। गृ सू २१५ ब्राह्मण क्षत्रिय के लिये ऐणेय और रौरव का विधान करते हुए वैश्य के लिये आज (बकरे का) गव्य (गौ का) विकल्प किया है और साथ ही साथ सभी के लिये गव्य चर्म का विकल्प रखा है। इन्होंने भी चर्म को उत्तरीयस्थानीय ही स्वीकार किया हे।

ऐणेयमुत्तरीयम् एणी हरिणी तस्या इदम् उत्तरीय ब्रह्मचारिणो भवति आपस्तम्ब धर्मसूत्र अजिन त्वेवोत्तर धारयेत् १/१/३/१ में भी अजिन को उत्तरीय कहा गया है।

प्रयोगरत्नाकर में तीन खण्ड या एक खण्ड वाला त्र्यडगुल या चतुरडगुल अजिन को यज्ञोपवीत की तरह धारण करने का विधान किया गया है। व्यवहार में पूर्व क्षेत्र (सरयूपार) में ऐसा ही मृगचर्म बालक को पहनाया जाता है। वास्तविकता यह है कि जिस प्रकार से यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। उसी प्रकार उत्तरीय भी धारण करना चाहिए। पूर्वकाल में शिष्ट जन उत्तरीय (दुपट्टा) यज्ञोपवीतवत् करते रहे हैं।

मृगचर्म की उपयोगिता

मृगचर्म की विशेषता है कि वह विविध रोगों का अपहारक माना जाता है। मृग के विषय में सुश्रुत का निम्न लिखित वचन विचारणीय है

जाङ्गला मृगा कषाया मधुरा लघवो वातपित्तापहा ।
तीक्ष्णा हृद्या वस्तिशोधनाश्च। सुश्रुत सूत्रस्थान ४६ अ

यद्यपि यह वचन मृगमास के लिये है किन्तु जो गुण मास में है वह मात्रा से चर्म में रहता है। जैसे वृक्षों के गुण छालों त्वचा में देखे जाते है। दूसरी बात यह है कि मृग चर्म में एक विशेष विद्युत तरग होती है। जिसका प्रभाव या सक्रमण गुदा आदि मार्ग से स्नायु मण्डल को प्रभावित करता है। जिससे भगन्दर बवासीर (अर्शादि) आदि रोग नहीं होते हैं। और यदि हुए तो विनष्ट हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त मृगचर्म अत्यन्त पवित्र माना गया है। महात्मा लोग इसका पर्याप्त प्रयोग करते है। यौगिक क्रियाओं के लिये महान् उपयोगी है। इससे सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है। ब्रह्मचारियों का स्वाध्याय भी योग क्रिया है और उसकी सिद्धि भी महान् सिद्धि है। भगवान् कृष्ण ने भी ध्यानयोग के लिये गीता में आसनार्थ चैलाजिनकुशोत्तर ६/११ कहा है। मृगचर्म से सात्त्विकता की प्राप्ति होती है। क्योंकि मृग सात्त्विक प्राणी है। यह हिंसक नही है और मासाहारी भी नहीं है। तृणादि ही इनका भोजन है। निश्चित ही इससे अशान्ति क्रोध आदि दुर्गुण नष्ट हो जाते हैं।

---

१ तत् त्र्यगुल बहिर्लोम यद्वा चतुरगुलम्।
एकखण्डं त्रिखण्ड वा धारयेदुपवीतवत्।। पृ २३

अथर्ववेद में ५/२९/२९ परामित्रान् हरिणस्याजिनेन शत्रुओं को डराने के लिये मृगचर्म से बने हुए (पतह) नगाडे का प्रयोग बताया गया है। निश्चित है कि यहा मृगचर्म शत्रुरूपी रोग का अवश्य निवारक रहा होगा।

दण्ड

उपनयन सस्कार में बटक (ब्रह्मचारी) के लिये दण्ड के लिये शास्त्रीय विधान है दण्डाजिनोपवीतानि मेखला चैव धारयेत्। (या स्मृ १/२९) दण्ड के काष्ठ और उसके माप के विषय में विभिन्न मत है उन सभी का उल्लेख करना आवश्यक न समझ कर केवल पारस्कर गृह्यसूत्र और मनुस्मृति का ही यहा आधार लिया जायेगा। मनु के अनुसार ब्राह्मण के लिये वैल्व और पलाश क्षत्रिय के लिये वट और खदिर (खैर) वैश्य के लिये पीलू और गूलर के दण्ड होने चाहिए । ब्राह्मण का दण्ड केशपरिमित क्षत्रिय का ललाट परिमित तथा वैश्य का नासिका परिमित माप का होना चाहिए। गृह्यसूत्र में दण्ड देने और धारण करने का उल्लेख है किन्तु दण्ड के आकार प्रकार का निरूपण नही है किन्तु मनु ने काष्ठ और माप के सहित दण्ड के प्रकार की भी चर्चा की है दण्ड सीधा छिद्र रहित देखने में सुन्दर त्वचा (छाल) के सहित और अग्नि से अदूषित (न जला हुआ) ही सभी प्रकार का दण्ड होना चाहिए।

ब्राह्मणा बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वटखादिरौ ।
वैलकौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हति धर्मत ।। मनु १/४५
केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्ड कार्य प्रमाणत ।
ललाटस मितो राज्ञ स्यात्तु नासान्तिको विश ।।१/४६
ऋजवस्तेतु सर्वे स्युरव्रणा सौम्यदर्शना ।
अनुद्वेगकरा नृणा सत्वचोऽनाग्निदूषिता ।। १/४७

महर्षि गोभिल ने वर्णानुसार पलाश बिल्व पीपल के दण्ड का विधान कर अभाव अवस्था में सभी दण्डादि यज्ञोपवीत सामग्री सभी वर्णो के लिये विहित किया है।

पार्णवैल्वाश्वत्था दण्डा गो सू २/१ /११
अलाभे वा सर्वाणि सर्वेषाम्, तत्रैव २/१ /१४

किसी आचार्य के मतानुसार सभी के लिये मुखपर्यन्त दण्ड का माप कहा गया है।

---

१ पा गृ सू २/६६ १२ दण्डं प्रयच्छाति तं प्रतिगृह्णामि

दण्डधारणोपयोगिता

दण्ड का धारण करना व्यावहारिक जगत् में आत्म रक्षार्थ सभी के लिये आवश्यक है विशेषकर वनचारी के लिये अत्यावशयक क्यों कि उन्हें जगल में रहना गुरु आज्ञानुसार गोचारण गोसेवा इन्धनादि आनायन आदि कार्यो तथा रात्रिगमन नदी तरण निम्नोन्नतमार्ग सचरण करना पडता है। अत आचार्यो ने इन कार्यो का दिग् दर्शन किया है

तत्र दण्डस्य कार्यमवलम्बन गवादिनिवारण तमोऽवगाहनमप्सु प्रवेशनमित्यादि या स्मृ १/२९ अपरार्क

दण्ड विशेष रूप से ब्रह्मचारियों का चिन्ह है। दण्ड में वर्णानुसार जो काष्ठो का विधान है उसका कारण यह है पलाश में एक प्रकार की शीतलता रहती है। क्योंकि यह चन्द्रमा का ईधन है। और स्वय चन्द्र शीतल शीतगु है इसलिये उनके इन्धन में भी वह गुण अवश्य रहेगा। ऐसा पलाश दण्ड अपने धारक में उन सभी गुणो का आधान करेगा जिससे माणवक में शीतलता शान्ति स्नेहशीलता स्निग्धता आदि गुण स्वाभाविक रूप से उद्भूत हो जायेगे। क्षत्रियों के लिये खदिर का दण्ड विहित है। खदिर भौम का इन्धन है और भौम भूमिपुत्र है। क्षत्रियों का सबन्ध भूमि से विशेष रूप से है। स्यात् क्षत्रियों भूमिपतित्वमीयात् ६ वा रा १/१ विषय में पर्यालोच्य है। अत उनके लिये खदिर सर्वथा उपयुक्त है। वैश्य के लिये आश्वलायन गृह्य सूत्र के अनुसार विल्व का दण्ड विहित है। विल्व लक्ष्मी का वृक्ष एव फल है। इसलिये विल्व को श्रीफल भी कहा जाता है। इस विषय में आदित्यवर्णे तपसोऽभिजातो वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ विल्व श्रीसूक्त द्रष्टव्य है। अत वैश्य के लिये विल्व दण्ड समुचित है। दण्ड के विषय में अनेक विकल्प है वे सभी विज्ञजनो के लिये ऊहनीय है। अन्य दण्डो के अभाव में पलाश सबके लिये ग्राह्य है। माप के विषय में शास्त्रकारो ने जो व्यवस्था दी है। वह वर्ण विशेष का परिचायक है। इसके अतिरिक्त व्यवहार में भी दण्ड मस्तक पर्यन्त ही शिष्ट जन रखते थे। बडा दण्ड (यष्टि) अर्थात् लाठी सग्राम आदि में प्रयुक्त होते हैं।

इन विशेष दण्डो के अतिरिक्त समावर्तन में वश दण्ड विहित है उसके विषय में यह कहना कि वह वश (कुल) के वृद्धयर्थ है एव गृहस्थों के लिये उचित है। क्यों कि वह लचीला पुष्ट सीधा होता है।

गायत्री की महत्ता

उपनयन सस्कार में गायत्री की दीक्षा सर्वश्रेष्ठ है। इसके विषय में अनेक पुस्तकें स्वतन्त्र रूप से लिखी गई है। सन्ध्या की पुस्तकों में इसके विषय में पर्याप्त सामग्री दी गई

है। वेद से लेकर धर्मशास्त्रों तक यथा अवसर इसकी चर्चा है और इसका नियम जपादि फल श्रुति आदि वर्णित है। उसे इस निबन्ध में उदधृत करना कठिन हे। अत यहा वर्णिको के रूप कुछ प्रस्तुत कर रहा हू।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गायत्री को अपना स्वरूप कहा हे गायत्री छन्दसामहम् गीता १ /३५। अथर्व शोनक सहिता में इसे वेदमाता कहा गया है। और वहीं १६/७ /१ म इसकी महिमा गाई गई है। ऋग्वेदादि तीनो वेदों में यह मन्त्र समान रूप में मिलता है। निरुक्तकार ने ७/१२/५ में इसका निर्वचन किया है। शतपथ १४/ /१५/७ में इसे प्राणरक्षिणी कहा गया है। इस प्रसग मे अधोनिर्दिष्ट वचन द्रष्टव्य है

सावित्र्यास्तु पर नास्ति मनु २/८३
गायत्री वा इद सर्वम् छान्दोग्य ३/१२/७
गायत्री छन्दसा माता नारायणोपनिषद् ३४

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ता पावमानी द्विजानाम्। अर्थव १६/१७/६ अघोरान्नापरो मत्र म स्तो। इन उद्धरणो से सिद्ध है कि गायत्री ब्रह्मस्वरूपा सर्वातिशायिनी और रक्षिका है। यद्यपि गायत्री में द्विजमात्र का अधिकार है किन्तु यहा द्विज पद से विशेषकर ब्राह्मण का ग्रहण करना अत्यन्त उचित है। क्योंकि ऐसा करने से विसर्जन मन्त्र उत्तमे शिखरे भूम्या पर्वतमूर्धनि। ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम ते आ १ /३ से साधु सामञ्जस्य हो जाता है और गृह्य सूत्रों गायत्रीं ब्राह्मणाय अनुब्रूयात् आदि पा २/३/७ ६ तथा मानव गृ १/२/३ गोमिल गृ एनरेय १/५/२८ के वचनों से समरसता होगी। दूसरी वात यह है कि गायत्री का जप ब्रह्मवर्चस्कामना से सबद्ध है और उसकी कामना के अधिकारी ब्राह्मण है। द्रष्टव्य है आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् यजु वा स २२/२२ इसके अतिरिक्त यह भी विमर्शनीय है कि गायत्री के चरणाक्षरो के अनुसार ब्राह्मणो का उपनयन काल कहा गया है। अन्य का त्रिष्कुभ् और जगती के अनुसार है। भगवान् सविता की उपासना के लिये सर्वश्रेष्ठ मत्र एव एकमात्र प्रसन्नार्थ उपाय है। सविता तेज प्रदाता प्रत्यक्ष देव है।

गायत्री

किसी भी मत्र के जप में दृष्टादृष्ट उभय प्रयोजन होता है। वही प्रक्रिया गायत्री मत्र के लिये भी है इस दृष्टि से गायत्री मत्र के जप से जो भी अदृष्ट हो उसका प्रत्यक्ष वर्णन करना कठिन है। उसे आप्तवचनो से ही जाना जा सकता है। क्यों कि वे लोग अतीतानागतज्ञानवान् है। परन्तु दृष्ट प्रयोजन में भी यह प्रधान कारण है कि इस मत्र के द्वारा भगवान् सविता से बुद्धि के लिये प्रार्थना की जाती है। बुद्धि सभी प्रकार के बलो में श्रेष्ठ बल माना जाता है। बुद्धि सभी बलो का उपायरूप है।

बुद्धिर्यस्य बल तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्। पञ्चतत्र
यस्य त्वेतानि सर्वाणि सगृहीतानि भारत।
यद् बलाना बल श्रेष्ठ तत् प्रज्ञाबलमुच्यते।।
महा भा उद्योगपर्व ३७/५५

सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। तर्कसग्रह देवता भी बुद्धिप्रदान के द्वारा ही उपासक की रक्षा करते हैं। बुद्रि के द्वारा ही सब साधन एकत्रित कर साध्य को सिद्ध किया जाता है। इसीलिये यह महान् नामक परमतत्त्व है।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
य तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या सविभजन्ति तम्।।
यस्मै देवा प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।

बुद्धि तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति।। म भा उ प ३४/८ /८१ अस्याश्च बुद्धेर्महत्त्व स्वेतरसकलकार्यव्यापकत्वाद् महैश्वर्याच्च मन्तव्यम्। विज्ञानभिक्षु सा छ २/१३ बुद्धि और ब्रह्मवर्चस् के अतिरिक्त अन्यलौकिक कामनाओं के लिये भी गायत्री की उपासना की जाती है। अथर्व १९/७१/६ आयु प्राण प्रजा पशु कीर्तिं द्रविण ब्रह्मवर्चस मह्य दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् में आयु सन्तान यश धन आदिफल भी कहा गया है। लोकप्रसिद्ध है कि जहा ब्रह्मदोष भूतप्रेतादि बाधा भूशुद्धि आदि दोष रहते हैं। वहा गायत्री अनुष्ठान के द्वारा लोग दोषापनयन करते हैं।

भिक्षाचर्या

उपनयन सस्कार में विक्षाचर्या भी एक महत्त्वपूर्ण कृत्य है। लोक में इसकी बहुत बडी मान्यता है। प्राय लोग इसकी पहले से ही तैयारी कर लेते हैं। गृह्यकारों ने कई सूत्रों में इसका उल्लेख किया है। बटुक ब्रह्मचारी भिक्षापात्र लेकर सर्वप्रथम माता के पास जाकर भवति भिक्षा देहि (ब्राह्मण) भिक्षा भवति देहि (क्षत्रिय) भिक्षा देहि भवति (वैश्य) ऐसा वाक्य कह कर याचना करे। अनन्तर अन्य से याचना करे और प्राप्त वस्तु को आचार्य को निवेदित करें।

इस वाक्य में सबोधनरूप भवति शब्द का प्रयोग गौरवार्थ है। जब बालक सर्वप्रथम भिक्षा माता से मागने जायेगा तो भवति की अपेक्षा माता शब्द की गुरुता कम नहीं मानी जा सकती। इस प्रसग में कछ निवेदन है सूत्रकार ने लिखा है कि मातर प्रथमामैके २/४/७ यहा हरिहर आदि भाष्कारों ने एके आचार्या व्याख्या की है। अर्थात् सभी आचार्यो का मत नही है कि पहली भिक्षा माता से ही मागना चाहिए। ऐसी अवस्था में जिस किसी सुभगा आत्मीया से मागा जा सकता है। तथा माता के प्रभाव पक्ष में किसी अन्य से

लिया जा सकता है। इस दृष्टि से सर्वसामान्यापेक्षया **भवति** का प्रयोग समुचित और गौरव प्रद है। तथा माता के लिये भी श्लाध्य एव आदर प्रद और अवसरानुकूल है। कहीं माता कहने से ममत्व उदभूत हो जाय जो ब्रह्मचर्य में बाधक न बने। माता बहिना मौसी फूफी आदि क्रमश अधिकृत है। ये कभी प्रत्याख्यान नही कर सकती।

वर्णानुसार इस शब्द को आचार्यो ने आदि मध्य और अन्त में रखा है। यह वर्ण बोधन निमित्त है।

भिक्षा मागना ब्रह्मचर्य धर्माश्रयानुकूल क्रिया है। आचार्यों में मनु बौधायन याज्ञवल्क्य आदि का मत है कि भिक्षा द्वारा गृहीत अन्न शुद्ध होता है।

ब्रह्मचारियों में सामञ्जस्य समानता एकता आदि का सस्थापक भिक्षायाचन है यह वह क्रिया है जो धनी और गरीब के भेद को तथा आभिजात्य भेद को मिटाती है। तथा आन्तरिक गर्व को दूर कर देश ऋण के भार को स्थापित करती है जिससे बालक भविष्य में अधमर्ण रूप से देश के उन्नयन हेतु कार्यकर ऋण की पूर्ति करे।

वेदारम्भ

उपनयन सस्कार के अनन्तर वेदारम्भ सस्कार होता है। उपनीत होने पर ही वह वटक ब्रह्मचारी वेदाध्ययन प्रारम्भ करने का अधिकारी होता है। इस सस्कार के लिये अनध्याय रहित शुभ मुहूर्त अपेक्षित है। यह सस्कार आचार्य कर्तृक है स्वयकृत नही है। गुर्वध्ययनपूर्वक वेदाध्ययन होता है। इसलिये वेद का अपर नाम अनुश्रव है। इसमें स्वय आचार्य अपेक्षित समय पर ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारियों को बुलाकर अपने पास बैठाता है और वेदी कर्म अग्निस्थापन ब्रह्मवरण हवन करता है।

यहा यह ध्यातव्य है कि एक दिन में ही उपनयन वेदारम्भ समावर्तन तीनों सस्कार होते हैं। इसलिये प्राय एक मण्डप में एक ही वेदी पर तीनों सस्कारो के लिये आचार्य ब्रह्मा वाचक का वरण एक वार ही लोग कर देने हैं। यद्यपि वाचक का वरण शास्त्रनिर्दिष्ट नहीं है। तथापि लोक प्रथा के अनुसार होता है। वेदारम्भ और समावर्तन में पुन वरण की आवश्यकता नही है उनको केवल एक बार उपनयन में ही होता है। अनन्तर वह स्वय अधिकारी है। किन्तु ब्रह्मा का वरण आचार्य कर्तृक वेदारम्भ समावर्तन में होना चाहिए। तीनों सस्कारो के लिये वेदिया भी आवश्यक है किन्तु लोक में कहीं एक ही वेदी पर तीनों सस्कारों का हवन हो जाता है। और कही तीन वेदिया हवनार्थ बनाई जाती है।

इस सस्कार में अन्वारब्ध चार आहुतियों के अनन्तर अनन्वारन्ध यजुर्वेद ऋग् वेद सामवेद की चार चार आहुतिया तथा अथर्ववेद की ग्यारह आहुतिया दी जाती है। पुन अन्वारब्ध ओं भू स्वाहा इत्यादि दश आहुतिया विहित है।

पद्धति के अनुसार वेदी का कार्य समाप्त होने पर ब्रह्मचारी पट्टिका पर पाच अक्षतपुञ्जों पर सुपारी (पूगीफल) रखकर क्रमश वेदपुरुष विघ्नेश सरस्वती विष्णु लक्ष्मी इन पाच देवताओं का आवाहन पूजन करें।

इसके अनन्तर पूर्वाभिमुख उपविष्ट आचार्य पश्चिमाभिमुख ब्रह्मचारी को जो आचार्य के चरणो का स्पर्श करता हो और प्रसन्न मुख से आचार्य को देखता हो उसे सर्वप्रथम गायत्री का उपदेश कर शाखानुसार सस्वर सुस्वर वेदारम्भ करावे। पद्धति में चारो के मत्र उल्लिखित हैं। वे ब्रह्मचारी बटुक से मुखोच्चरित करवा दिया जाय।

अनन्तर ब्राह्मण भोजन भूयसी दक्षिणा क्षमाप्रार्थना आदि क्रिया के द्वारा इस सस्कार को समाप्त करे।

स्वाध्यायेन ब्रतै होमै वेद्येनेज्यया सुतै ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय क्रियते तनु ।। मनु १/२

समावर्तन

ब्रह्मचर्यपूर्वक षडडगो के सहित वेदो के अध्ययन के अनन्तर समावर्तन सस्कार का विधान है। जिसका पालन पूर्वकाल में होता रहता है। एतदर्थ गृह्यसूत्रो में ४८ वर्ष या १२ वर्ष का समय निर्धारित है किन्तु वर्तमान काल में गुरुकुल में नियमानुकूल निवास वेदाध्ययन ब्रह्मचर्यव्रत पालन आदि शास्त्रोक्त क्रिया कलाप का विर्वाह करना कठिन है। यदि कुछ है तो वह रूपान्तर स्वरूप में ही विद्यमान है जिसमें प्राचीन पद्धति का पालन देश काल अवस्था दशा के कारण असमव हैं।

इन सब कारणो से अभिभावक एक दिन एक मण्डप में ही उपनयन वेदारम्भ समावर्तन सस्कारो को करा देते हैं। कहीं एक वेदी पर ही तीनों सस्कारो का हवनादि क्रिया कलापो को करा देते है कहीं अन्य वेदी बनाकर सम्पन्न करते है इस सभी सस्कारो के निमित्त मातृ पूजा आभ्युदयिक आदि कार्य एक बार ही सर्वपूर्व कर दिया जाता है। सभी के लिये पृथक् पृथक् नहीं होता है।

समावर्तन सस्कार ब्रह्मचर्याश्रम (अध्ययनादि) की समाप्ति और द्वितीय गृहस्थाश्रम के प्रारम्भ की मध्यकडी है।

समावर्तन सस्कार के पूर्व केशान्त नामक एक सस्कार की चर्चा शास्त्रो में है। केशान्तकर्मणा तत्र यथोक्त चरितव्रत । व्या स्मृ १/४१। सस्कार भास्कर में भी जहा सस्कारों की गणना की गई है वहा भी केशान्त का नाम आया है। केशान्त स्नानमुद्वाहो इत्यादि। केशान्त का अर्थ है मुण्डन इसका अपर नाम गोदान भी है। गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्ते अस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदान नाम ब्राह्मणादीना षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्य

केशान्ताख्य कर्म उच्यते मल्लिनाथ रघुवश ३/३३। इस सस्कार को गृह्य सूत्रकारो ने समावर्तन से अलग नहीं माना है। क्योंकि समावर्तन में भी मुण्डन होता है। और वह भी सस्कार वेदाध्ययन समाप्ति के अनन्तर ही विहित है। इस सस्कार का लोक में अलग न प्रचलन है और न ख्याति है।

समावर्तन का अपर नाम स्नान है। गृह्यसूत्रकार ने लिखा है। वेद समाप्य स्नायात् पा गृ सू २/६/६ वहीं गदाधर ने कहा है कि स्नानशब्देन समावर्तन सस्कार उच्यते। यह स्नान ब्रतान्त स्नान है। और इसे आचार्य कुल में करने से विशेष स्नान माना जाता है। इसमें ही विद्या समाप्ति होती है। और यह सस्कार ही द्वितीयश्रम का प्रथम सोपान है। एव स्नातकर्ता प्राप्तो द्वितीयाश्रमकाडक्षया। प्रतीक्षते विवाहर्थमनिन्धान्य सभवाम।। व्या २/६ इसमें ब्रह्मचर्याश्रम के चिन्ह मेखला चर्म आदि का परित्याग जटालोमादि कृन्तन कर गार्हस्थ्योपयोगी शास्त्र निर्दिष्ट सामग्रियों को आचार्य के देख रेख में धारण करे और आचार्य को दक्षिणा देकर और उनकी आज्ञा लेकर अपने घर आ जाय।

यह सस्कार उपनयन वेदारम्भ सस्कार के अनन्तर कितने वर्ष वाद और किस मुहूर्त में कहा होना चाहिए ऐसे प्रश्न तथा उसके उत्तर की आवश्यकता नही है। क्योंकि यह सस्कार उपनयन वेदारम्भ के साथ ही उसी दिन उसी मण्डप में हो जाता है। इसके लिये अलग से समारम्भ नहीं होता है और न मुहूर्तादि का विचार किया जाता है।

समावर्तन सस्कार की सामग्री तथा क्रियातालिका

सामग्री सूखा कण्डा पलाश की लकडी समिधा कुश आठ घडे जल से पूर्ण वस्त्र दही तिल नाई स्नानार्थजल गूलर का दातून उदवर्तन द्रव्य। गर्म जल चन्दन बटुक के लिये सपूर्ण वस्त्र अलकार अजन दर्पण छाता जूता यज्ञोपवीत माला बास का दण्ड आदि।

यह कृत्य आचार्य के द्वारा सम्पन्न होता है। क्यों कि इस अवस्था में वही अभिभावक या अधिकारी है। यहा यह कहना उपयुक्त होगा कि उपनयन के समय ही तीनो वेदियों या सस्कारो के लिये ब्राह्मणो का प्राय वरण हो जाता है। यदि करना चाहे तो आचार्य ब्रह्मा का वरण करे।

समावर्तन सस्कार की क्रियातालिका

१ आचार्यकर्तृक सकल्प और वेदी निर्माण अग्निस्थापन

२ ब्रह्मा का वरण

३ वेदी के समीप रखने के लिये सामग्री

४ हवन यह हवन केवल घृत से किया जाता है। इसमे अन्वारब्ध और अनन्वारब्ध दोनों

प्राकार के हवन हैं इसका क्रम ४ बार अन्वारब्ध। अनन्वारब्ध यजुट की ४ ऋक् की ४ साम की ४ अथर्व की ११ आहुतिया दी जाती हैं। पुन अन्वारब्ध १ आहुतिया दी जाती है। वेदी कृत्य पूर्णपात्र दान अभिषेक उपयमनकशो का अग्नि प्रक्षेप।

५ इसके अनन्तर ब्रह्मचारी बैठकर ५ बार कण्डे से हवन करे और पुन ३ बार उठकर पलाश की लकडी से हवन करे तथा पुन बैठकर ५ कण्डे से हवन करे। तत्पश्चात् अग्नि पर हाथ तपाकर ७ बार मुख का स्पर्श करें और एकबार सभी अगो का भी स्पर्श करें। इसके बाद ब्रह्मचारी मुखनासिका नेत्र कर्णबाहु का स्पर्शकर भस्म लगावे। इसकर्म के अनन्तर गोत्रप्रवरनामपूर्वक ब्रह्मचारी अग्नि सूर्य वरुण आचार्य का नमस्कार करे और दक्षिणोत्तर क्रम से स्थापित आठ उदककुम्भो से अभिषेक करे। इसके वाद क्रम से मेखला अजिन दण्ड का त्याग सूर्योपस्थान दधि या तिल का प्राशन नखलोमादि कृन्तक शीतोदक स्नान औदुम्बरकाष्ठ का दन्तधावन उदवर्धन उष्णोदक स्नान चन्दनानुलेपन पुन मुखादि का आलम्मन दक्षिणाभिमुख पितरो के उद्देश्य से अञ्जलि से जल फेकना इसके बाद यज्ञोपतीत चन्दन वस्त्र माला अलकार अजन छाता जूता बास का दण्ड धारण करे।

यह सस्कार आचार्य कर्तृक है। वेदाध्ययन समाप्ति के अनन्तर ब्रह्मचारी आचार्य से समावर्तन के निमित्त निवेदन करे और आज्ञा पाने पर वह स्नानादि से निवृत होकर आचार्य के पास उपस्थित हो जाय। इसके बाद सकल्प पूर्वक आचार्य वेदी का कार्य करे। ये सभी कृत्य मत्रपूर्वक है।

इसके बाद आचार्य द्वारा स्नातकोपदेश और उसका पालन करे। पुन आचार्य पूजन और दक्षिणा दे। तत्पश्चात् ब्राह्मण भोजन और भूयसी दक्षिणा देकर तिलकाशीर्वाद ग्रहण करे तथा परिपूर्णता हेतु भगवान् की प्रार्थना करे।

उपनयन सस्कार के बाद कुलाचार के अनुसार किसी दिन शुभ मुहूर्त में मण्डपोद्वासन करें।

समावर्तन क्रियाकल्पों की वैज्ञानिकता

समावर्तन सस्कार में हवन के लिये घृत सूखा कण्डा और पलाश की समिधा ये तीन सामग्री गृहीत है। यद्यपि हवन के लिये अनेकानेक सामग्रिया देव विशेष निमित्त निर्दिष्ट है। किन्तु विशेष स्थान घी हविष और चरु को दिया गया है। हविष् खीर को ही प्राय कहा जाता है। किन्तु तिल यव अक्षत गुड और घृत आदि भी प्रधानत हविष् के अन्तर्गत ही गिने जाते हैं। कोई भी सामग्री बिना घृत से सिक्त अग्नि में नहीं दी जाती है। अत घी की प्रधानता हवन में रहती है।

सस्कारों में हवनार्थ घृत का ही प्रयोग होता हैं। घी को आयुर्वर्धक तेजस्वरूप कहा गया है। इसका सुगन्ध व्यापक चिरस्थायी और प्रिय हैं तथा सग्रह करने और क्रिया कलाप में लाघव है। इस लिये इसकी उपादेयता अत्यधिक है। आयुर्वैघृतम् तेजोवैघृतम् हवन का उद्देश्य देवता प्रीत्यर्थ अग्नि में द्रव्य त्याग करना है। हवन के द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर मानव अपने अभीष्ट को प्राप्त करता है। इसका तात्पर्य है कि देवता जब प्रसन्न होते हैं तब सुवृष्टि होती है। और उससे अन्नाधिक्य की उत्पत्ति सुभिक्ष और प्रजासुखी रहती है।

अग्नौ प्रास्ताहुति सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते मनु ३/७६
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व।
परस्पर भावयन्त श्रेय परमवाप्स्यथ।। गीता ३/११

अण्डपिण्डवाद सिद्धान्त के अनुसार मानवपिण्ड देवगण की विभिन्न देनों का मूर्त परिणाम है। अत इनमें अनुजीव्य-अनुजीवक भाव है। इसलिये अनुजीवी मानव पिण्ड पद पर में अपने अनुजीव्य देव गण की अनिवार्य अपेक्षा रखता है। बिना उनकी कृपा से भोग पदार्थ से एकत्रित करने में ही नहीं बल्कि भोगने में भी क्षम नही हो सकता।

यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से हवन यज्ञ आदि सुकर्मो का मुख्य उद्देश्य देवता मा परमात्मा की तृप्ति और प्रसन्नता ही है तथापि लोक दृष्टया अन्य गौण प्रयोजन भी है जैसे वृष्टि वायुशुद्धि वातावरणदूषणपरिशुद्धि अर्चिष् सुगन्धि आदि।

इस ससार में सूखे कण्डे और पलाश की लकडी का घृताक्त हवन होता है। इसका विधान उपनयन सस्कार में भी है। जिसका क्रम सूखे कण्डे से प्रथम पाच बार हवन करने के बाद पलाश की लकडी से तीन बार करे और इसके बाद पुन पाच बार हवन करने के बाद पलाश की लकडी से तीन बार करे और इसके बाद पुन पाच वार कण्डे से करे।

सूखा कण्डा भी ईंधन के अन्तर्गत है। इससे अग्नि का सन्धुक्षण अर्थात् सदीपन किया जाता है। और इससे अग्नि की स्थायिता बनी रहती है। शुष्क गोमय का खण्ड पवित्र ईंधन है। इसके प्रक्षेपण के द्वारा माणवक अग्नि से प्रार्थना करता है। कि हे शोभन कीर्ति वाले मुझे शोभन कीर्तिवाला बनाओं तथा मेरे आचार्य को भी शोभन कीर्ति वाला करो जिस प्रकार देवताओं के मध्य में आप हव्य रक्षक है उसी प्रकार मनुष्यों के मध्य में मै भी वेद का निधि हो जाऊ।

पलाश की समिधा द्वारा हवन के प्रयोजन को अग्नये समिध माहार्षम् इत्यादि हवन मत्र ही प्रतिपदोक्त कह रहा है उससे अधिक प्रयोजन कहने की आवश्यकता नही है। तथापि लौकिक दृष्टया कुछ विचार किया जा रहा है। पलाश नवग्रहों में द्वितीय ग्रह चन्द्रमा की समिधा है। चन्द्रमा सौम्य ग्रह है तथा नक्षत्रों औषधियों विशेष कर ब्राह्मणों के अधिपति और शन्तिप्रद है। प्राय तत्सबन्धी गुण उनकी समिधा में भी होना चाहिए इस लिये उन गुणो

की प्राप्ति की कामना से हवन में इसका ग्रहण किया गया है। मत्र में भी स्वय को मेधावी यशस्वी तेजस्वी आदी की कामना की गई है।

द्वितीय यज्ञोपवीत धारण

समावर्तन सस्कार में एक दूसरा भी यज्ञोपवीत धारण करने का विधान है। इसका तात्पर्य है कि इसके पूर्व ब्रह्मचर्य अवस्था में केव ा एक यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। क्यों कि उस समय केवल श्रौत कर्म में ब्रह्मचारी का अधिकार है स्मार्त में नहीं और स्नातकोत्तर श्रौत और स्मार्त दोनों कर्मो में अधिकार होने का कारण दो उपवीत होना चाहिए।

वस्त्र अलकार मा ा छाता जूता अजन दर्पण चन्दन वशदण्ड आदि सामग्री शरीर सौन्दर्य योग्यता की अभिवृद्धि वर्षातप निवारणार्थ उच्चावच भूमि तथा तप्त कण्टकाकीर्ण भूमि के सन्तरणार्थ अवलम्बनार्थ गार्हस्थ्योपयोगी वस्तु दी जाती है।

इन वस्तुओं के धारण के समय पढे जाने वाले मत्रो में वस्तुओं के पर्याप्त गुण मिलते है जिससे उनके महत्त्व को समझा जा सकता है।

अष्टकुम्भजल मार्जनाभिषेक

समावर्तन सस्कार में वेदो के उत्तर तरफ कुशो पर दक्षिणोत्तर क्रम से रखे हुए कुम्भ पुरवा या शराव) जो शुद्ध जल से भरा हो और आम्रादिपल्लवों से युक्त हो उसको क्रम से स्नातक दक्षिण से एक एक का समन्त्रक जल ग्रहण कर आम्रपल्लव से अपने को स्वय अभिषिक्त करे।

इन आठ कुम्भ जलो से अभिषेक करने का क्या प्रयोजन है उसे तो यथार्थत वैदिक मत्रों के अर्थ ही प्रकट करते हैं। जल की उत्पत्ति तेज से अग्नि से हुई है। इसलिये तद्गत दोषों को निराकरण पूर्वक उसके रोचिष्णु गुण को ग्रहण करना और उससे स्वय को अभिषिक्त करना यही इसका अभिप्राय है। वे दोष आठ प्रकार के हैं अत अभिषेकार्थ उदकपात्रों की सख्या आठ रखी गई हैं।

इसके अतिरिक्त स्नातक इस सस्कार के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वाले हैं। उसके लिये यह चेतावनी है कि तुम जिस प्रकार ब्रह्मचर्यावस्था में आठ प्रकार के मैथुनो से अस्पृष्ट रहे हो उसी प्रकार गृहस्था ्रम में भी परकीया के साथ स्मरण कीर्तन के लिए प्रेक्षण गुप्तभाषण इन आठ क्रियाओं से दूर रह कर गार्हस्थ्य या दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाओ।

मानव के विशिष्ट आठ गुणोय से युक्त हो इसके लिये भी आठ कलशो का उपयोग किया गया है। मुख्य आठ दिक्षाओं तथा उनके अधिपतियो द्वारा स्नातक सर्वदा सुरक्षित रहे यह भी प्रयोजन है।

मेखला का शिरोभाग से नि सारण

मेखला धारण के समय मेखला को देवी स्वसा सुभगा बलदामिनी आदिकह कर धारण किया गया है। इसलिये उसका परित्याग उचित मार्ग से ही होना चाहिए।

दधि या तिल का प्राशन

शास्त्र विहित यह कर्म लोक में भी मगल प्रद माना जाता है। दही तो हमारे यहा इतना शुभ माना जाता है। कि प्रत्येक कार्यो में उसका उपयोग किया जाता है। यात्रा के समय इसका प्राशन दर्शन दोनो ही प्रशस्त है। तिल की पवित्रता सर्वप्रसिद्ध है। इसका दवकार्य और पितृकार्य दोनो में महनीय स्थान है। यह तैजस बलवर्धक और ग्राह्मार्ह है। इन सभी दृष्टियों से इनकी उपादेयता सिद्ध होती है।

गूलर का दन्तधावन

गूलर के दातून से वाक् सिद्धि होती है। अर्थात् वाणी गत जो दोष होता है उन दोषो को गूलर निराकरण करता है और विशेष गुण माधुर्यादि का आधान करता है। यहा यह भी ध्यातव्य है कि गूलर शुक्र ग्रह की समिधा है और शुक्राचार्य महाकवि ही नहीं अपितु आदि कवि देवकवि भगवद रप नीति के प्रवर्तक सजीवनी विद्या के मर्मज्ञ सौम्य ग्रह एव आचार्य हे। अत उनके कुछ न कछ गुण उनके इन्धन में अवश्य ही रहेगा। अत गूलर वाक्सिद्धि अर्थात् कवित्व शक्ति वाक्चातुर्य को अवश्य देगा यह विश्वास है। दूसरी बात यह है कि गूलर दूध वाला वृक्ष है। और दूध वाला वृक्ष का दातून शास्त्र विहित होता हुआ दात की पुष्ट करता है। यह जनविदित है।

गूलर की दातून २ अगुल होना चहिए और कनिष्ठा अगुली के अग्रभाग की तरह मोटी होना चाहिए। **(द्वादशाङगुलसमितेन कनिष्ठिकाग्रवत् स्थलेन उदुम्बरकाष्ठेन हरिहरभाष्ये पा गृ सू २/६/१७)** दशागुल क्षत्रिय अष्टागुलवैश्य के लिये है।

अन्नाधाय इति मन्त्रार्थ हे दातो अन्न खादन के लिये निर्मल हो जिससे यह सोम राजा काष्ठ रूप से आये है अत वही सोम मेरे मुख को शुद्ध करेगे। यश और षडविध ऐश्वर्य से।

इसके बाद अडगो में सुगधित द्रव्य से उद्वर्तन के द्वारा अपनयन कर स्नान करे तदनन्तर चन्दनानुलेपा मुख नासिका आख कान में करें।

मन्त्रार्थ

हे उप अनुलेपनाधिदेवता। मेरे प्राण और अपान वायु को तृप्त करो तथा मेरी नेत्रेन्द्रिय (श्रवणेन्द्रिय को तृप्त करो।)

इसके बाद सूत्रकार ने कहा है कि पितर शुन्धवमिति पाण्योरवनेज दक्षिणा निर्षिच्यानुलिप्य जपेत् पा गृ सू २/१ /६१/१६ इसके बाद जप करने का मन्त्र सुचक्षा इत्यादि।

कर्काचार्य ने इसका प्रतीक मात्र दिये हैं। इस पर कुछ नही कहे हैं। किन्तु जय राम गदाधर आदि भाष्यकारों ने अपसव्य दक्षिणाभिमुख होकर दोनो हाथो से पितर शु धध्वम् इस मन्त्र से एक अजलि जल दे ऐसा विधान किया है।

यहा यह ध्यात्व्य वि यह कार्य जीवत् पितृक माणवक को करना उचित है ? मेरी दृष्टि से पितृविहीन माणवक ही इसका अधिकारी है जीवत् पितृक को यह कार्य करना उचित नहीं है। सरयूपारीण प्राचीन विद्वानों का यही मत था। आधुनिक विद्वानो में शास्त्रार्थ महारथी माधवाचार्य शास्त्री आदि विचारको ने भी जीवतृपितृक के लिये क्यो नामक पुस्तक में इसका निषेध किया है।

समावर्तन स्नातकोपदेश

समावर्तन सस्कार में आचार्य द्वारा दिया गया स्नातकोपदेश का बहुत बडा महत्त्व और मूल्य है। सौभाग्यवश यदि स्नातक इसे हृदय से ग्रहण और पा न करे तो द्विजत्व ब्राह्मणत्वादि मानवत्व एव गार्हस्थ्य धर्मो का पूर्णभागी होगा। यह उपदेश केवल त्रैवर्णिक मात्र का ही विषय नहीं है। अपितु द्विजेतर भी स्वेच्छा से इसके अधिकारी है अर्थात् यह मानव मत्र ग्राह्य है। स्नातकोपदेश

१ स्नातक स्वय नाच गाना बाजा बजाना न करे और जहा पर दूसरे के द्वारा नाच गाना बजाना होता हो वहा स्वय न जाये। स्वेच्छा से स्नातक गाना गा सकता है और दूसरे के गीत सुनने के लिये जा सकता है। क्योंकि कर्म में गीत की उपोगिता कही गई। अश्वमेध यज्ञ में ब्राह्मणो और क्षत्रियों के लिये गान का विधान है।

तात्पर्य हैं कि स्नातक या द्विजाति इन कृत्यों को व्यवसाय न बनावे।

२ निरापद अवस्था में रात्रि के समय अपने गाव से दूसरे गाव में न जाए और दौडते हुए न चले लेकिन यदि कोई आपत्ति आ जाय और विशेष कार्य आ जाय तो वह ग्रामान्तर में जा सकता है और दौडते हुए चल सकता है। जैसे आपत्ति में अशक्त रोगी के लिए चिकित्सा औषध प्रबन्ध आदिकार्य। दौड कर या शीघ्र चलने में गिरने का डर (भय) रहता है।

३ कूए में नीचे मुख करके अपनी छाया देखना यों ही कुतूहल वश झाकना यह स्नातक न करे। क्योंकि सभावना है किसी अन्य कारण वश कूए में गिर न पडे और दूसरा कारण है शास्त्र निषेध जलविद्युदादि का प्रकोप। वृक्ष पर नहीं चढना चाहिए क्योंकि उससे सर्वथा पतन का भय है।

आम आदि वृक्षो के फलो को तोडना अर्थात् पेड पर चढकर या डडे ढेले से मार कर फल तोडना तो सर्वथा अन्याय एव गर्हित है इसमें सामाजिक व्यावहारिक वैधानिक दोष है।

स्वकीय वृक्ष से भी फल तोडना अप्रशस्त है क्योंकि इसमें पेड से गिरने का भय रहता है। ढेले और डडे से भी चोट लगने की सभावना बनी रहती है। यह तो व्यावहारिक कारण है। शास्त्रीय विधान है कि फल स्वय पक कर गिर पडे या हवा आधी तूफान से गिरे उन्हीं का उपयोग करे निरर्थक फल शाखा पत्ते को न तोडे। यहा तक गिरी हुई कुत्सित (खराब) दरवाजे से निकलना नहीं चाहिए क्योंकि वहा साप बिच्छू आदि विषैले जन्तुओं का भय रहता है।

उपदेश

अजातलोम वाली अर्थात् समय पर जिसे लोम नहीं हुआ उसका उपहास न करें। पुरुष के आकार वाली अर्थात् दाढी मूछ वाली और नपुसक का उपहास नहीं करना चाहिये क्यों कि अपनी क्रियाओं द्वारा दूसरो को कष्ट पहुचाना लोक शास्त्र विरुद्ध है और अभिगमन तो नितान्त निन्दित है।

गर्भिनी स्त्री को विजन्या नकुल को सकुल कपाल को भगाल शब्द से व्यवहार करना चाहिए अर्थात् इनके प्रति इन्हीं शब्दों को उच्चरित करना चाहिए। शब्द वही प्रयुक्त किये जाय जो दूसरे के लिये अनुदवेग कर हो।

गौ यदि बछडे को दूध पिला रही हो तो दूसरे को न बताओ। क्योंकि ऐसा करने पर पाप अपश्य लगेगा कारण है कि आप दूसरे के आहार को अपहरण कर रहे हैं।

उर्वरा भूमि अर्थात् सस्य (धान्य या फसल) से युक्त भूमि में अथवा तृणादि से रहित भूमि में खडे होकर मूत्र पुरीष (लघुशका और दीर्घशका) नहीं करना चाहिए। क्योंकि बुआई अकुरित फसल युक्त खेत में मूत्र (सस्यवती) करने पर हानि और दूषण दोनो होता है। जोती जमीन पर करने पर भगवती वसुन्धरा का अपमान है। खडे होकर मूत्रादि करने पर अग और वस्त्र दोनो ही दूषित होते हैं।

स्वय टूटे हुए काष्ठ से या ढेले से गुदा को पोछ देना चाहिए। ऐसा करने से गुदा की सफाई थोडे जल से भी हो जाती है।

विकृत वस्त्र नहीं पहनना चाहिए।

दढव्रत होना चाहिए।

सभी प्रकार से अपनी रक्षा करनी चाहिए

सभी से मित्र की तरह व्यवहार करना चाहिए।

जयराम के मतानुसार ये सभी निषेध विवाह तक हैं।

उपदेश

नग्न स्नान नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से जल देवता वरुण का अपमान है। लोक मर्यादा विरुद्ध है। गुदा आदि निम्न छिन्द्रो से विषाक्त कीटाणुओं के प्रवेश का भय है।

विषम भूमि का लघन नहीं करना चाहिए ऊची नीची जमीन पर्वत गढढा आदि का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। अन्यथा पतन क्षतविक्षतादि का भय बना रहता है।

अश्लील भाषण नहीं करना चाहिए। अश्लील तीन प्रकार का होता है

१ लज्जाकर जिसके कहने से लज्जा होती है।

२ अमगलकार जिस शब्द के प्रयोग से अमगल या अशुभ सूचित हो वह शब्द कथमपि प्रयुक्त करने योग्य नहीं हैं।

३ कष्टकर बात दु खद जिसके प्रयोग से किसी के हृदय पर आघात पहुचे उसका प्रयोग अनुचित है।

४ प्रात कालीन सन्ध्या और सायकालीन सन्ध्या के समय सूर्य को न देखना चाहिए अर्थात् अरुण सूर्य बिम्ब को नही देखना चाहिए इसका तात्पर्य है कि आखो का सबन्ध सूर्य से है और सूर्य प्रात सध्या के समय अपनी किरणों को तेजी से बिखेरते या कहिये कि उस समय सूर्य की किरण बिखरती है। और साय सूर्य अपनी किरणो को समेटते है या यो कहिए कि उस समय किरणे सिमटती है। तो ऐसे कहिए कि उस समय सूर्य को देखने से चक्षु गत किरणो का बिखरना या समेटना न हो अथवा अधिक रश्मिप्रपात और रश्मिसकोच न हो एतदर्थ उस समय सूर्यावलोकन वर्जित है। (चक्षो सूर्योऽजायत विश्वतश्चक्षुरुत तच्चक्षुर्देवहितम् इत्यादि मत्र) सिद्ध अन्न की भिक्षा नहीं लेना चाहिये। क्यों कि वहा निर्माण निर्माता आदि का भली भाति ज्ञान नही रहता। यह सस्मरणीय है कि आहार शुद्धि से ही सत्त्व शुद्धि होती है। छान्दोग्य में कहा गया है। कि मुक्त अन्न तीन प्रकार का होता है। स्थ्ल मध्यम और सूक्ष्म। स्थूल अश मल मूत्रादि है और मध्यम अश मासादि है और सूक्ष्यम अश मन होता है। इसलिये सिद्ध है कि जैसा अन्न तैसा मन। अन्न का विचार करना आवश्यक है।

मेघ के वर्षते समय शरीर ढककर ही कही जाना चाहिये अर्थात् छाता लेकर गमन करना उचित है। गमन करते समय अह में वज्र पाप्मानमपहत् इस मत्र का जप करता चलना चाहिए।

मन्त्रार्थ जल में अपना प्रतिबिम्ब नहीं देखना चाहिए। इससे बिम्ब (मुख) दोष आने की सभावना है।

नेक्षेतादित्यमुद्यन्त नास्त यान्त कदाचन।
नोपसृष्ट न वारिस्थ न मध्य नभसोगतम्।। मनु

उगते और अस्त होते हुए तथा मध्याह्न गत एव जलप्रतिबिम्बि और राहुग्रस्त र्‌र्य को नहीं देखना चाहिए।

स्नातक समावर्तन के बाद तीन रात तक अवश्य ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे मासादि का भोजन न करे और न तो मिट्टी के पात्र से जल पीये। स्त्री शूद्र शव (मृत) काले पक्षी (कौवा) कुत्ता इनको न देखना और न इनके स्त्री शूद्र आदि के साथ सभाषण करना चाहिए। अशौच सूतक और शूद्र का अन्न ग्रहण न करे। अर्थात् जिस कुल में मृतक शौच हो और जन्मसबधी सूतक हो उस कुल या घर का अन्न नहीं खाना चाहिए। घाम (सूर्यातप) में मल मूत्र का त्याग थूकना कल्ला लालादि आदि नहीं करना चाहिए। सूर्य से अपने को छाता आदि से नहीं ढकना चाहिए।

गर्म जल से जलसाध्य क्रिया अर्थात् शौच आचमन आदि क्रियाओं को करे। रात को दीपक जलाकर भोजन करना चाहिए। सत्य ग्चनो का ही उच्चारण करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त मन्वादिस्मृति प्रोक्त आचारो को भी करे। इस प्रसग में तैत्तिरीय शिक्षावल्ली का उपदेश भी देने योग्य है। क्योंकि वहा कहा गया है। **वेदमनूच्याचार्योऽन्ते वासिनमनुशास्ति** अत वह प्रासगिक है। आचार्य उसका भी इस अवसर पर प्रयोग भली भाति कर सकते हैं। और वह सबके लिये श्रोतव्य एव धार्य है।

---

१ आहारशुद्धौ सत्त्व शुद्धि

व्रत एव पर्वों की वैज्ञानिकता

• डॉ उर्मिला श्रीवास्तव

सृष्टि के आदि से आर्यावर्त धर्मप्रधान भूमि रही है। वैदिक ऋषियों ने मानव की लोकयात्रा के निर्वाह में धर्म को अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया और सम्पूर्ण जीवन पद्धति को धर्म से ओतप्रोत उद्घोषित किया है। धर्म समग्र जगत् को धारण करता है धर्म ने ही समस्त प्रजाओं को धारण कर रखा है अत उसका नाम धर्म है **धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मेण विधृता प्रजा** । शास्त्र का आदेश है कि यह जो धर्म है वह सत्य है सत्य बोलने वाला भी धर्म ही बोलता है और धर्म बोलने वाला भी सत्य ही बोलता है अत यथाशक्ति आजीवन धर्म का आचरण करना चाहिए उससे प्रमाद नहीं करना चाहिए **धर्मं चर। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।**

भारतीय सस्कृति में धर्म शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थों में स्वीकृत है। धृ धातु से मन् प्रत्यय लग कर निष्पन्न धर्म शब्द **ध्रियते लोकोऽनेन** अथवा धरति लोकम् (जिस विश्वव्यापी प्रत्यय के द्वारा ससार का सञ्चालन सर्वोत्कृष्ट रप में व्यवस्थित है) आदि मन्तव्यों का सूचक है धर्म को जो व्यक्ति विचारशक्ति से अवगत कर लेता है वही धर्म का पूर्ण विज्ञाता होता है। भारत के वैज्ञानिकों का यहा के दार्शनिकों अथवा धार्मिकों के साथ कदापि विरोध नहीं रहा है इस तथ्य के स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध हैं। हमारे दर्शन की नींव विज्ञान पर आधारित है और वे दर्शन हमारे धर्म के सुदृढ स्तम्भ हैं। धर्ममार्ग के सयोजन से ही इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार सम्भव है। धर्म ही लौकिक एव अलौकिक कल्याण के सम्पादन से व्यक्ति और समाज के विकास का मार्ग सुगम करता है **यतोऽभ्युदय नि श्रेयस् सिद्धि स धर्म** ।

धर्म की इस विशद व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म केवल आध्यात्मिक अनुभव का ही माध्यम नहीं लोकमडगल का भी विधायक होता है अत मानव जीवन के सभी पक्षों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर व्यक्ति के भौतिक विकास के आधार का भी निर्माण करता है। समाज में प्रचलित धार्मिक परम्पराओं के माध्यम से धर्म के इन दोनों उद्देश्यों की स्थापना सहज हो जाती है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परम्पराए धर्म के मौलिक

---

१ वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त सर्ग २/

२ यो वै स धर्म सत्य वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहु धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्त वदतीत्येतद् येवैतदुभय भवति बृहदारण्यकोपनिषद्, १/४/१

३ तैत्तिरीयोपनिषद् १/११/१

४ वैशेषिक दर्शन १/१/२

तत्त्वों को सुरक्षित रखते हुए नवीनता के साथ अनुकूलन कर लेती हैं। इस अपरोक्ष विधि से समाज को अन्त करण की पवित्रता के साथ जागरण का सन्देश अन्धकार से प्रकाश की उपलब्धि का सन्देश आत्महीनता से आत्मोद्धार की सिद्धता का सन्देश भी सस्कार रुप में उपलब्ध होता रहता है।

पृ धातु से अच् प्रत्यय लग कर निष्पन्न परम्परा शब्द का तात्पर्य है जो पर के भी परे हो अर्थात् श्रेष्ठ हो। जो न कभी भूत न भविष्यत् सदैव वर्तमान हो जो आत्मिक जीवन की जीवन्त प्रक्रिया बन कर जीवन को अनुशासित करे जो कल्याण का उपदेश देती हुई मुक्ति के आयामों को विस्तृत करे जो भौतिक जीवन को कर्म के मार्ग पर अनुशासन से नियन्त्रित करे।

भारत की अन्य देशों से विलक्षणता का विशिष्टता का मूल कारण है भारत की श्रेष्ठ सनातन परम्पराए। भारतीय धर्म एक ओर पुरातन मान्यताओं से बधा हुआ है तो दूसरी ओर आधुनिक मूल्यों को भी सरलता से अडगीकार करता है। सर्जनात्मक रूपान्तरण की इस निरन्तर यात्रा में वह कभी अपनी परम्पराओं से विलग नहीं होता है। परम अतिशयेन पृणाति पिपूर्त्ति अर्थ में परम्परा शब्द अविच्छिन्न धारा का ही द्योतक है। स्वय को काट कर तोड कर आगे बढती हुई परम्पराए मानव की वशावलियों को जोडने में श्रृखला का कार्य करती हैं। मानव मात्र के हित सम्पादन के निमित्त अडकुरित ये धार्मिक परम्पराए अपने मौलिक एव आरम्भिक स्वरूप में नितान्त वैज्ञानिक होती हैं। विज्ञान की ठोस आधारशिला पर प्रतिष्ठित होने के कारण अपनी अकाटय उपयोगिता सिद्ध कर युगों तक ये परम्पराए अपना अस्तित्व बचाए रखने में सक्षम होती हैं। कालान्तर में प्रयत्नलाघव सुविधा सौकर्य तथा अनभिज्ञता आदि कारणों से इन परम्पराओं का लाघवीकरण अथवा सरलीकरण हो जाता है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया के अन्तर्गत इनका आडम्बरपूर्ण बाह्यस्वरूप तो यथावत् सुरक्षित रहता है किन्तु विज्ञानसिद्ध आन्तरिक रूप विकृत हो कर विलुप्त सा हो जाता है और यह आभास भी नहीं होता कि जादू, टोना अभिचार सी प्रतीत होने वाली अमुक परम्परा विशेष अपने प्राथमिक रूप में कितनी अधिक वैज्ञानिक थी। विज्ञानसिद्ध तथ्यों के ज्ञान के अभाव में प्रगतिशील समाज रूढि और अन्धविश्वास कह कर इनकी उपेक्षा करता है अनावश्यक मान कर इनका बहिष्कार करता है।

प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता आइन्सटाइन का मत है **Science without religion is lame and religion without science is blind** पाश्चात्य सभ्यता के चाकचिक्य से प्रभावित युग की वर्तमान आवश्यकता है कि परम्पराओं के प्राचीन विशुद्ध रूप का परीक्षण कर हम उनके यथार्थ रूप को समाज के समक्ष प्रस्तुत करें तथ्यों में निहित वैज्ञानिकता को प्रमाणित कर वास्तविक स्वरूप को समाज के मध्य स्थापित करें। परम्पराओं

---

१ शब्दस्तोममहानिधि तारानाथ भट्टाचार्य

२ आइन्सटाइन द वर्ड ऐज आइ सॉ

का यही सत्स्वरूप बुद्धिजीवी वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट कर सकेगा तब प्रगतिशील समाज के विचारों से अनुप्राणित परम्परा एक ओर तो अपने निर्वाह के प्रति व्यक्ति को सचेत कर सकेगी दूसरी ओर परिपुष्ट परिपक्व हो कर राष्ट्र के अभ्युत्थान का पथ प्रशस्त करेगी।

भारत में विज्ञान के माध्यम से जीवनोपयोगी विषयों के चिन्तन तथा विकास की कथा नई नहीं सुदीर्घ है। प्राचीन आचार्यों व ऋषियों ने अपनी जिस विलक्षण मेधा से प्रकृति के अलौकिक तथ्यों का साक्षात् किया उसी विशिष्ट चाक्षुष् प्रतिभा के उपयोग से प्रकृति के लौकिक तथ्यों का सूक्ष्म विवेचन कर उन्हें मानव के लिए अनुकूल बनाया। परम सत्य के यथार्थ ज्ञान से साधित विज्ञान ऋषियों की दृष्टि में त्याज्य नहीं वह तो निष्कर्मता से कर्त्तव्य के मार्ग पर नियोजित करने का माध्यम है। श्रीमदभगवद्गीता ने स्पष्ट कहा है **न च सन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति।**

शास्त्रानुमोदित व्यवस्था **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुणकर्मविभागश** के सम्यक् परिपालन हेतु कर्त्तव्यकर्मो का सम्पादन मानव का परम धर्म है। इस विचार से अनुप्राणित जीवन निर्बाध गति से मानव को ससार के पार ले जाता है। दूसरी ओर जागतिक पदार्थों का ज्ञान अनुसन्धान अविष्कार सुखमय जीवनयापन का सर्वोत्तम साधन बनता है। भारत ज्ञान और चिन्तन के क्षेत्र में सदा से अग्रणी रहा है। विज्ञान विशिष्ट ज्ञानम इति विज्ञानम् श्री ज्ञान और चिन्तन से विकसित एक शाखा है। किसी वस्तु का तथ्यपरक पुनरीक्षित ज्ञान सत्यसिद्ध हो कर विज्ञान का रूप ले लेता है ऐसा सत्यज्ञान स्वत विज्ञान हो जाता है। भरत के ऋषि मुनियों ने साधकों तपस्वियों ने मानव सभ्यता को सुसस्कृत बनाने के लिए धर्म के आवरण के अन्तर्गत कुछ शाश्वत नियम निर्धारित किये। विज्ञान की कसौटी पर परखे हुए इन नियमों के पालन की बाध्यता सुनिश्चित करने के लिए उनकी वैज्ञानिकता को स्वर्ग नरक पाप पुण्य की योग्यता से सम्बद्ध किया। सृष्टि के सर्वविध तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर सर्वज्ञ सिद्ध होने के लिए ऋषियों की दृष्टि में विज्ञान का अध्ययन अनिवार्य है। यथा विज्ञान द्वारा ही ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद आथर्वण आदि द्यु पृथिवी वायु आकाश आदि धर्म अधर्म सत्य अनृत आदि का ज्ञान होता है इसलिए हे नारद ! तू विज्ञान की उपासना कर।

विज्ञानेन वा ऋग्वेद विजानाति यजुर्वेद सामवेदमाथर्वण दिव च पृथिवीं च वायु चाकाश च धर्म चाधर्म च सत्य चा नृत च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति।

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता ३/४

२ श्रीमद्भगवद्गीता ४/१३

३ छान्दोग्योपनिषद् / /१

भारतीय ऋषि वैज्ञानिकों ने विभिन्न पक्षीय जीवन को बहुविध दृष्टिकोणों से परखा था और इस निष्कर्ष पर पहुचे थे कि जीवन एक सतत प्रवाहित अविरल धारा है। इस अविरल धारा का अन्त प्रतीत तो होता है किन्तु वह अन्त भी अनादि नहीं इसका आरम्भ तो अन्त में ही निहित है अत जीवन के प्रति एकाडगी दृष्टिकोण अनुचित है। यदि जीवन की सार्थकता के लिए तप और साधना की तपती धूप अनिवार्य है तो हर्षऔर उल्लास की सुखद छाया भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। ऐसे ही अमरत्व की प्राप्ति हेतु वैदिक ऋषि मानव मन को उत्प्रेरित मरता है हे देव ! मुझे उस स्थिति में अमरत्व प्रदान कीजिए जहा आनन्द आमोद प्रीति और प्रसन्नता उपलब्ध हों जहा जीवन के अभीष्ट लक्ष्य भी मुझे प्राप्त हों

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ता कामास्तत्र माममृत कृधि ।

वैदिक प्रवक्ताओं ने ज्ञान को द्विधा विभक्त किया परा और अपरा। परा अर्थात् अनादि अखण्ड सत्ता का साक्षात् कराने वाली विद्या और अपरा अर्थात् नश्वर जागतिक पदार्थों का ज्ञान कराने वाली विद्या

विद्या चाविद्या च यस्तदवेदोभय सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

अमृतत्व की प्राप्ति के लिए दोनों का ही ज्ञान अनिवार्य है। एक की उपलब्धि से दूसरे की जिज्ञासा सहज रूप से शान्त हो जाती है। परा अर्थात् ब्रह्म के दर्शन से ससार के सभी विभेदों का ज्ञान हो जाता है। सभी भेदों और प्रभेदों को जान लेने वाला जिज्ञासु जीवन के अन्तिम बिन्दु मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यथा मूल को जानने वाला वृक्ष की शाखाओं और पत्तों को स्वत जान लेता है तथा शाखाओं और पत्तों का विश्लेषण कर सकने वाला व्यक्ति मूल से अनभिज्ञ नहीं रह जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मरूपी मूल से आरम्भ करने से ज्ञान की सब शसखाओं में गति हो जाती है जगत् रूपी वृक्ष का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। यह सभी शाखाए प्रशाखाए मूल तत्त्व में उपशम हो जाती हैं। विवेकी मनुष्य इस तथ्य से भलीभाति अवगत है कि ज्ञान विशिष्टता से सम्पन्न हो कर विशिष्ट ज्ञान बन कर विज्ञान की श्रेणी में चला जाता है। इसी अभिप्राय को लक्ष्यगत कर वैदिक ऋषि ने परामर्श दिया था

स यो विज्ञान ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वैस लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति।[३]

---

१ ऋग्वेद ६/११११/१३

२ यजुर्वेद ४ /१४

३ छान्दोग्योपनिषद्, / /२

का यही सत्स्वरूप बुद्धिजीवी वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट कर सकेगा तब प्रगतिशील समाज के विचारों से अनुप्राणित परम्परा एक ओर तो अपने निर्वाह के प्रति व्यक्ति को सचेत कर सकेगी दूसरी ओर परिपुष्ट परिपक्व हो कर राष्ट्र के अभ्युत्थान का पथ प्रशस्त करेगी।

भारत में विज्ञान के माध्यम से जीवनोपयोगी विषयों के चिन्तन तथा विकास की कथा नई नहीं सुदीर्घ है। प्राचीन आचार्यों व ऋषियों ने अपनी जिस विलक्षण मेधा से प्रकृति के अलौकिक तथ्यों का साक्षात् किया उसी विशिष्ट चाक्षुष् प्रतिभा के उपयोग से प्रकृति के लौकिक तथ्यों का सूक्ष्म विवेचन कर उन्हें मानव के लिए अनुकूल बनाया। परम सत्य के यथार्थ ज्ञान से साधित विज्ञान ऋषियों की दृष्टि में त्याज्य नहीं वह तो निष्कर्मता से कर्त्तव्य के मार्ग पर नियोजित करने का माध्यम है। श्रीमदभगवदगीता ने स्पष्ट कहा है **न च सन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति।**

शास्त्रानुमोदित व्यवस्था **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुणकर्मविभागश** के सम्यक् परिपालन हेतु कर्त्तव्यकर्मो का सम्पादन मानव का परम धर्म है। इस विचार से अनुप्राणित जीवन निर्बाध गति से मानव को ससार के पार ले जाता है। दूसरी ओर जागतिक पदार्थों का ज्ञान अनुसन्धान अविष्कार सुखमय जीवनयापन का सर्वोत्तम साधन बनता है। भारत ज्ञान और चिन्तन के क्षेत्र में सदा से अग्रणी रहा है। विज्ञान विशिष्ट ज्ञानम् इति विज्ञानम् श्री ज्ञान और चिन्तन से विकसित एक शाखा है। किसी वस्तु का तथ्यपरक पुनरीक्षित ज्ञान सत्यसिद्ध हो कर विज्ञान का रूप ले लेता है ऐसा सत्यज्ञान स्वत विज्ञान हो जाता है। भरत के ऋषि मुनियों ने साधकों तपस्वियों ने मानव सभ्यता को सुसस्कृत बनाने के लिए धर्म के आवरण के अन्तर्गत कछ शाश्वत नियम निर्धारित किये। विज्ञान की कसौटी पर परखे हुए इन नियमों के पालन की बाध्यता सुनिश्चित करने के लिए उनकी वैज्ञानिकता को स्वर्ग नरक पाप पुण्य की योग्यता से सम्बद्ध किया। सृष्टि के सर्वविध तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर सर्वज्ञ सिद्ध होने के लिए ऋषियों की दृष्टि में विज्ञान का अध्ययन अनिवार्य है। यथा विज्ञान द्वारा ही ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद आथर्वण आदि द्यु पृथिवी वायु आकाश आदि धर्म अधर्म सत्य अनृत आदि का ज्ञान होता है इसलिए हे नारद ! तू विज्ञान की उपासना कर।

विज्ञानेन वा ऋग्वेद विजानाति यजुर्वेद सामवेदमाथर्वण दिव च पृथिवीं च वायु चाकाश च धर्म चाधर्म च सत्य चा नृत च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति।[३]

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता ३/४

२ श्रीमद्भगवद्गीता ४/१३

३ छान्दोग्योपनिषद्, /७/१

भारतीय ऋषि वैज्ञानिकों ने विभिन्न पक्षीय जीवन को बहुविध दृष्टिकोणों से परखा था और इस निष्कर्ष पर पहुचे थे कि जीवन एक सतत प्रवाहित अविरल धारा है। इस अविरल धारा का अन्त प्रतीत तो होता है किन्तु वह अन्त भी अनादि नहीं इसका आरम्भ तो अन्त में ही निहित है अत जीवन के प्रति एकाडगी दृष्टिकोण अनुचित है। यदि जीवन की सार्थकता के लिए तप और साधना की तपती धूप अनिवार्य है तो हर्षऔर उल्लास की सुखद छाया भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। ऐसे ही अमरत्व की प्राप्ति हेतु वैदिक ऋषि मानव मन को उत्प्रेरित मरता है हे देव ! मुझे उस स्थिति में अमरत्व प्रदान कीजिए जहा आनन्द आमोद प्रीति और प्रसन्नता उपलब्ध हों जहा जीवन के अभीष्ट लक्ष्य भी मुझे प्राप्त हों

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ता कामास्तत्र माममृत कृधि ।

वैदिक प्रवक्ताओं ने ज्ञान को द्विधा विभक्त किया परा और अपरा। परा अर्थात् अनादि अखण्ड सत्ता का साक्षात् कराने वाली विद्या और अपरा अर्थात् नश्वर जागतिक पदार्थों का ज्ञान कराने वाली विद्या

विद्या चाविद्या च यस्तदवेदोभय सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

अमृतत्व की प्राप्ति के लिए दोनों का ही ज्ञान अनिवार्य है। एक की उपलब्धि से दूसरे की जिज्ञासा सहज रूप से शान्त हो जाती है। परा अर्थात् ब्रह्म के दर्शन से ससार के सभी विभेदों का ज्ञान हो जाता है। सभी भेदों और प्रभेदों को जान लेने वाला जिज्ञासु जीवन के अन्तिम बिन्दु मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यथा मूल को जानने वाला वृक्ष की शाखाओं और पत्तों को स्वत जान लेता है तथा शाखाओं और पत्तों का विश्लेषण कर सकने वाला व्यक्ति मूल से अनभिज्ञ नहीं रह जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मरूपी मूल से आरम्भ करने से ज्ञान की सब शसखाओं में गति हो जाती है जगत् रूपी वृक्ष का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। यह सभी शाखाए प्रशाखाए मूल तत्त्व में उपशम हो जाती हैं। विवेकी मनुष्य इस तथ्य से भलीभाति अवगत है कि ज्ञान विशिष्टता से सम्पन्न हो कर विशिष्ट ज्ञान बन कर विज्ञान की श्रेणी में चला जाता है। इसी अभिप्राय को लक्ष्यगत कर वैदिक ऋषि ने परामर्श दिया था

स यो विज्ञान ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वैस लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति।[3]

---

१ ऋग्वेद ६/१११/१३

२ यजुर्वेद ४ /१४

३ छान्दोग्योपनिषद्, / /२

अर्थात् विज्ञान को ब्रह्म मान कर उपासना करने वाला व्यक्ति विज्ञान तथा ज्ञान दोनों लोकों की मानो सिद्धि प्राप्त कर लेता है परन्तु विज्ञान की जहा तक गति है वहीं तक मनुष्य निर्बाध गति प्राप्त करता है उससे आगे जाने का प्रयास करने पर उसकी गति कण्ठित हो जाती है सीमाए अवरुद्ध हो जाती हैं और विज्ञान के युगानुरूप पुनरीक्षण की आवश्यकता आ पडती है। सत्य के अनुसन्धान में प्रयासरत ऋषि वैज्ञानिक इस सत्य से परिचित थे कि दुराग्रही होने से सिद्धान्त की परीक्षा तथा परिष्कार असम्भव है अत तर्क और युक्ति से प्रमाणित तथ्य को ही स्वीकार करना चाहिए **युक्तियुक्त वचो ग्राह्य न तु पुरुषगौरवात्।**

भारत आज एक सडक्रान्ति काल से गुजर रहा है। प्राचीन परम्पराओं को नवीन सिद्धान्तों के आलोक में देखना उसका स्वभाव बन गया है। विज्ञान के साक्ष्यों से प्रमाणित भारतीय परम्पराए उसे गौरव की अनुभूति कराती हैं और विश्व में सर्वश्रेष्ठ होने का प्रमाणपत्र भी सुलभ कराती हैं। इस परिस्थिति में आज परम्परा के मूल वैज्ञानिक तत्त्व को तर्कसडगत रूप को जनसामान्य को हृदयडगम एक सीधी निश्चित प्रणाली नहीं वे वर्ण आश्रम देश काल परिस्थिति के अनुसार ढलती ढलती विविधस्वरूपा विकृत रूपा हो जाती है। भारत ज्ञान और चिन्तन के क्षेत्र में सदा से अग्रणी रहा है। विज्ञानविशिष्ट ज्ञानम् इति विज्ञानम भी ज्ञान और चिन्तन से विकसित एक शाखा है। किसी वस्तु का तथापरक पुनरीक्षित ज्ञान सत्यसिद्ध हो कर विज्ञान का रूप ले लेता है ऐसा सत्यज्ञान स्वत विज्ञान हो जाता है। भारत के ऋषि मुनियों ने साधकों तपस्वियों ने मानव सभ्यता को सुसस्कृत बनाने के लिए धर्म के आरवण के अन्तर्गत कुछ शाश्वत नियम निर्धारित किये। विज्ञान की कसौटी पर परखे हुए इन नियमों के पालन की आध्यता सुनिश्चित करने के लिए उनकी वैज्ञानिकता को स्वर्ग नरक पाप पुण्य की योग्यता से सम्बद्ध किया। परम्परा के इस इतिहास को बहुविध प्रकारों के वैज्ञानिक तथ्यों को सिद्ध करने के सर्वोत्तम निदर्शन हैं **भारतीय व्रत और पर्व।**

उत्सवप्रिया खलु मनुष्या मानव उत्सवप्रिय प्राणी है। जीवन की समान घटित दिनचर्या से चित्त में एकरसता आना स्वाभाविक है। एक रसता से मुक्ति हेतु सभ्यता के उष काल में ही प्रकृति के सहयोग से उसने कछ व्रतों और पर्वों की थी। बदलती ऋतुओं के पवित्र वातावरण में उपने उत्साह एव हर्ष को इन्हीं व्रतों और पर्वों के माध्यम से उसने अभिव्यक्ति दी थी। ग्रह नक्षत्र राशि की शुभ गणना में व्यक्ति परिवार समाज के समष्टि रूप के सस्कार का माध्यम खोज लिया था। काल तिथि पक्ष मास के विशिष्ट निर्धारण में कतिपय क्रियाविशेषों की अनिवार्यता के व्याज से ईशस्मरण तथा देवपूजा की आयोजना की थी।

---

१ भास्कराचार्य

२ अभिज्ञानशाकन्तलम् महाकवि कालिदास ६/४ के पश्चात

व्रतों व पर्वों के इस मडगल समारम्भ से सामान्य दिनचर्य्या का नीरसक्रमभडग तो हुआ ही यज्ञविधान हवि अर्पण आदि कृत्यविशेषों के सम्पादन से परमेश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन भी हुआ। उल्लासमूलक इन व्रत और पर्वों को सार्वजनीन बना कर मनुष्य ने पर्यावरण की रखा का दायित्व हसी खेल में सभाल लिया। पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले विघातक जीवों का विनाश उसने इसी दायित्व के अन्तर्गत किया।

भारतीय ज्योतिष गणनानुसार उदघोषित व्रतों और पर्वों के तत्त्वावधान में मानव वैज्ञानिकता के आवरण में निहित सत्य तथ्य से एक निश्चित कालावधि के लिए प्रकृति विरोधी शक्तियों पर विजय प्राप्त रने का साहस सञ्चित कर लेता है। वैज्ञानिकता की पृष्ठभूमि पर आधारित ये सदतथ्य अनजाने में ही मानवशरीर के लिए अपेक्षित तत्त्वों का आधान कर देते हैं। आन्तरिक सदवृत्तियों को ऊर्जा सै पूरित कर स्वार्थत्याग की शिक्षा देकर ये सद्तथ्य मनुष्य में सामूहिकता और सहयोग की भावना को विकसित करते हैं। वैज्ञानिकता के निकष पर कसे गए ये सदतथ्य व्रतों तथा पर्वो के माध्यम से अडगों में स्फुर्ति कर मन को ऊष्मा से अनुप्राणित कर व्यक्ति को भावी जीवन में सफल होने की कुशलता दे देते हैं। इन्हीं सोपान फलकों को क्रमश पार करता हुआ व्यक्ति सुख और साधना दोनों को साथ लेता है।

महर्षि मनु के अनुसार **व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सड्कल्पजा स्मृता** व्रत नियम धर्म आदि सड्कल्प पर निर्भर करते हैं। ऋषियों के विचार में प्रथम पदार्थ के स्वरूप का निरूपण करना और फिर यह पदार्थ इस क्रिया को साधेगा यह ज्ञान होना ही सडकल्प कहा जाता है। सडल्प मन का व्यापार है यह कामना का मूल है। सडकल्प से ही क्रियाविशेष में प्रवृत्ति होती है। श्रुति में भी कहा है मनुष्य मन से कड्कल्प करता है वाणी से उसे कहता है और फिर कर्म से सम्पन्न करता है **मनसा सड्कल्पयति वाचा विलपति कर्मणा चोपपादयतीति श्रुते** ।

सडकल्प के धारण करने से मानव का मन सुदृढ होता है अन्त करण शुद्ध होता है और मनोबल उच्च होता है। कठिनतम परिस्थितियों में भी व्यक्ति आत्मविश्वास से परिपूर्ण रहता है। आस्था और विश्वास उसके सड्कल्पको सम्बल देते हैं तथा स्वान्त सुखाय की मनोवृत्ति को समाप्त कर बहुजन हिताय के लिए प्रेरित करते है। व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्त्यिो विचारों तथा स्वभाव में यह परिवर्तन सडकल्प के सम्यक् परिपालन से ही सिद्ध होता है। सडकल्प के प्रति निष्ठा के द्वारा नचिकेता ने यम से आत्मज्ञान प्राप्त किया था सावित्री अपने पति सत्यवान् को यम के मुख से निकाल लाई थी।

व्रत सडकल्पपूर्ण निष्ठा से कर्म के सम्पादन का नाम ही व्रत है। वृञ् वरणे धातु से निष्पन्न व्रत शब्द का अर्थ है मन का कठोरतम निश्चय इसे मुझे आजीवन करना है ऐसी

१ श्रीमद्भगवद्गीता ३/११

२ मनुस्मृति २/३

निश्चयात्मिका वृत्ति और मन के अध्यवसाय से कार्य विशेष की पूर्णता के प्रति दृढ सङकल्प शक्ति ही व्रत है यथा स्नातक व्रत। शास्त्र के अनुसार

अतोऽन्यतमा वृत्त्या जीवस्तु स्नातको द्विज ।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्।।

अग्निपुराण में कहा गया है व्रत तपरूप हैं क्योंकि इनसे कर्त्ता को सन्ताप मिलता है **व्रत हि कर्तृसन्तापात्तप इत्यभिधीयते**। ये ऐसे कठोर बन्धनयुक्त सत्कर्म हैं जो अपने शुभफल से कर्त्ता को बाधे रहते हैं। व्रती की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र कर उसे मनोयोगपूर्वक तथा नियमबद्धतापूर्वक लक्ष्य की प्राप्त में लगाए रखते हैं। आ मशोधन की प्रक्रिया इसी से पूर्ण होती है

उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवने लब्धमुत्सुक ।
प्रतिजाने चरिष्यामि व्रतमात्मविशुद्धये।।

व्रत असयमित जीवन को सन्तुलित और त्रुटियों को परिमार्जित कर मनुष्य को नियमबद्ध सदाचरण का अभ्यास कराते हैं। इस सम्यक आचरण से व्यक्ति की रक्षा तो होती ही है समाज की उन्नति का द्वार भी उद्घाटित हो जाता है। महाभारत ने कहा भी है **आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्**। पूर्ण को प्राप्त करने की अभिलाषा मनुष्य की महती इच्छा है। पूर्ण की ओर उन्मुखता का प्रथम सोपान व्रताचरण ही है। क्रमिक रूप से छोटे छोटे व्रतों को केन्द्र में रख कर आचरण करने वाला मनुष्य महाव्रत को अपेक्षाकृत सरलता से प्राप्त करता है तभी तो महर्षि वेदव्यास की मान्यता है मनुष्य के लिए तीन ही उत्तम व्रत हैं किसी से द्रोह न करे दान दे दूसरों से सत्य बोले

त्रीण्येव पदान्याहु पुरुषस्योत्तम व्रतम्।
न द्रुहयेच्चैव दद्याच्च सत्य चैव पर वदेत्।।[१]

व्रतों का पुन पुन धारण असमाहित चित्त और अशान्त इन्द्रियों को एकाग्रता और निष्क्रियता प्रदान कर चञ्चल मनोवृत्ति को अन्तर्मुखी करने का उत्तम साधन है। मानव की सङकल्प शक्ति का विकास प्रयत्न में दृढता आदर्शों के प्रति कठोरता फलत लक्ष्य में सफलता आदि व्रत के तात्कालिक लाभ तो हैं ही जन्म जन्मान्तर में उन्नत जीवन को सासारिकता से असासारिकता की ओर मोड देने वाले अनुपम अलौकिक तथ्य भी व्रत के ही परिणाम हैं जिनकी उपलब्धि अन्य किसी उपाय से सम्भव नहीं

---

१ मनुस्मृति /१३
२ अग्निपुराण १ ५/३
महाभारत [illegible]

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणया श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।।

व्रत दैहिक दैविक और भौतिक ताप का निवारण करके शरीर मन और बुद्धि का त्रिविध कल्याण करते हैं यथा आधिभौतिक लाभ के अन्तर्गत अनाहारी मनुष्य काम क्रोध लोभ आदि दुर्गुणों का परित्याग करके नाना व्याधियों से मुक्त हो जाता है उद्दाम प्रवृत्तिया उपरम हो जाती है और चित्त परम सत्य की ओर प्रवृत्त हो जाता है। सकाम भाव से अनुष्ठित व्रत देवों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन द्वारा विविध दैवी सम्पदाओं को दुर्लभ विभूतियों को प्रदान कर आधिदैविक समृद्धि का कारण बनते हैं। निष्काम भाव से सम्पाद्य हो कर तप के प्रतिरप बन कर निष्पाप निर्मल अन्त करण में आत्मा को प्रतिच्छवित करते हैं। इस रप में आध्यात्मिकताका मूलमन्त्र सिद्ध होते हैं

व्रत प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से दो प्रकार के होते हैं द्रव्य विशेष पूजादि तथा षोडशोपचार द्वारा साध्यव्रत प्रवृत्तिमूलक और केवल इन्द्रिय सयम द्वारा साध्यव्रत निवृत्ति मूलक हैं। ये दोनों ही प्रकार के व्रत पुन लक्ष्यभेद से तीन प्रकार के होते हैं नित्य नैमित्तिक तथा काम्य। हरिशयनी महाएकादशी आदि व्रत जिनके न करने से प्रत्यवाय होता है नित्यव्रत माने जाते हैं। पापक्षय के निमित्त से अनुष्ठित चान्द्रायण आदि व्रत नैमित्तिक कहलाते हैं। किसी तिथि विशेष में इच्छाविशेष से अनुष्ठेय वट सावित्री आदि व्रत काम्य व्रत हैं।

पदमपुराण ने व्रत के अन्य प्रकार के भेद बताए हैं अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य आदि वे क्रियाकलाप जिनसे हरि प्रसन्न हों मानस व्रत कहलाते हैं। दिन में केवल एक बार भोजन ग्रहण करना सूर्यास्त के अनन्तर एक बेला में भोजन ग्रहण करना अयाचित अर्थात् बिना मागे मिले हुए भोजन को ग्रहण न करना आदि उपवास मनुष्यों के लिए कायिक व्रत कहे गए हैं। वेदाध्ययन विष्णु के नामों का बारम्बर सङ्कीर्तन सत्यभाषण अपैशुन्य अर्थात् पीठ पीछे निन्दा न करना आदि वाचिक व्रत कहे गऐ हैं। अन्यों के मति में कालानुसार व्रतों का विभाजन आरोपित तथा ऐच्छिक दो प्रकार का कहा गया है। व्रत एकदिवसीय एक पाक्षिक एक मासिक एक ऋतु सम्बन्धी एक उत्तरायण एक दक्षिणायन एक वार्षिक अनेकवार्षिक अथवा आजीवन सडकल्पित हो सकते हैं।

व्रत शब्द आज उपवास अर्थ में सडकुचित हो गया है। उपवास शब्द का अर्थ है दुर्गुणों एव दोषों से बचा कर आ मा अर्थात् सद्गुणों के साथ निवास। शाब्दिक रूप में उप का अर्थ है समीप तथा वास का अर्थ है रहना अर्थात् पवित्र हृदय से ईश्वर का सामीप्य

---

१ यजुर्वेद १६/३

२ धर्मचक्रप्रवर्तन एव लोकमानस का शिक्षण ३/४

३ पद्मपुराण ४/ / २ ४

अनुभव करना। निर्धारित दिन पूजा पाठ होम इत्यादि में व्यस्त रहने से भोजन क्रिया गौण हो जाती है। सयमित आहार विहार से पाप अथवा कलुषित विचारों से मुक्त चित्तवृत्तिया आत्मा अर्थात् सदगुणों की ओर स्वत ही प्रवृत्त होती हैं। व्रत में इस प्रकार के उपवास पुण्यदायी होते हैं

उपावृत्तस्तु दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणै सह।
उपवास स विज्ञेय सर्वदोषविवर्जित ।।

वस्तुत शरीर के निरन्तर कार्य करते रहने से शक्ति से शक्ति व ऊर्जा का ह्रास होता है ओर कोशाणु निरन्तर नष्ट होते रहते हैं। इसके अरिरिक्त शरीर की स्वत वृद्धि व मस्तिष्क के विकास का कार्य भी निरन्तर चलता रहता है। अन्न के प्रयोग से रहित शुद्ध सात्त्विक भोजन अथवा अन्नाहार पर नियन्त्रण पाचनतन्त्र को व्यवस्थित रखता है। शुद्ध सीमित आहार एक प्रकार से शरीर की आन्तरिक चिकित्सा सम्पन्न कर अडगविशेषों को पुष्टि प्रदान कर शरीरिक तथा मानसिक प्रफुल्लता देता है **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति ।**

व्यक्ति निराहार रह कर शतायुर्वै पुरुष की मान्यता को सिद्ध करने में सफल होता है। हम अतिभोजन अतिविश्राम और तद्व्यतिरिक्त औषधि आदि को दीर्घजीवन का रहस्य मान कर शरीर के साथ निरन्तर अन्याय करते हैं। ईश्वर ने अडगों के आन्तरिक कोशों को विलक्षण अनुकूलन क्षमता प्रदान की है। कोशों की इस प्रकृतिप्रदत्त सामर्थ्य का उपयोग भोजन का सर्वथा त्याग कर जठराग्नि को प्रदीप्त करने से ही सम्मभव है। भोजन से सञ्चित और अव्यवस्थित जीवन पद्धति से दूषित शारीरिक तन्त्र को पूर्ण स्वच्छता निराहार रह कर ही उपलब्ध हो सकती है। उदर में भोजनकणों के न रहने पर ही कार्यशील पाचनतन्त्र को विश्राम फलत स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। अत शरीर के सर्वाडगीण विकास के लिए व्रत अर्थात् उपवास अर्थात् नियन्त्रित दशाओं में निर्धारित रूप में निश्चित काल के लिए भोजन का त्याग समुचित है। महाकवि बाण भट्ट के अनुसार व्रत में स्नानरूप बाह्यशुद्धि यज्ञरूप आन्तरिक पवित्रता एव अनाहाररूप भौतिकता आदि आडम्बरों समावेश भी होना चाहिए

स्तनयुगमश्रुस्नात समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्ने ।
चरित विमुक्ताहार व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्।।

---

१ हिन्दुओं के व्रत पर्व और त्यौहार राम प्रताप त्रिपाठी पृ १

२ छान्दोग्योपनिषद् ६/२६/६

३ कामसूत्र २/१

कादम्बरी शुकवर्णनम्

अनुपमुक्तता की इस अवधि में शरीर में सन्तुलित रूप से खनिज शर्करा विटामिन प्रोटीन आदि तत्त्व रक्त व पित्त के माध्यम से प्राण तन्तुओं को सक्रिय कर शरीर की जीवनदायिनी शक्ति को बढाते हैं। उपवासकाल में मासपेशी इत्यादि कम महत्त्वपूर्ण अङगों के सञ्चित कोश से हृदय आदि अधिक महत्त्वशाली अवयवों को पर्याप्त पौष्टिकता की आपूर्ति होती रहती है। इस प्रक्रिया से अतिरिक्त चर्बी घट सकर मासपेशिया अधिक सक्रिय हो जाती हैं तब पोषक तत्त्वों का विषाक्त व विजातीय अवशिष्ट (मल मूत्र कफ स्वेद) बहि नि सृत होकर शरीर की शुद्धि हो जाती है। दूषित पदार्थों का पूर्णत निष्कासन निरोग्यता की दृष्टिसे जीवन की प्रथम और मौलिक अनिवार्यता है। स्वाभाविक है कि भेजन के अभाव में पाचनक्रिया पर न्यूनतम ऊर्जाव्यय और शेष प्रक्रियाओं पर अधिकतम ऊर्जाव्यय शरीर को स्वस्थ सुपुष्ट करता है।

पुण्यों के सञ्चय हेतु धार्मिक भावना से किया गया अथवा शारीरिक क्षमता के विकास और रोगनिदान को प्रधान मान कर किया गया उपवास एक दिवसीय हो अथवा अनेक दिवसीय कथञ्चित् हानिकर नहीं लाभदायक है दोनों ही रूपों में सार्थक है क्योंकि लक्ष्य तो अन्ततोगत्वा एक ही हैं-अङगीय क्षतिपूर्ति में तारतम्यता स्थापित कर चिरायुष्य प्रदान कर विषय वासनाओं से ऊपर उठा कर मानव को परम शान्ति की अनुभूति से समृद्ध करना

विषयाविनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा विनिवर्तते।।

कालान्तर में भारतीय सस्कृति में यज्ञ का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया। व्रतकाल में याग के स्थान पर इष्टदेवता की विधिपूर्वक उपासना-अर्चना की जाने लगी। धर्मशास्त्रों ने देवपूजा की विधि में षोडश उपचारों के क्रमपूर्ण अनुष्ठान को वरीयता दी है। वे अनुष्ठान हैं आवाहन आसन पाद्य अर्घ्य आचमनीयक स्नान वस्त्र यज्ञोपवीत अनुलेपन (गन्ध) पुष्प धूप दीप नैवेद्य ताम्बूल दक्षिणा प्रदक्षिणा

आसन स्वागत पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमनस्नानाभरणानि च। सुगन्ध सुमनोधूपदीपनैवेद्यवन्दनम्। प्रयोजयेर्चनायामुपचाराश्च षोडेश।

इन षोडश क्रियाओं के लिए विशेष बाध्यता नहीं प्रदर्शित की गई अत हृदय की विशेष भावना से सम्पादित पञ्च उपचार स्नान जलतत्त्व गन्ध वायुतत्त्व पुष्प आकाशतत्त्व दीप अग्नितत्त्व नैवेद्य पृथिवीतत्त्व भी पर्याप्त माने गए। यह भी कहा गया कि यदि कोई श्रद्धालु पञ्चोपचार न भी कर सके तो वह केवल दो चन्दन और पुष्प अर्पित कर के

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता २/५६

२ प्रपञ्चसार

इष्टदेव को प्रसन्न कर सकता है। यदि ये भी अप्राप्य हों तो मात्र श्रद्धा पर्याप्त है। व्रत धारण में जल से आचमन को विशेष महत्त्व दिया गया है। जल का स्वभाव है कि वह मलिनता का धो देता है और पवित्रता से योग कर देता है। यही कारण है कि जल को पवित्र और मेध्य शक्तियों को सम्पन्न कहा गया है। अज्ञानवश असत्यभाषण से अन्त करण मलीन होता है मन वाणी और कर्म दूषित होते हैं। दिव्य शक्तियों के स्मरणपूर्वक जल से मुखप्रक्षालन से मुख तो स्वच्छ होता ही है यज्ञ पूजा आदि सस्कारों का हृदय से दृढतापूर्वक योग भी होता है। मन वाणी और जल पदार्थ तीनों की समवेत शक्ति व्यक्ति के अभीष्ट व्यक्ति को सिद्धि कर सडकल्पपूर्णता में योगदान देती है।

व्रत की समाप्ति ब्राह्मण भोजन से होनी चाहिये। विद्या बुद्धि सम्पन्न ब्राह्मणों की तृप्ति अन्य वर्णों का दायित्व है। इसी के साथ दरिद्रों अन्धों एव निराश्रितों को भी उत्तम भोजन देना चाहिए। ऐसी मान्यता है कि ओषधिग्रहण से व्रतभडग नहीं होता है। व्रतकाल में सुगन्धित एव तामसी वस्तुओं के सेवन का निषेध है। सडकल्प ग्रहण के अनन्तर व्रत को खण्डित नहीं करना चाहिए इससे आत्मिक पतन होता है। व्रतकाल में सदाचरण का दृढतापूर्वक पालन करना अनिवार्य है ऐसा ही व्रत सफल होता है। अपनी कलपरम्परा रुचि तथा सुविधा के अनुसार व्रतों का निर्धारण करके उनके यथासम्भव अनुष्ठान मानव के अभ्युत्थान का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

पर्व भारतीय सस्कृति भारत की आध्यात्मिकता की प्रतिरूप है। वस्तुत यह लोकहितकारी मानवीय विश्वजनीन सस्कृति है जो समष्टिरूप दर्शन के माध्यम से व्यक्ति और उसके द्वारा समाज को कर्तव्यपरायण एव धर्मनिष्ठ बनाती है। इसीलिए भारतीय सस्कृति में ऐसे अपूर्व तत्वों का समावेश किया गया है जो मनुष्य की भौतिक उन्नति के साथ ही मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी उसके उत्थान में सहायक होते हैं। हिन्दू समाज में सत्र में किञ्चित् अन्तराल से विभिन्न नामरूपों से आकलित पर्वों की पृष्ठभूमि में यही मनोवैज्ञानिक तथ्य निहित है।

पृ धातु से वनिप् प्रत्यय लगाकर निष्पन्नपर्व शब्द ग्रन्थि का सूचक है किन्तु आज यह उत्सव अर्थ में रूढ हो गया। धरणीकोश के अनुसार पर्व पद का अभिप्राय है **पर्व स्यादुत्सवे ग्रन्थौ प्रस्तावे विषुवादिषु दर्शप्रतिपदौ सन्धौ स्यात्तिथे पञ्चकान्तरे** अर्थात् जैसे ईख अथवा बास की गाठ कुछ समान अन्तर पर निश्चित रूप से रहती है उसी प्रकार भारतीय काल गणना अथवा ज्योतिष शास्त्र के आकलन के आधार पर जीवन में भी किञ्चित् अन्तराल से पर्वों अथवा उत्सवों के आयोजन की व्यवस्था की गई है। ईख के रस

---

१ वर्षक्रियाकौमुदी
२ हेमाद्रि व्रत १/ ३

को ईख की गाठ सुरक्षित रखती है और बास की दृढता को उसकी गाठ सुदृढ करती है। कालान्तर पर निर्धारित काल की ये ग्रन्थिया भी उसी प्रकार समाज को जीवन्त रखती हैं।

पर्व पूरणे अर्थ में निष्पन्न पर्वति पूरयति जनानानन्देनेति पर्व शब्द समारोहपूर्वक धार्मिक अनुष्ठान के आयोजन हेतु भी प्रसिद्ध है। शुभ तिथियों में आमोद प्रमोद के वातावरण में यदा कदा आयोजित इन पर्वों के लिए प्रचलित तिथिवार अथवा त्यौहार शब्द भी इसी अर्थ में अभिप्रेत है।

आर्यजाति द्वारा स्वीकृत पर्वों गम्भीर दृष्टि से पर्यालोचना करने पर ज्ञात होता है कि पर्व यौगिक और रूढ अर्थगर्भित यज्ञ अध्ययन दान सस्था के विशिष्ट समारोह हैं जिनमें हृदयोल्लास प्रदर्शन की स्वाभाविक मानुषी प्रवृत्ति के साथ साथ माङगलिकता का भी प्राधान्य है। ऋतुपरिवर्तन के अवसर पर कृषि से प्राप्त समृद्धि और निश्चिन्तता भी पर्वोत्सवों के आयोजन का प्रमुख कारण है।

इतिहास साक्षी हैं कि अपने पूर्वपुरुषों के चरित्रों पर अभिमान करने वाली जातियों ने ही उन्नति की है। मानव स्वभाव से ही अनुकरण प्रिय प्राणी है। किसी को शुभ कार्य में मिली प्रशसा को देख सुनकर उसे भी यथावत् करने की प्रेरणा मिलती है। किसी परिचित के द्वारा प्राप्त ऐसी ख्याति बनाये रखने की विवशता और दायित्व उसे भी सन्मार्गगामी बनाते हैं। व्यक्तियों से ही समाज ढलता है और समाज से राष्ट्र की अवधारणा अस्तित्व में आती है अतएव सभ्यजातिया अपने महापुरुषों के शिक्षाप्रद जीवन की स्मृति कथाओं को सुरक्षित रखने के लिए उनके जन्मदिवसों महत्त्वपूर्ण कार्यदिवसों और निर्वाणदिवसों को जयन्ती के रूप में मनाती हैं। धीरे धीरे ये जयन्तिया सामाजिक अथवा जातीय पर्व के रप में परिवर्तित हो जाती हैं।

भारतवर्ष का यह सौभाग्य है कि यहा अनेक प्रात स्मरणीय पुरुषों ने सभ्यता के आदि से ही अपने यश की किरणें बिखेरी हैं। हम कृतज्ञतापूर्वक उन महापुरुषों के जीवन के विशिष्ट दिवसों को सोल्लासित वातावरण में मनाकर उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित कर आगे आने वाली पीढी के लिए सत्शिक्षा और सत्प्रेरणा की शुभ्रज्योति प्रदीप्त करते हैं।

प्राचीन भारत के ऋषि मुनियों ने आचार्य वैज्ञानिकों ने मोक्षरूप अन्तिम पुरुषार्थ की प्राप्ति प्रयास के साथ ही सामाजिक प्रगति और वैयक्तिक सुख शान्ति की आचार सहिता को भी समान समता से ही प्रचारित किया था। विश्ववन्द्य भारत की श्रेष्ठता के स्थायित्व का यही रहस्य था। विवेक वैराग्य प्रधान दार्शनिकों ने श्रेय और प्रेय को यथाचित रूप में अनासक्त भाव से स्वीकारने का आदेश दिया था। कर्मप्रधान जीवन की आडी तिरछी रेखाओं के मध्य व्यक्ति श्रेष्ठता की ओर अग्रसर हो मोक्ष की उपलब्धि की अभिलाषापूर्ति का प्रयत्न कर सके इस हेतु श्रेय के रूप में व्रत की तथा प्रेय के रूप में पर्व की कल्पना करके मनुष्य को उनका सरल रूप भी सुझा दिया था। उन्होंने वैयक्तिक उन्नति के लिए

व्रत का विधान किया था तो समाजिक कल्याण के लिए सामुदायिकता के प्रतिरप पर्वों को मान्यता दी थी। ोमान्य तिलक ने महाराष्ट्र में गणेशोत्सव आरम्भ कर सामुदायिकता और स्नेह बन्धन का ऐस ही सुन्दर युगानुरपी उपमान उपस्थित किया है।

नवनिर्माण की आशा से परिपाटियों को युगधर्म के अनुरप सवार कर उस परिपाटी को जीवित रख कर विरासत के रप में अगी पीढी को सौंपने का कार्यभार निष्ठापूर्वक निभा रहे हैं। इस निष्ठा के कारण ही अनेक हृदयवेधी परिवर्तनों के मध्य भारतीय सस्कृति की अखण्डता अजस्रता आकर्षण सरक्षित है। परिमार्जन के पश्चात् भी उसका स्वरूप अव्याहत अक्षुण्ण अनुपम है अत अद्वितीय भारतीय सस्कृति और उसके विलक्षण तत्व गौरवेय हैं। ससार की सभ्य जातियों के मध्य हिन्दू जाति का मस्तक सतोगुणी पावनता के कारण गर्व से उन्नत है। विश्व के आध्यात्मिक नेतृत्व की क्षमता से भारतीय सस्कृति पुन सम्पृक्त हो ईश्वर भारत के जन जन के इस सङ्कल्प को निरन्तर प्राणवान् करे ऐसी प्रार्थना है।

भारत की सामाजिक सुदृढता का प्रमुख आधार है वर्ण व्यवस्था। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र के शीर्षकों में विभक्त वर्ण जन्म और कर्म पर आधारित है और अनादि काल से प्रवृत्त होकर समाज को बिखेरने से बचाती है। बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म अकेला था इस एकाकीपन को दूर करने के लिए क्षत्र क्षात्रधर्म को रचा पुन आवश्यकता पडने पर उसने विश् वैश्य धर्म को रचा फिर भी काम न चला तो पूषन् अर्थात् पालन करने वाले शौद्र धर्म को रचा काम फिर भी न चला तो उसने श्रेयोरूप धर्म को रचा। इस प्रकार समाज में ब्रह्म क्षत्र विट शूद्र ये चार प्रक्रियाए अपने अपने धर्म को लेकर चल पडीं। वाक् ब्रह्मवीर्य है ब्रह्मवीर्य की प्रधानता रखने वाले ब्राह्मण का वाक् ही प्रमुख शस्त्र है–**वाग्वज्र विससर्ज ह**। अग्नि क्षत्रवीर्य है उसमें तीक्ष्णता बहुत रहती है। शान्त रहने वाला आप तत्त्व विड्वीर्य या वैश्यवीर्य है उसमें शम प्रधान है। सेवा भाव से ओत प्रोत पृथिवी शौद्रवीर्य सम्पन्ना है। इस प्रकार भारतीय वर्ण व्यवस्था का मूलाधार प्रारम्भ से ही नितान्त वैज्ञानिक है।

वर्णानुक्रम से चार पर्व निर्धारित किये गये हैं ब्राह्मण वर्ग के लिए उपाकर्म अथवा श्रावणी पर्व। क्षत्रियों के लिए विजयदशमी अथवा दशहरा पर्व। वैश्यों के लिए दीपावली पर्व तथा शूद्रों के लिए होलिका पर्व। क्रमश इन पर्वों की वैज्ञानिकता पर विचार प्रस्तुत है–

उपाकर्म उपाकर्म शुद्ध वैदिक उत्सव होने से प्रमुखत ब्राह्मणों का उत्सव है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में जिस प्रकार ग्रीष्मावकाश के अनन्तर विद्यालयों में अध्ययन सत्र

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद् १/४

२ श्रीमद्भागवत्पुराण स्कन्ध १

का आरम्भ होता है उसी प्रकार प्राचीनकाल में श्रावण शुक्ल पूर्णिमा वेदारम्भ सत्र की तिथि निर्धारित थी। पौष मास में (साढे चार माह के पश्चात्) वेदस्वाध्याय की समाप्ति पर उत्सर्जन उत्सव करते थे। पौष की अष्टमी के अनन्तर शुक्लपक्ष में वेद और कृष्णपक्ष में वेदाङग पढे जाते थे। वर्षा ऋतु का प्रारम्भ होने से वाणिज्य व्यापार अथवा अन्य कारणों से आवागमन असम्भव हो जाता था अत सभी वर्णों के लोग व्यवसाय से विरत होकर स्वाध्याय में भाग लेते थे। श्रावण मास में आरम्भ होने के कारण इसे श्रावणी पर्व तथा वेदाध्ययन के माध्यम से ऋषियों का पुण्य स्मरण कराने के कारण इसे ऋषि तर्पण पर्व भी कहते थे। उपाकर्म पर्व के दिन शरीर तथा अन्त करण की शुद्धि के लिए विभिन्न प्रकार की अपामार्ग (बूटियों) दूर्वा (दूर्बं) आदि से स्नान लाभकारी है। गोमय भस्म आदि शुद्ध पदार्थों के उपयोग का भी विधान है जिससे स्वस्थ शरीर और प्रसन्न चित्त से गुरु और शिष्य वेदों के अध्ययन तथा अध्यापन में निरत रहें। वर्षा से ग्रीष्म का आतप शान्त होने पर अध्ययन काल में दत्तचित्तता स्वाभाविक थी।

स्वाध्याय में भाग लेने वाले ब्राह्मणों को परिचय चिह्न अथवा सङकल्प चिह्न के रूप में रक्षासूत्र बाधा जाता रहा होगा जिसका प्रचलन आज रक्षाबन्धन के रूप में है। यह सूत्र आज गुरु शिष्य भ्राता भगिनी आदि के परस्पर सम्बन्ध और स्नेह की प्रगाढता का सूचक है। यह सूत्र स्वर्ण अक्षत दूब सरसों औषधियों आदि से युक्त एव अभिमन्त्रित होने से रक्षासूत्र कहलाता था। वर्षाऋतु में सूर्य के प्रकाश के अभाव में ये पदार्थ व्यक्ति की रोगों से रक्षा करते थे।

श्रावण शुक्ल पञ्चमी को नागपूजा का प्रचलन है। पृथिवी के छिद्रों में पानी भरने से बिलों में रहने वाले प्राणी सर्प इत्यादि बाहर आ जाते होंगे अत सर्पदश के भय से सर्पपूजा का नियम चला होगा।

विजयादशमी—आश्विन मास की दशमी तिथि विजयादशमी पर्व के रूप में प्रसिद्ध है। चातुर्मास्य में विजय यात्रा स्थगित रहती थी विजयेन्छ क्षत्रिय घर पर विश्राम करते थे। आश्विन मास की दशमी आते आते वर्षा ऋतु लगभग समाप्त हो चलती थी अत दिग्विजय यात्रा व्यापार तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए नगर से बाहर जाने को यह ऋतु अनुकूल थी तथा दिवस शुभ। प्रतिपदा से नवमी तक तैयारी कर प्रात विजयकाल में दशमी को प्रस्थान होता था। प्रस्थान के पूर्व सफलता की कामना से शक्तिपूजा का नियम था। प्रस्थान के प्रतीक रूप में आज भी विजयदशमी को नगर अथवा ग्राम से बाहर जाने की प्रथा प्रचलित है।

आश्विन और चैत्रमास की नवरात्रि ग्रीष्म और शीत दो प्रधान ऋतुओं के प्रारम्भ की सूचना देते हैं। ईश्वरीय शक्ति वातावरण में विशाल परिवर्तन लाती है अत हृदय में उस महाशक्ति के प्रति श्रद्धा स्वाभाविक रूप से घनीभूत हो जाती है। नवरात्र में शक्ति उपासना का यह महत् कारण है।

आश्विन और चैत्र मास कृषि प्रधान भारतवर्ष में तैयार फसल के रूप में सुख समृद्धि का सन्देश लेकरआते हैं। महा ाक्ष्मी मानों प्रत्यक्ष प्रगट हो जाती हैं। महालक्ष्मी के प्रति कृतज्ञ और स्वागत को उत्सुक सम्पूर्ण भारत शक्तिपूजा के माध्यम से उनके प्रति नतमस्तक हो उठता है और आश्विन और चैत्र मास के ावरात्र शक्तिपूजा के उत्साह से सम्पन्न हो पर्व बन जाते हैं।

पौराणिक काल में विजयादशमी के पर्व पर अपराजिता देवी का पूजन होने लगा था जो सम्भवत विजय की प्रतीक थी। विजयादशमी का पर्याय पायता इसी अपराजिता का विकृत रूप प्रतीत होता है। आगे चलकर इसी देवी ने अनुमानत शक्ति की प्रतीक बनकर दुर्गा का र प धारण कर लिया और दुर्गापूजा का प्रच ान अस्तित्व में आ गया।

आश्विन और चैत्र मास ऋतु परिवर्तन के कारण रोगों के प्रकोप और सङक्रमण के लिए भी प्रसिद्ध है। आयुर्वेद में इन मासों को यमद्रष्टा कहा गया है। इस प्राकृतिक आपदा से शरीर को सुरक्षित रखने के लिए भी महाशक्ति की उपासना की आवश्यकता स्वीकार की गई।

आश्विन मास में कालान्तर में ऋतु काल को सुखद तथा अनुकूल देखकर रामलीला का आयोजन होने लगा और रावणवध को विजयादशमी से जोड दिया गया। यद्यपि तथ्य यह है कि रावण वध राम ने चैत्रमास कृष्णपक्ष की अमावस्या तिथि को किया था अत विजयादशमी रावण वध व लङ्काविजय की तिथि नहीं है। ये दोनों ही आयोजन केवल सुविधा सौकर्य की दृष्टि से स्वतन्त्र विकसित परम्पराए हैं।

समाज के वर्ण विशेष से सम्बद्ध होते हुए भी ये पर्व सर्वसाधारण के सम्मिलित साझे के पर्व हैं। सभी वर्ण वर्ग के व्यक्ति आमोद प्रमोद के वातावरण में अपनी अपनी सामर्थ्यानुसार इन पर्वों को मनाते हैं।

आश्विन मास की दशमी अर्थात् विजयादशमी के दिन शमीवृक्ष की पूजा का विधान है। राम ने रावण युद्ध में विजय की कामना से इसी दिन शमीवृक्ष की पूजा की थी। पाण्डवों ने वनवास के लिए जाते समय इसी दिन शमीवृक्ष की पूजा करके इसमें अपने अस्त्र शस्त्र छिपा दिये थे। वस्तुत शमी वृक्ष अग्नि का प्रतीक है इसकी अरणियों को परस्पर रगडने से अग्नि प्रकट होती है। आग्नेयास्त्रों के निर्माण में इसी वृक्ष की लकडी का उपयोग होता था। सम्भव है राम लक्ष्मण तथा पाण्डवों के आयुध इसी वृक्ष की लकडी के बने हों अत ऐसी कथायें फैल गयीं। विजय की कामना से शमीवृक्ष की पूजा को मान्यता मिली होगी।

दीपावली—कार्तिक मास की अमावस्या का अन्धकार बारह अमावस्याओं में सघनतम होता है ऐसी सघन अन्धकारित रात्रि में कृषिप्रधान भारतवर्ष में नवीन श्रीवणी शस्य के स्वागत में दीपमाला का उत्सव मनाया जाता है। अन्न का भण्डारण होने से व्यापार की सभवनाऐं बढती हैं वैश्य वर्ग वाणिज्य में व्यस्त हो जाता है धन लक्ष्मी के आय व्यय का

विवरण बृहद हो जाता है अत दीपावली व्यापार वाणिज्य प्रधान वैश्यों का पर्व है। इस मास में तुला राशि का प्रभाव होने के कारण भी तुलाजीवी वैश्यवर्ग को इस पर्व से जोडा गया है।

कार्तिक मास का सूर्य ज्योतिष शास्त्र के अनुसार तुला राशि में स्थित होता है। तुला राशि का सूर्य निम्न भाव का अर्थात् अत्यल्प तेजवान् और विकृत प्रभाव वाला होता है। कार्तिक मास की अमावस्या को चन्द्र तेज का भी सर्वथा अभाव हो जाता है अत अवशिष्ट तृतीय तेज अग्नि ही एकमात्र आश्रय रहता है। धन लक्ष्मी के सम्मान में दीपमालाओं से प्रकाशोत्सव आयोजन का यह एक प्रमुख कारण है। दीपक श्रम का प्रतीक है तथा जलती लौ तपस्या का अमावस्या की अधेरी रात्रि में जलता दीपक प्रकाश का प्रतीक बनकर सूर्य का प्रतिरूप बनकर जन जन को कर्मण्यता और जागरुकता का प्राञ्जल सन्देश देता है।

कार्तिक मास की अमावस्या तक वर्षा ऋतु प्राय समाप्त होकर आकाश स्वच्छ हो जाता है किन्तु चातुर्मास्य में वर्षा कालीन कीडे मकोडे और रोग के कीटाणुओं का प्राबल्य रहता है। मेघाच्छन्न आकाश सूर्य तेज की अल्पता जल की बहुल और वातावरण की आर्द्रता आदि कारणों से कीटाणुओं का प्रभाव निरन्तर बढता ही है ऋतुज्वरों का प्राबल्य रहता है। इसप्रकार के सूर्य ताप से रहित स्थानों को खूब स्वच्छ करके अग्नि ज्योति से उनमें गर्मी पहुचाना भी दीपक जलाने का एक उद्देश्य है। वस्तुत दीपों का प्रकाश वर्षाकालीन आर्द्रता के सशोधन में तथा तेल की गन्ध कीटों के नाश में सहायक होती है।

कार्तिक मास की अमावस्या लडकाविजय के अनन्तर राम के अयोध्या प्रत्यागमन के लिए भी प्रसिद्ध है। अयोध्यावासियों ने राम को अपने मध्य पाकर तथा उनके विजय अभियान की सफलता से हर्षविभोर होकर राज्य को दीपमालाओं से सजाया था उसी का अनुकरण आज भी होता है। मेरे विचार में यह कथा भी नितान्त कल्पित है क्योंकि यह सर्वविदित है कि राम रावणवध के पश्चात शीघ्र ही अयोध्या लौट आए थे। चैत्र कृष्ण अमावस्या को वध करने पर कार्तिक मास से बहुत पूर्व ही राम का प्रत्यागमन हो चुका होगा अत यह तथ्य इतिहास सिद्ध नही है।

दीपावली श्रमसाध्य धन धान्य सम्पदा का पर्व है अनायास प्राप्त सम्पदा का नहीं तथापि इस पवित्र पर्व के विधानों में द्यूतक्रीडा का समावेश होना दुर्भाग्य का सूचक है नितान्त अवैज्ञानिक है। अक्षैर्मा दीव्य का उद्घोष करने वाली कल्याणी वाणी वेद का नितान्त अनादर है अत द्यूतक्रीडा का बहिष्कार ही समीचीन है।

होलिका–फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को स्नेह और हास्य के वातावरण में आयोजित होली का पर्व प्रमुखत शूद्रपर्व कहलाता है। आमोद प्रमोद और राग रग से परिपूर्ण मनोवृत्तियों के विकास के कारण ही आर्य पर्वावली में इसे शौद्र सम्बन्धी पर्व माना गया। फाल्गुन मास में सम्पूर्ण अग्रिम पर्व के लिए यथेष्ट अन्न ईश कृपा से हमें प्राप्त होता है। देवों की कृपा

से प्राप्त अन्न में से देवों को उनका भाग देना हमारा आवश्यक कर्तव्य है इसमें प्रमाद नहीं होना चाहिए **तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स ।**

नवान्न को यज्ञ में देवताओं को समर्पित करके ही प्रयोग करने का विधान है अत प्राचीन भारत में घर घर तथा समवेत रूप में ग्राममध्य में यज्ञों का इष्टियों का आयोजन किया जाता था गृह सदस्य एकत्र होकर नवान्न से आह्लाद से आह्लादित वातावरण में यज्ञों में नवान्न की आहुतिया देकर अग्निदेवता के माध्यम से (अग्निर्वै देवाना दूत) देवों को प्रसन्न करते थे। इसीलिये नवान्नेष्टि या नवान्नप्राशन भी इस पर्व के अन्य नाम हैं। अग्नि में भुने हुए अधपके शमीधान्य (फली वाले अन्न) को होलक कहते हैं **तृणाग्नि भ्रष्टार्द्धपक्वशमीधान्य होलक ।** होलक धान्य वात चर्बी कफ श्रम पित्त ज्वरादि दोषों का शमन करता है। हिन्दी का प्रचलित शब्द होला इसी का अपभ्रंश है। आज यज्ञों का प्रचलन तो समाप्त प्राय सा है उसका स्थान घरों में लाये गये उपलों लकडी इत्यादि से जलने वाली विशाल होली ने ले लिया हैं। होली की अग्नि में नवान्न मञ्जरिया भूनकर हम देवाहुति समर्पण का कार्य भी प्रतीक रूप में सम्पन्न कर लेते हैं यही कारण है कि यह पर्व होलिकोत्सव नाम से भी प्रसिद्ध है।

फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा तक शीतकाल का प्रभाव अल्प रह जाता है। शीतकाल का सञ्चित कफ ऋतु सन्धि में बसन्त की उष्णता पाकर पिघलने लगता है। कफ के प्राबल्य से चेचक मलेरिया ज्वर आदि के कीटाणु सर्वत्र प्रभाव जमा लेते हैं जो शरीर व स्वास्थ्य के लिए नितान्त हानिकारक होते हैं। अग्नि जलाकर उष्णता के द्वारा शीतप्रकृति वाले कीटाणुओं का नाश किया जाता है। घरों को स्वच्छ करना गोबर से लीपना शरीर में उत्साह से रक्तसञ्चार की गति को सतुलित करना उच्चस्वर से गाकर अवरुद्ध कण्ठ को निर्बाध करना मिष्ठान में गुड का प्रयोग करके शरीर को उष्णता के प्रभाव में रखना आदि विधिया भी कीटाणु विनाशक हैं। रगों से मिश्रित जल उष्णगुणकारी है रगों को शरीर से हटाने के लिए किया गया स्नान शीतकालीन अशुद्धि को दूर करता है। पतझर की पत्तियों को समेट कर होलिका दहन में डालने से उस धुए के सेवन से भी शरीरगत कफ उद्रिक्त होता है।

कारण यह कि उत्साहजनित हास और उच्च स्वर कफ का उद्रेक कर फेफडों को साफ करता है।

प्राचीन काल में भारत में इस अवसर पर मनोरञ्जन प्रधान नाटकों तथा हास्यरस प्रधान गीतों के आयोजन का प्रलचन है। साहित्य के श्रेष्ठ नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल का मञ्चन करते हुए महाकवि कालीदास ने इस ऋतु को सर्वाधिक उपयुक्त माना है–

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता

२ शब्दकल्पद्रुमकोश

सुभगसलिलावगाहा पाटलससर्ग सुरभि वनवाता ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसा परिणामरमणीया।।

बाल्यकाल में मा से सुनी हुई एक उक्ति याद है–हिन्दुओं के ३६५ वार (दिवस) और ३६६ त्यौहार। निबन्ध के सीमित कलेवर में सभी व्रत और पर्वों का विवेचन असम्भव है अत स्थालीपुलाक न्याय से प्रतिनिधिभूत व्रत और पर्वों की ही विवेचना यहा प्रस्तुत है। इस विवेचना की हृदयग्राहिता क लिए भी अपेक्षित है मन मस्तिष्क पर धार्मिक सस्कार की छाप तभी निशेष पर हमारी सम्पूर्ण श्रद्धा और उत्साह साकार हो सकेगा।

अस्तु, व्रत और पर्व भारतीय सस्कृति की अनुपम मणि मञ्जूषा हैं जो उसके अधिकारी हैं वे ही उस मञ्जूषा से मणिमालाओं का आहरण कर सकते हैं। उन मणिमालाओं से देश काल लोक कल्याणी मडगलवाणी प्रसृत हो दिग दिगन्त में व्यापे जैसे उनके दिन बहुरे वैसे सबके दिन बहुरें।

---

१ अभिज्ञानशाकुन्तल महाकवि कालिदास १/३

उपाकर्म विज्ञान

• डॉ आजाद मिश्र
उपाचार्य एव अध्यक्ष
व्याकरण विभाग केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ
विशालखण्ड ४ गोमती नगर लखनऊ।

शिक्षा सत्र के आरम्भ में अध्यापक और छात्र दोनों के द्वारा सामूहिक रप से अनुष्ठेय वैदिक कर्मकाण्ड को उपाकर्म या उपाकरण कहा जाता है। जिसका तात्पर्य यह है वेदाध्ययन को प्रारम्भ या स्वीकार करना। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३/५/१) पारस्कर गृह्यसूत्र (२/१) तथा वशिष्ठ धर्मसूत्र (१३/१) में इस अनुष्ठान को अध्यायोपाकर्म या अध्यायोपाकरण नाम भी दिया गया है। वहा गदाधर ने पारस्कर गृह्यसूत्र की व्याख्या में अध्याय का अर्थ वेद किया है अधीयते इति अध्यायो वेद तस्य उपाकर्म उपाकरणम् उपक्रम । उन्होंने इसमें मनुस्मृति को प्रमाणरूप में उद्धृत भी किया है। वहीं पर आचार्य कर्क जयराम एव हरिहर आदि ने वेदाध्ययन को अध्याय कहा है। यह कृत्य वर्षा ऋतु में वर्ष में एक दिन एक बार किया जाता है अत गौतम धर्मसूत्र (१६।१) आश्वलायन गृह्यसूत्र (३/५/१६) आदि ग्रन्थों में इसे वार्षिक कृत्य कहा गया है। इस प्रकार वेद की शिक्षा के सत्रारम्भ में आयोजित उत्सव किवा धार्मिक अनुष्ठान को उपाकर्म कहते हैं।

उपाकर्म से सम्बन्धित एक अन्य धार्मिक श्रौत अनुष्ठान है जो उपाकर्म से साढे पाच या छह मास बाद वर्ष में एक बार ही होता है उसे उत्सर्जन या उत्सर्ग कहते हैं। उसका तात्पर्य है वेदाध्ययन का समापन या विराम। इस कृत्य को भी वैदिक गुरुकल के अध्यापक और उनके छात्र मिलकर सामूहिक रप से सम्पादित करते थे। सभी गृह्यसूत्रों धर्मसूत्रों एव स्मृतियों में इन दोनों का वर्णन एकसाथ समान रूप से हुआ है। गुरुकुलों में पाच से छह मास तक निरन्तर वेदाध्ययन करके उत्सर्ग कर्म के द्वारा वेदाध्ययन का सत्रावसान कर दिया जाता था। उसके बाद पाच से छह मास तक व्याकरण कल्प निरुक्त ज्योतिष आदि वेदाडग का अध्ययन अध्यापन किया जाता था

श्रावण्या प्रौष्ठपद्या वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दास्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान्।।
अत ऊर्ध्वं तु छन्दासि शुक्लेषु नियत पठेत्।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेष सपठेत।। (मन ४/९५ ९८)

अधिकारी

उपाकर्म एव उत्सर्ग की उपर्युक्त परिभाषा में ही यह बात स्पष्ट हो गयी है कि वेद एव वेदाडग का अध्यापन करने वाला आचार्य ही इस कर्म का प्रमुख अधिकारी है और उसके छात्र भी उसके साथ इस कर्म का अनुष्ठान करते हैं। इस प्रकार आचार्य और उसके अन्तेवासी दोनों उपाकर्म के अधिकारी हुए। वे सम्मिलित रूप से नदी सरोवर आदि में स्नान करके आचार्य के साथ उनकी यज्ञशाा में आज्य और समिधाहोम करते थे तथा तदनन्तर लघु जलपान करके वेदाध्ययन का आरम्भ करते थे। पारस्कर गृह्यसूत्र की व्याख्या में सभी व्याख्याकारों का एक समान मत है कि यह आज्य और समिधा होम आचार्य की गृह्याग्नि में होता है अत अध्यापक यदि निरग्नि है अथवा साग्नि होने पर भी यदि अध्यापक नहीं है तो उसे उपाकर्म का अधिकार नहीं है

सा च समिदाहुति उपाकर्माणि आचार्यस्याग्नौ शिष्यकर्तृका भवति तेन आवसथ्याग्नौ उपाकर्म भवति इति गम्यते। अत अध्यापयतोऽपि निरग्ने साग्नेरपि अनध्यापयतो नाधिकार । (हरिहर)

किन्तु यह स्थिति प्रारम्भिक काल की थी। शिक्षा में जैसे जैसे विस्तार होने लगा उसमें समाज और राजतन्त्र का हस्तक्षेप होने लगा वह शिक्षा आचार्य के घर से उठकर गुरुकुल में और उससे भी बडे परिवेश में आ गयी। फिर वहा घर की अग्नि न होकर समूह समाज किवा लोक की अग्नि रहने लगी। गुरुकुलों की अपनी अपनी विशाल यज्ञशालायें बनीं। उस समय सभी आचार्य गण उनके छात्रगण एव समाज के लोग भी सामूहिक रूप से उपाकर्म का अनुष्ठान करने लगे। ऐसी स्थिति में कर्मकाण्ड का विस्तार होने लगा और सामूहिक हित चिन्तन के फलस्वरूप उपाकर्म के उद्देश्य में भी परिवर्धन एव परिवर्तन होने लगा। इसका सकेत पारस्कर गृह्य सूत्र के व्याख्याकारों ने किया है

यत्तु लोके ब्रह्मचारिण पुरस्कृत्य उपाकर्म प्रवर्तते लौकिकेऽप्यग्नौ तस्याचार विहाय मूल न दृश्यते। (हरिहर)

कालान्तर में उपाकर्म की ओर जनसामान्य का अधिक आकर्षण देखकर इसके कर्मकाण्ड में हेमाद्रि सकल्प लम्बा चौडा सूर्योपस्थान और ऋषिपूजन का प्रयोग और जुड गया। फलस्वरूप इसका उद्देश्य वेदाध्ययन गौण हो गया और उसका स्थान ले लिया प्रायश्चित्त तथा ऋषि पूजन ने। उस समय तक आचार्यों के घर से गृह्याग्नि का शनै शनै लोप होने लगा था। अब उपाकर्म श्रावणी कहलाने लगा तथा इसके अधिकारी हो गये द्विज सामान्य। इस स्थिति में गुरुकुल एव सस्कृत पाठशालायें ही उपाकर्म श्रावणी प्रयोग के

प्रमुख क्षेत्र रहे हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक स्थानों पर मी उत्साही जनों के सहयोग और आयोजन से कर्मकाण्डी पुरोहित उपाकर्म श्रावणी प्रयोग कराते रहे हैं।

काल एव तिथि

उपाकर्म श्रावणी प्रयोग के काल एव लिथि का निर्देश पारस्कर गृह्यसूत्र में इस प्रकार हुआ है

औषधीना प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावण्या पोर्णमास्या श्रावणस्य पञ्चमीं हस्तेन वा। (२/१ /२)

अर्थात जब ओषधिया उपज जाती हैं श्रावण मास में श्रवण नक्षत्र एव चन्द्र के मिलन के दिन पूर्णिमा को अथवा हस्त नक्षत्र से युक्त श्रावण शुक्ल पञ्चमी को उपाकर्म होना चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी ये ही दोनों विकल्प दिये गये हैं। गौतम (१६/१) एव वसिष्ठ धर्मसूत्र (१३/१) में श्रावण या भाद्रपद की पूर्णिमा ये दो विकल्प हैं। खादिर गृह्यसूत्र (३/२/१४ १५) एव गोभिल गृह्यसूत्र (३/३/१ १३) ने भाद्रपद की पूर्णिमा या भाद्रपद शुक्लपक्ष की पचमी तिथि बताई है। बौधायन के मत से (३/१२) श्रावण या आषाढ की पूर्णिमा को उपाकर्म करना चाहिए। मनुस्मृति (४/९५) में श्रावण या भाद्रपद की पूर्णिमा का उल्लेख हुआ है।

ऊपर के उद्धरणों से चार विकल्प प्राप्त होते हैं

१ श्रावण पूर्णिमा या पचमी।
२ श्रावण या भाद्रपद पूर्णिमा।
३ श्रावण या आषाढ पूर्णिमा।
४ भाद्रपद पूर्णिमा या पचमी।

अवधेय है कि इन विकल्पों को आचार्यों का परस्पर मतभेद नहीं मानना चाहिए क्योंकि सभी आचार्यों ने यजुर्वेदियों एव ऋग्वेदियों के लिए समान रूप से श्रावण की पूर्णिमा का विधान किया है तथा सामवेदियों के लिए भाद्रपद की पूर्णिमा का निर्देश दिया है। किन्तु उक्त पूर्णिमा के दूषित होने की स्थिति में वार्षिक कर्म का लोप न हो इसके लिए आचार्यों ने दूसरे विकल्प का भी विधान किया है। सावन की पूर्णिमा या पचमी तिथि किवा पूरे मास को दूषित करने वाले हैं ग्रहण सक्राति अधिमास व क्षयमास आदि। नर्मदा से उत्तर के सामवेदी सिहस्थ सूर्य में उपाकर्म करते हैं अत उनके लिए भाद्रपद की पूर्णिमा का विधान है। वह भी दूषित हो सकती है अत विकल्प का निर्देश है। नर्मदा से दक्षिण के सामवेदी कर्कस्थ सूर्य का ग्रहण करते हैं अत आषाढी पूर्णिमा का भी उल्लेख हुआ है। इस विषय पर स्मृति महार्णव मदनरत्न प्रयोग पारिजात इत्यादि सभी धार्मिक निबन्धों में प्रभूत एव अत्यन्त सूक्ष्म विचार मन्थन हुआ है। एवञ्च सावन की पूर्णिमा शुद्ध होने पर

उसी दिन पूर्वाह्न में ही उपाकर्म का अनुष्ठान किया जाता है इसीलिए इसे श्रावणी भी कहते हैं। इसके ठीक छह माह बाद माघ की पूर्णिमा को वेदाध्ययन का सत्रावसान उत्सर्ग प्रयोग किया जाता है।

विधि

उपाकर्म श्रावणी प्रयोग की विधि को मुख्यत तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है

१ जलाशय कृत्य।

२ वेदारम्भ कृत्य।

३ ऋषि पूजन कृत्य।

जलाशय कृत्य आचार्य उनके शिष्य एव अन्य श्रावणी कर्म के इच्छुक सभी जन स्नान सध्या वन्दनादि नित्य कर्म सम्पन्न करके एव अपामार्ग दूर्वा कुशा भस्म गोमय पचगव्यादि अपेक्षित सामग्री आवश्यक मात्रा में लेकर ऐसे जलाशय पर जाते हैं जहा कि सबका कई बार विधिवत् स्नान हो सके। वहा पर पवित्रीकरण पञ्चगव्य निर्माण एव पञ्चगव्य प्राशन के पश्चात् सब लोक एक साथ हेमाद्रि सकल्प तीर्थ प्रार्थना जलाभिमन्त्रण जलावर्तन मृत्तिका गोमय भस्म स्नान कुम्भ मुद्रा कुशा-अपामार्ग दूर्वा से मार्जन अघमर्षण तीर्थ प्रार्थना स्नानाङग तर्पण मध्याह्न सध्या प्राणायाम सूर्योपस्थान एव तर्पण करके यज्ञशाला में आ जाते हैं।

वेदारम्भ कृत्य

आचार्य मातृका पूजन एव नान्दी मुख श्राद्ध करके यज्ञशाला में शिष्यों के साथ वेदारम्भ के लिए आज्य होम करता है। पारस्कर गृह्यसूत्र की व्याख्या में गदाधर ने कहा है कि इस होम में आसादन के लिए अक्षत धाना गूलर की समिधा एव आकर्षफलक से तिल का होम होता है जबकि उत्सर्जन होम में तण्डुल का प्रयोग किया जाता है। शिष्यगण भी समिधा होम धाना प्राशन एव दधि भक्षण करते हैं। तदनन्तर गायत्री मन्त्र से वेदारम्भ होता है।

गृह्यसूत्रों में मन्त्रों देवताओं एव आहुति के पदार्थों के विषय में बहुत भेद है। सबको अपने अपने गृह्यसूत्र के अनुसार कर्म करना चाहिए। उपाकर्म श्रावणी प्रयोग की पद्धतियों को मैंने देखा उसमें बहुत से पद्धतिकारों ने अपनी पद्धति में वेदारम्भ के कृत्य का उल्लेख ही नहीं किया है। इसमें कारण है इस कर्म का समाजीकरण या सामान्यीकरण। पुरोहित यजमान या यजमान सकुल के अनुसार ही कर्म कराता है। वेदारम्भ तो केवल आचार्य और उसके छात्रों से सबधित कर्म है। अत जन सामान्य के लिए बनायी गयी

कर्मकाण्ड पद्धतियों में उसे स्थान न देना कोई आश्चर्य नहीं है। पर हा इन पद्धतिकारों ने वेदारम्भ में पढे जाने वाले मन्त्रों को ऋषि पूजन में रखा गया है और वहा पर इन मन्त्रों का पाठ किया जाता है।

ऋषि पूजन कृत्य

उपाकर्म पद्धति पुस्तकों में आधुनिक पद्धतिकारों ने ऋषि पूजन की विधि को बडे विस्तार से लिखा है। इसमें स्वस्तिपाठ सकल्प प्रार्थना मन्त्र दीप पूजन गणपति कलश नवग्रह मातृका एव शालिग्राम पूजन के पश्चात् सप्तर्षि पूजन पितरों को यज्ञोपवीत दान यज्ञोपवीत ग्रन्थि देवताओं का आवाहन पूजन पूर्वक उसका स्वय धारण उत्सर्ग का अङगभूत तर्पण ऋषि वश का वाचन एव वेदाध्ययन क्रम में चारों वेदों के कुछ मत्रों शत कण्डिका प्रपाठक और शतस्थान मन्त्रों का पाठ तथा अन्त में ऋषि श्राद्ध आरती व विसर्जन करके यजमान को रक्षाबन्धन बाधने का क्रम रहता है। इस प्रकार इस पद्धति में उपाकर्म श्रावणी के साथ साथ उत्सर्जन या उत्सर्ग का कृत्य भी समाहित रहता है।

हेमाद्रि सकल्प विज्ञान

प्रत्येक धर्मानुष्ठान के आरम्भ में सकल्प परमावश्यक है यह सर्वमान्य सिद्धान्त है

सकल्पमूल कामो वै यज्ञा सकल्पसम्भवा ।
व्रता नियमधर्माश्च सर्वे सकल्पजा स्मृता ।। (मनु २/३)

समस्त कामनायें सकल्पमूलक हैं। सब यज्ञ सकल्प से ही सम्पन्न होते हैं। व्रत उपवास और सन्ध्या आदि सारे धर्मानुष्ठान सकल्प से ही जन्य हैं।

मानव जीवन पर भावनाओं का बहुत गहरा प्रभाव पडता है। सकल्प भी अनुष्ठेय कर्म की साधना के प्रति साधक की भावना का ही मूर्तरूप है जिसके अनुष्ठान से साधक अपने क्रियमाण कर्म के प्रति सर्वतोभावेन कटिबद्ध हो जाता है। आज के जडवादी जगत् में भी सभी देशों की राष्ट्रीय ससदों के पदाधिकारी पद ग्रहण करने से पूर्व किसी भी श्रद्धास्पद तत्त्व का नाम उच्चारण करते हुए शपथ लेते हैं। कहना न होगा कि प्रकारान्तर से यह शपथ भी सकल्प परम्परा का ही निर्वाह है।

सकल्प की सबसे बडी विशेषता है आर्य जाति के इतिहास की परम्परा की सुरक्षा। हेमाद्रि सकल्प इस विशेषता के साथ साथ दो अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषतायें भी रखता है (१) भौगोलिक वैराज्य का वर्णन और (२) शास्त्रीय निषेध का स्मारण।

(क) तमोगुण के प्राबल्य से मनुष्य की निषिद्धाचार में पाशविक प्रवृत्ति हुआ करती है। यह प्रवृत्ति घोर जडता होने पर ज्ञान में तथा कभी अज्ञान में भी होती है। ऐसी स्थिति

में हेमाद्रि सकल्प हमें पैशाची वृत्तियों से दूर रखने के लिए प्रतिवर्ष सावधान करता है और इस प्रकार प्रायश्चित करने का अवसर प्रदान करता है

पङक्तिभेदकरण भ्रूण हिसा पशुहिसा बालहिसा पिपीलिकादि जन्तु हिसा शौचत्याग स्नानत्याग सध्यात्याग गुरुद्रोह परद्रोह पितृद्रोह मातृद्रोह पापाना नि शेष परिहारार्थम् इत्यादि पापों से दूर रहने का सकल्प लेना मानवता को समादर देना है जिसकी जरूरत समाज को हर युग में रहती है।

(ख) हेमादि सकल्प में भूगोल का वर्णनकरते हुए अपने देश की जीवनवाहिनी पुण्यतोया नदियों का अनन्त रत्नों का अक्षय भण्डार समेटे हुए पर्वतों का नाना औषधियों के निदान अरण्यों तीर्थों एव नगरों का गौरवपूर्ण स्मरण कराया जाता है। इससे हमें मातृभूमि के आचल का विस्तार मालूम होता है एकता का प्रसार होता है और राष्ट्र प्रेम की भावना समेधित व समुदभासित होती है

गङ्गा गोदावरी क्षिप्रा यमुना सरस्वती नर्मदा तापी पयोष्णी चन्द्रभागा कावेरी मन्दाकिनी प्रवरा कृष्णा वेणी भीमरथी तुडगभद्रा मलापहा कृतमाला ताम्रपर्णी विशालाक्षी वञ्जुला चर्मण्वती वेत्रवती भोगवती विशोका कौशिकी गण्डकी वासिष्ठी प्रमदा विश्वामित्री फल्गुनी चित्रकाश्यपी सरयू सर्वपापहारिणी करतोया प्रणीता वज्रा वक्रगामिनी सुवर्णरेखा शोणा भवनाशिनी शीघ्रगा कुशावर्तिनी ब्रह्मानन्दा महितनया इति अनेक पुण्य नदीभिर्विलसिते

इत्यादि वाक्य में जैसे देश की प्राय सभी प्रमुख नदियों का वर्णन हुआ है उसी प्रकार सभी पर्वतों अरण्यों तीर्थो आदि का उल्लेख हुआ है। इससे विश्व में हमारी भौगोलिक एकता सिद्ध होती है और अनादि काल से प्रवर्तित सास्कृतिक अखण्डता व राष्ट्रीयता हमारी सन्तानों में भी प्रवाहित रहती है।

(ग) हेमादि सकल्प से जिस प्रकार भौगोलिक गौरव ज्ञान और आचार की शिक्षा प्राप्त होती है उसी प्रकार अपनी ऐतिहासिक परम्परा का भी बोध होता है। वैदिक काल से सकल्प का इसी प्रकार प्रयोग हो रहा है और उसमें प्रतिदिन हमारे जीवन की एक कडी और जुड जाती है। इस प्रकार हमारी जीवन शृखला बहुत लम्बी बन चुकी है। जब हम हाथ में जल लेकर यह कहते हैं

ॐ तत्सद् अद्य ब्रह्मणो ऽह्नि द्वितीये
परार्धे श्रीश्वेतवाहराकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे
अष्टाविशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे
अष्टपञ्चाशदुत्तरद्विसहस्रतमे वैक्रमाब्दे

इत्यादि इसका सीधा तात्पर्य हुआ कि हम अपनी उस चिरन्तन सत्ता का स्मरण करते हैं जिसका प्रादुर्भाव इस धरातल पर आज से एक अरब सत्तानवे करोड उन्तीस

लाख चौरानबे हजार सत्तावन वर्ष पूर्व हुआ था। यह आर्य जाति की ही विशेषता है कि वह इतने लम्बे समय से अपनी सास्कृतिक विशेषताओं के साथ जीवित है। इस विस्तृत धरातल पर इतने समय में सहस्रों जातिया उत्पन्न हुईं और विनष्ट हो गईं आज भी जो जीवित हैं उनकी सत्ता दो तीन हजार वर्ष से अधिक नहीं है। क्या ईसाई क्या मुसलमान पारसी यहूदी ग्रीक और रोमन सभी का प्रारम्भ तो अधिक से अधिक तीन हजार वर्ष पूर्व हुआ था। किन्तु हमें गौरव है कि हमारे पूर्वजों ने आज से करोडों वर्ष पूर्व सास्कृतिक जीवन की जिस परम्परा को प्रारम्भ किया वह आज भी अक्षुण्ण है। सन्ध्या वन्दनादि सभी धार्मिक कृत्यों में हाथ में जल के साथ सकल्प वाक्य को बोलकर हम उसी परम्परा के इतिहास को दोहराते हैं।

इसके अतिरिक्त सृष्टि को बने हुए कितने वर्ष हुए यह प्रश्न आज जबकि दुनिया के वैज्ञानिकों और विचारकों के लिए उलझी हुई पहेली बना हुआ है और वे इसके बारे में तरह तरह की अटकल लगाकर माथापच्ची कर रहे हैं तब सन्ध्या वन्दन करने वाले एक साधारण सनातन हिन्दू के पास सकल्प के रूप में इन प्रश्न का नितान्त स्पष्ट उत्तर और अभिलेख विद्यमान है यह एक गौरवपूर्ण आश्चर्य है।

श्रावणी स्नान विज्ञान

इस कर्म में पञ्चगव्य का प्राशन करके क्रमश मृत्तिका गोमय एव भस्म का शरीर में बारी बारी से अच्छी तरह अनुलेपन किया जाता है और पुन शुद्ध जल से स्नान किया जाता है। प्रत्येक अनुलेपन के बाद शुद्ध जल से स्नान होता है। इस प्रकार तीन अनुलेपन और शुद्ध जल से तीन स्नान करके क्रमश कुशा दूर्वा और अपामार्ग नामक औषधियों से अलग-अलग मन्त्रों का उच्चारण करते हुए शिर का मार्जन किया जाता है। इस प्रकार प्राशन अनुलेपन स्नान एव मार्जन को ही श्रावणी स्नान कहते हैं।

इस विशिष्ट स्नान में (१) गोमय (२) गोमूत्र (३) गोघृत (४) गो दुग्ध (५) गो दधि (६) शुद्ध मृत्तिका (७) शुद्ध गोमय (८) यज्ञ भस्म (६) कुशा (१) दूर्वा और (११) अपामार्ग इन वस्तुओं का प्रयोग होता है। आयुर्वेद शास्त्र में इन द्रव्यों और ओषधियों के गुण धर्म की व्याख्या अलग अलग अनेक पृष्ठों में हुई है तथा इन वस्तुओं का दैनिक जीवन में प्राय नित्य प्रयोग परम्परा से होता आ रहा है विशेषकर ग्रामीण अचलों में अधिकाश वस्तुओं का प्रयोग प्रचलित है। अत यह सर्वविदित है कि शरीर को नीरोग और स्वस्थ रखने का गुण इन प्रत्येक वस्तुओं में निहित है। फिर जब इन सबका विशेष अवसर पर एकसाथ प्रयोग हो तब तो शरीर का विशेष शोधन होना स्वत सिद्ध है। वर्षा ऋतु में जहा नये नये रोग एव रोगाणुओं का प्रकोप होता है वहा नयी नयी वनस्पतिया भी उगती हैं। उन ओषधियों से शरीर का शोधन करने पर रोग का प्रकोप नहीं

होता है। अतएव गृह्यसूत्रकारों ने कहा है ओषधीना प्रादुर्भवे । सावन में कई ओषधिया उग आती हैं अत श्रावणी स्नान शरीर शोधन का नितान्त समर्थ साधन है।

वैज्ञानिक भी अपने अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप यह स्वीकार करने लगे हैं कि गन्धगुणवती शुद्र मिट्टी और राख उन कीटाणुओं को भी नष्ट करने में सर्वथा समर्थ है जिनका फिनैल सोडा साबुन के प्रयोग से भी नाश नहीं होता। काच या चीनी मिट्टी के बर्तन पर ओठ के स्पर्शजनित थूक से हजारों कीटाणु उस पर जम जाते हैं जिनका समूल नाश मिट्टी या राख से ही होता है साबुन सोडा से नहीं। आजकल विदेशों में भी शुद्ध मिट्टी से होने वाली प्राकृतिक चिकित्सा बहुत लोकप्रिय हो रही है जिस पर अनेकों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। यह भी इतिहास प्रसिद्ध है कि भरतपुर में स्थित जाट राजाओं के किले पर तोप से निकले बारूद के गोले का असर नहीं होता था क्योंकि उसकी दीवारें गोबर से लीप लीपकर बहुत मोटी कर दी गयी थीं। अस्तु इन वस्तुओं के गुण धर्म का दिग्दर्शन एक छोटे लेख में इतना ही सम्भव है।

प्राणायाम विज्ञान

प्रत्येक धार्मिक कृत्य के आरम्भ में आचम्य प्राणानायम्य के अनुसार शरीर शोधन के लिए आचमन और प्राणायाम का विधान है अत उपाकर्म श्रावणी प्रयोग के मध्याह्न सन्ध्या में भी प्राणायाम किया जाता है। वस्तुत शरीर को स्वस्थ रखने में प्राणायाम की उपयोगिता का अनुभव करके ही ऋषियों ने इसको प्रत्येक कर्म का अग किवा दैनिक क्रिया का अग बना दिया और सन्ध्या के साथ इसका ऐसा सबन्ध जोड दिया कि ये दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची बन गये। अतएव मनु ने ऋषयो दीर्घ सन्ध्यत्वाद दीर्घम् आयु अवाप्नुय इस वाक्य में सन्ध्या शब्द का प्रयोग प्राणायाम अर्थ में ही किया है। देवी गीता में प्राणायाम की बडी सुन्दर परिभाषा इस प्रकार है

प्राणास्तु द्विविधा ज्ञेया स्थूलसूक्ष्मप्रभेदत ।
यथा जय स्यात्प्राणाना प्राणायाम स चोच्यते।।

स्थूल और सूक्ष्म भेद से प्राण दो प्रकार का होता है और जिस क्रिया द्वारा दोनों प्रकार के प्राणों पर विजय प्राप्त की जाय उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणों का व्यायाम प्राणायाम की प्रथम कक्षा कही जा सकती है और प्राण विजय अन्तिम। निरन्तर अभ्यास से प्राणशक्ति पर विजय प्राप्त कर मनुष्य ऐसी दशा में पहुच जाता है कि वह सारे ससार में व्याप्त प्राणशक्ति को जैसे चाहे प्रवाहित कर सके और उससे अपने मनोनुकूल कार्य करवा सके।

सभी प्राणायाम तीन विधियों में सम्पन्न होते हैं पूरक कुम्भक रेचक। पूरक का अर्थ है श्वास का आकर्षण कुम्भक श्वास वायु का धारण और रेचक का तात्पर्य है उस रुकी

हुई वायु का नि सारण। इ न तीनों क्रियाओं को विधिवत् करने के लिए पहले पाव की एडी को गुदा के समीप लगा लेना चाहिए। इससे गुदनलिका का आकुञ्चन होकर अपानवायु ऊर्ध्वगामी बन जायेगा और प्राणों के शोधन में बडी सरलता होगी। अब पहले चन्द्र स्वर अर्थात् नाक के बाये छिद्र (इडा) से धीरे धीरे वायु को ऊपर खींचना चाहिए। सामान्य दशा में सोलह मात्रा = लगभग आठ सेकेण्ड का समय इस क्रिया में लगावें

इडयाकर्षयेद् वायु बाह्य षोडशमात्रया।
धारयेत् पूरित योगी चतु षष्ट्या तु मात्रया।।
नाड्या पिङ्गलया चैवारेचयेद् योगवित्तम ।
द्वात्रिशन्मात्रया शनै ।। (देवी गीता)

इडा में सोलह मात्रा से खींची गयी वायु को चौसठ मात्रा = लगभग ३२ सेकेण्ड तक रोके रखें फिर नाक के दायें छिद्र पिगला से धीरे धीरे बत्तीस मात्रा = लगभग सोलह सेकेण्ड में निरुद्ध वायु को निकालें। प्राणायाम की यह सामान्य प्रक्रिया है। इसको करते समय मन को केन्द्रित करने के लिए अपने इष्टदेव का ध्यान करना चाहिये।

स्वस्थ जीवन में प्राणायाम की अलौकिक क्षमता के कारण ही विस्तार से इसकी विधि इसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद अनेक प्रकार एव उसके असीमित लाभ आदि विषयों को बताने के लिए इस पर अनेकों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। अत यहा प्राणायाम की चर्चा का प्रयोजन केवल यह बताना है कि हमारी धार्मिक क्रियायें केवल अन्धविश्वास पर नहीं अपितु वैज्ञानिक सोच पर आधारित हैं। यह बात अलग है कि हम उस वैज्ञानिकता का दर्शन कर पाते हैं या नहीं।

सूर्यार्घ्य और सूर्योपस्थान के लाभ

इस प्रसग में श्रुति और स्मृति कहती है

अथ स ध्याया यद् अप प्रयुडक्ते ता विप्रुषो वज्री भूत्वा असुरान् अपाघ्नन्ति। (षड्विंश ब्राह्मण ४/५) सध्या में जो जल का प्रयोग किया जाता है वे जलकण वज्र बनकर असुरों का विनाश करते हैं।

शरीर के अन्दर और बाहर वातावरण में व्याप्त हानिकारक जीवाणु या रोगाणु असुर हैं। सूर्य के सामने प्रदत्त अर्घ्य जल उनका विनाश करते हैं

एक वाहननाशाय द्वितीय शस्त्रनाशनात्।
असुराणा वधार्थाय तृतीयार्घ्यं विदुर्बुधा ।। (मदन पारिजात)

मध्याह्न एव साय सन्ध्या में एक एक बार तथा प्रात सध्या में तीन बार अर्घ्य दिया

जाता है। सूर्यार्घ्य देने के लिए साधक सूर्य के सामने खडे होकर अञ्जलि से या ताम्रपात्र से जब जल को नीचे भूमि पर गिराता है तो सूर्य की सीधी पडती हुई किरणों से अनुविद्ध वह जलराशि मस्तक से लेकर पाव पर्यन्त साधक के शरीर के समान सूत्र में गिरती हुई सूर्य किरणों से प्राप्त रगों के प्रभाव को ऊपर से नीचे तक सार शरीर में प्रवाहित कर देती है। सूर्योपस्थान में शरीर की सूर्य स्नान चिकित्सा हो जाती है जो आजकल अमेरिका आदि देशों में बहुत प्रचलित हो रही है जिसे अग्रेजी में सनबाथ नाम दिया गया है। भला कौन डाक्टर इनके गुणों से अपरिचित होगा। आन्त्रिक ज्वर (टायफाइड) आदि रोगों में यह रामबाण है।

रक्षाबन्धन

श्रावणी पूर्णिमा के दिन अपने पुरोहित से रक्षा ककण बधवाने का शास्त्रीय विधान है। पारस्कर गृह्यसूत्र की व्याख्या में गदाधर ने हेमाद्रि के वचन को इस प्रकार उद्धृत किया है–

ततोऽपराह्ण समये रक्षापोटलिका शुभाम्।
कारयेद् अक्षतै शस्तै सिद्धार्थैर्हेमभूषितै ।।

इस रक्षा ककण में स्वर्ण अक्षत सरसों दूब और सर्वौषधि की ग्रन्थिया होती हैं जिसे वेदज्ञ ब्राह्मण मन्त्रों से अभिमन्त्रित किये रहता है। अत यह आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक प्रभाव को उत्पन्न करता है तथा यजमान में यह भावना भर देता है कि मैं एक वर्ष के लिए अभिरक्षित हो गया हू।

भद्रा में रक्षाबन्धन नहीं होता है और पूर्णिमा को भद्रा रहती है अत दिन या रात जिस समय भद्रा न हो उस समय रक्षाबन्धन करना चाहिए

भद्राया द्वे न कर्तव्ये श्रावणी फाल्गुनी तथा।
श्रावणी नृपति हन्ति ग्राम दहति फाल्गुनी।।

रक्षाबन्धन का यह मन्त्र अत्यन्त प्राचीन है

येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबल ।
तेन त्वामपि बध्नामि रक्षे मा चल मा चल।।

यह रक्षाबन्धन पर्व भविष्य पुराण के उस उपाख्यान का प्रतिवर्ष स्मरण कराता है जिसके अनुसार इन्द्राणी शची ने अपने पति इन्द्र के हाथ में युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय रक्षा सूत्र बाधा था और इन्द्र ने निर्भय होकर युद्ध किया जिससे अन्त में शत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त की थी।

समय बीतता गया ससार में अनेकानेक परिवर्तन हुए जिनका प्रभाव इस त्योहार पर भी पडा। भारतवर्ष की पराधीनता के दिनों में जबकि हिन्दू जाति एव हिन्दू धर्म सकट की अवस्था में गुजर रहे थे रक्षाबधन ने हिन्दू जाति को एक नयी प्रेरणा दी एक नये मार्ग का सकेत दिया। वह राखी जो विगत काल में पति एव पत्नी के प्रेम का स्त्री की सौभाग्य रक्षा का प्रतीक थी वही भाई एव बहिन के पवित्र प्रेम बन्धन के रप में बदल गयी। इतिहास साक्षी है कि उस काल में राजपूत रमणी अपनी मान मर्यादा की रक्षा के लिए आवश्यकता पडने पर राजपूतों के पास इसी राखी को भेजकर सहायता की याचना किया करती थीं और वे वीर भी अपनी धर्मबहिनों की रक्षा में हसते हसते अपने प्राणों पर खेल जाया करते थे।

राखी का यह रप कितना निर्मल कितना उज्ज्वल और कितना पवित्र था कि जिसने देखा वही मुग्ध हो गया। सूत के इन दो कचे धागों में बधकर तत्कालीन शासक हुमायू का मानव हृदय उसके अन्तस् में बैठा हुआ भाईपन उस समय जाग गया उसने महाराणी करुणावती के मारवाड की रक्षा की थी। स्वदेशी आन्दोलन काल में सर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इसी पर्व के प्रभाव से बगाल में अपूर्व एकता और नवचेतना को जन्म दिया था। आज भी यह भाई बहनों का पवित्र बन्धन है जिसे प्रत्येक जन को बडे उत्साह से मनाना चाहिए।

सस्कृत दिवस

उपाकर्म श्रावणी पर्व की महत्ता तथा इस दिन की सास्कृतिक पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखकर ही भारत सरकार आज के दिन सस्कृत दिवस मनाती आ रही है। इस अवसर पर शासन एव उसकी सस्कृत सस्थायें सस्कृत के प्रचार प्रसार का व्रत लेती हैं जो सर्वथा समुचित तथा समीचीन है। वस्तुत सस्कृत ही वह सबल रक्षासूत्र है जो देश की एकता राष्ट्र की अखण्डता तथा सास्कृतिक समृद्धि की सतत सुरक्षा करने में एकमात्र व नितान्त समर्थ साधन है। अत उस दिन का हमारा आदर्श वाक्य रहता है जयतु सस्कृतम्।

विवाह-सस्कार

• आचार्य श्रीरामनारायण त्रिपाठी

विवाह उदवाह परिणय परिणयन उपयम उपयमन पाणिग्रहण आदि श॒ भिन्नार्थक होते हुए भी पर्यायवाचक हैं। (विशेषण विशिष्ट वा वहन विवाह वि वह् घञ्) इस निरुक्ति और व्युत्पत्ति के द्वारा निष्पन्न यह शब्द प्रसिद्ध षोडश सस्कारों में एक प्रसिद्ध और मुख्य सस्कार का वाचक है जो सभी देश जाति और धर्म में मान्य है। इसका अर्थ है विशिष्ट या विशेष रूप से सासारिक व्यवहार का वहन करना अर्थात् दूसरे की कन्या को आत्मीय बनाते हुए उसमें सस्कार का आधान करना।

यह सस्कार विद्या समाप्ति के अनन्तर स्नातक पितृ ऋण शोधनार्थ गार्हस्थ्य जीवन निर्वाहार्थ श्रौत स्मार्त विधि सम्पादनार्थ आत्म नियन्त्राणार्थ दारपरिग्रहण रूप में किया जाता है।

एव स्नातकता प्राप्तो द्वितीयाश्रमकाङ्क्षया।
प्रतीक्षेत विवाहार्थमनिन्द्यान्वयसभवाम्।।
अनन्यपूर्विकालघ्वीं विख्यातदशपूरुषाम्। व्या स्मृ २/१ ३

ससार में सभी को एक दूसरे साथी की आवश्यकता पडती है जिससे शेष की पूर्ति होती है तस्माद् एकाकी न रमते शत १४/८/२/४ नैसर्गिक कामप्रवृत्ति का साधन तथा भगवत्प्रवर्तित सृष्टि के सवर्धन में उपादान कारण एव सहायक यह कार्य है। विवाह सस्कार स्त्री और पुरुष दोनों के लिये ही नित्य सस्कार हे क्योंकि युक्तिया दोनों के लिए ही समान हैं जैसे अग्न्याधान अग्निहोत्र आदि नित्य अनुष्ठेय है और वह सहधर्मिणी से सयुक्त होकर सपाद्य है वैसे ही विवाह सस्कार भी दोनों प्राणियों का नित्य अनुष्ठेय सस्कार है। पितृ ऋण से आनृण्य हेतु यही मात्र उपाय है।

जायमानो ह ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो य पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी।

ब्रह्मचर्यावस्था अथवा ब्रह्मचर्याश्रम से दूसरे आश्रम में यदि व्यक्ति नहीं जाता है तो वह प्रायश्चित का भागी होता है। इसका कारण यह है कि वयस्क होने पर काम वेदना

---

१ नाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विज। आश्रमेण बिना तिष्ठन् प्रायश्चित्तीभवेद् द्विज।। दक्षस्मृ। अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।

रवत स्फूर्त हो जाती है जिसकी शाति स्त्री परिग्रह से ही हो सकती है अन्यथा काम परवश होकर प्राणी इधर उधर भटकता हुआ कल समाज से अनपेक्षित गर्त में गिरेगा और बराबर अशान्त रहेगा तथा अनुचित तथा अमर्यादित कार्य करता रहेगा।

विवाह सस्कार के पूर्व कृत्य

विवाह सस्कार के पूर्व आवश्यक कार्यों का विवरण यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

वर और कन्या के वैवाहिक सबध के विषय में दोनों की अवस्थाओं पर यहा विचार नहीं किया जायेगा क्योंकि देश काल और विवेक का प्रवाह ने आधुनिक युग में शास्त्रीय आज्ञा को तिरस्कृत कर दिया है और स्वेच्छाचारिता का स्थान विस्तृत हो रहा है अत युगानुरूप जो अवस्था स्वीकृत हो रही है तदनुसार सर्वप्रथम विवाह सबध के लिए वरेक्षण का कार्य उपस्थित होता है।

वरेक्षण

वरेक्षण बरेखी वर कन्या गुणपरीक्षा वर देखाई आदि शब्द का प्रयोग इस कृत्य के लिये किया जाता है।

विवाह योग्य कन्या का पिता या अभिभावक सर्वप्रथम सबधी सुहृद् पारिवारिक जन परिचित के द्वारा जानकर शुभ मूहूर्त में आत्मीय जनों के साथ वर देखने के निमित्त यात्रा करे। वहा वर वर के परिवार कुल चाल चलन सम्बन्ध रस्म रिवाज की भलीभाति जानकारी प्राप्त कर विवाह सबन्धी अन्य बातों की जानकारी भी करें और इसके अनन्तर अपने परिवार में तदर्थ परामर्श करना उचित है।

वरेक्षण में निम्न लिखित बातों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है वर का स्वरूप विद्या अवस्था शील चाल चलन दक्षता गुण बुद्धि स्वास्थ्य पारिवारिक स्थिति माता पिता गृह वित्त ऐश्वर्य कौलिक स्थिति मर्यादा आदि विचारणीय है।

कुल च शील च सनाथता च विद्या च वित्त च वपुर्वयश्च।
एतान् गुणान् सप्त विचिन्त्य देया कन्या बुधै शेषमचिन्तनीयम्।।
(स्मृतिचन्द्रिका पृ ७)

इसके अतिरिक्त कौलिक एव दैहिक रोग व्यसन गोत्र प्रवर सगोत्र सपिण्ड कुल और वित्त की समानता आदि भी विचारणीय और अपेक्षित है।

बुद्धिमते कन्या प्रयच्छेत आश्व १/५/२
बुद्धिशीललक्षणसम्पन्न श्रुतवानरोग इति आप १/३/२
[illegible]

रोगी व्यक्तियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध सर्वथा त्याज्य है अन्यथा आजीवन कष्ट और पश्चात्ताप झेलना पडता है। असस्कृत को भी कन्या नहीं देनी चाहिए।

उन्मत्त पतित कुष्ठी तथा षष्ठ स्वगोत्रज।
चक्षु श्रोतविहीनश्च तथापस्मारदूषित ।।
वरदोषा स्मृता ह्येते कन्यादोषाश्च कीर्तिता। स्मृति चन्द्रिका १ पृ ५६

वर के गुण दोष जानने के लिए मनु याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिया गृह्यसूत्र एव उनके भाष्यों को देखना भी आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त विवाह के पूर्व अर्थात् वाग् दान के पूर्व वर और कन्या का नक्षत्र मेलापक तथा ग्रहमेलापक दोनों का विचार विज्ञ ज्योतिर्विद से कराना अनिवार्य है। गणना एव ग्रह मेलापक बन जाने के बाद ही सबन्ध के विषय में चर्चा करनी चाहिए। यह विचार कथमपि उपेक्षणीय नही है। क्योंकि इसका फल प्रत्यक्षानुभूत है। मगल आदि पापग्रह पञ्चम सप्तम भाव नाडी आदि दोष का विचार तथा उसके परिहार आदि उपाय दाम्पत्य जीवन के लिये अत्यावश्यक है। इसी प्रकार सगोत्र और सपिण्ड विचार भी आवश्यक है।

कन्या गुण परीक्षण

जिस प्रकार कन्या के अभिभावक वर के गुणों के परीक्षण करने के अनन्तर विवाह निश्चित करते हैं उसी प्रकार वर के अभिभावक कन्या के गुणों को येन केन प्रकारेण परीक्षण कर विवाह की स्वीकृति दे। यही उचित और पारिवारिक जीवन के लिये यथेष्ट है। यह प्रथा प्राचीन काल से ही किसी न किसी रप में चली आ रही है। यह प्रथा ग्रामीण क्षेत्रों में कछ दिन पूर्व तथा अभिभावकों के निर्णय पर आश्रित थी किन्तु आजकल नगर व ग्राम दोनों क्षेत्रों में कन्या देखने की प्रथा है किन्तु वह एकाडगी और दोषपूर्ण मेरी दृष्टि से लगती। इस विषय में मैं विस्तार में जाना नहीं चाहता हू लेकिन यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि कतिपय क्षणों में कन्या को देखने से उसके स्वरप का ही ज्ञान हो सकता है गुण दोष शील स्वभाव का यथार्थ ज्ञान सभव नहीं है। दूसरी बात केवल स्वरूप ज्ञान मात्र से सम्बन्ध का निश्चय और अनिश्चय करना कन्या के लिए विशेष कष्ट कारक है। अत अन्य प्रकार से उसके विषय में जानकारी प्राप्त कर कन्या निरीक्षण करना समुचित और व्यावहारिक होगा।

कन्या और वर की जाति सम्पत्ति समान हो विषम नहीं होनी चाहिये। विशेष कर कुल सगोत्र सपिण्ड का विचार आवश्यक है जिससे साकर्य दोष की सभावना न हो। इसके अतिरिक्त कन्या बुद्धिमती विदुषी सुन्दर सच्चरित्र शुभ लक्षणा स्वस्थ नीरोग सर्वाडगपूर्ण मृदुभाषिणी और अविकृताडगी हो तथा हीनाडगी और अधिकाडगी (अगुलिया

अल्प या अधिक) न हो। लोमरहित (शरीर और मुख पर लोम राहित्य हो) सुशीला गुणवती वर की अवस्था से छोटी कार्यकुशल सेवापरायण आज्ञाकारी होनी चाहिये।

तस्मात् कन्याममिजनोपेता मातृपितृमतीं त्रिवर्णात् प्रभृतिन्यूनवयस
श्लाध्याचारो धनवतिकुले सम्बन्धिभिराकुले प्रसूता प्रभूतमातापितृपक्षा
रूपशीललक्ष ।सम्पन्नामन्यूनाधिकाविनष्टदन्तनखकेश।
क्षिस्तनीमरोगिप्रकृतिशरीरा तथा विधएव श्रुतवान् शीलयेत्।
कामसूत्र ३।१।२

शास्त्रकारों ने भ्रातृहीन कन्या के साथ विवाह का अधिकतर निषेध किया है। इसका गूढ रहस्य यह है कि उस कन्या के पुत्र कहीं मातामह के कल में जा सकते हैं और पुत्रिका पुत्र होकर वह सम्पत्ति पाकर स्वकल से रहित हो जाय और यह कुल साफ न हो जाय और श्राद्ध तर्पण से रहित न हो जाय। किन्तु कालगति बडी ही विपरीत है जो आजकल ऐसा सम्बन्ध प्रशस्त माना जा रहा है। कन्या के पक्ष में माता पिता भ्राता आदि की स्थिति का बहुत महत्त्व है। जिस पर स्वतन्त्र विचार हो सकता है।

कन्या के परीक्षण के विषय में अधिक विचार करने के लिये मनु याज्ञवल्क्य गौतम वशिष्ट आदि स्मृतियों तथा विभिन्न गृह्यसूत्रों और उनके भाष्यों के वचनों को अवश्य देखना चाहिए। उन सभी का विचार यहा करना कठिन एव असभव है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में कन्यापरीक्षण के लिए एक क्रिया बताई गई है। विस्तार के कारण उसे यहा नहीं दिया जा रहा है।

कन्या पक्ष के लिये भी गणना जन्माडग आदि का विचार आवश्यक है ये सभी विचार ब्राह्म आदि विवाहों के लिए ही आवश्यक है न कि गान्धर्व आदि अप्रशस्त विवाहों के लिए।

इस प्रकार उभय पक्ष ईक्षण गणना आदि से सन्तुष्ट होकर वागदान आदि क्रिया का निश्चय करे।

वाग्दान

वर निरीक्षण के अनन्तर शुभ मुहूर्त में स्वय अभिभावक स्वजनों के सहित वर गृह जाकर वचनों द्वारा विवाह सबन्ध को निश्चय करते हैं। इसे ब्राह्मणों द्वारा भी किया जाता है। इसे वाग्दान वाड निश्चय वररक्षा बरेखी बरक्षा छिकाई छेकैया छेकावन सगाई

१ अनन्यपूर्विका कान्तामसपिण्डा यवीयसीम्।
अरोगिणी भ्रातृमतीमसमानार्ष गोत्रजाम्।। याज्ञ स्मृ
२ अव्यङ्गाङ्गी सौम्यनाम्नीं हसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशना मृदुवङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्।। मनु

विवाह तय करना आ। । । ।।।। । स। । ।रा ।िवा॰ राब ा निश्चित हो जाता है। इसकी चर्चा शास्त्रों ें ।ा । ।

पहले वाग्।। । क ।।। । ।।।।।। । अ और यज्ञोपवी। म्॰।। वाक्यों के द्वारा वर के हाथ पर रख । या ।।।। । । । । ।।। ॰स। समयानसार विशेष आयोजन भी होता हे और विशिष्ट सा।।। । ।।।। ।।। त ॰।।।।र ।णेशादि देव पूजन भी होता है। अनन्तर मिष्ठान्न आदि ।।। ।।।।। ।।। का ।ागत भोजनादि व्यवस्था की जाती हे। इसी दिन तिलक विवा ।।।।।।।।। ।। ।। ।।।। है। यह ।िवाह का प्रारम्भिक प्रथम पाद माना जाता है।

तिलकोत्सव

वागुदान (।र ।।।) । ।।।त। ।।। ।ूत निश्चय कर विविध सामग्रियों के सहित कन्या का भ्राता स्व।।नों क सा। ।र । ।र ।।।र उन सामग्रियों से कन्या विवाह के निमित्त वर का पूजन पूर्वक व। । । ता े।

इस कार्य को ॰ीका ि।। ।।।कोत्सा वर वरण आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता हे। विवाह के निमित्त य ।क ।िशेप उत्सव माना जाता हे। शास्त्रीय विधान यह है कि वर वरण कन्या का भ्रा।। या ।।।।ण करें। अभाव में पारिवारिक या सबन्ध सबद्ध भ्राता भी लोक प्रचलन के अनुसार करता हे सर्वथा अभाव मे पिता भी एतदर्थ उपादेय होते हैं। यद्यपि एतदर्थ ब्राह्मण अधिकृत अवश्य हे किन्तु ॰सका प्रचलन कम है। सभव है कि पूर्वकाल में क्षत्रियों विशेषकर रा।ाओ के य। यह प्रथा रही हो किन्तु आजकल यह दृष्टिगोचर नहीं होता। कहीं कहीं य प्रथा आज भी विद्यमान है।

किसी वर्ग में या सविधानुसार या ।य ।रण वश विवाह के अवसर पर ही इस कार्य को सम्पादित कर ॰िया ॰ाता है।

वर वरण कार्य को ।ोग ब॰े धूमधाम और सभार के साथ करते हैं।

वर वरण की सामग्री ।स्त्र पात्र च॰॰। अभत दूर्वा हरदी नारियल पान फल सुपारी यज्ञोपवीत मिष्ठान्न आदि हैं। इसके अतिरिक्त ॰ाता के उत्साह और सम्पन्नता पर अन्य उपहार निर्भर करता है। आजकल इस उत्सव में अधिक सभार होता है।

१ मुहूर्त चिन्तामणि क ।।सार ।र व। । के ॰िये तीनो उ॰रा (उ फा उ षा उ भा) रोहिणी कृत्तिका तीनों पूर्वा (पू फा ।वा प भा) ॰क्षत्र गृहीत है। किन्तु सामयिक प्रथानुसार वैवाहिक नक्षत्रों को भी एत । । । किया जाता े क्योंकि वर वरण विवाह का एक ।ग है।

धरणि देवोऽथवाकन्यकासोदरोवरवृतिं वस्त्रय॰ोपवीतादि॰ा।
शुभदिनेगीतवाद्यादिभि सयतो ध्रुवयुतेऽग्निपूर्वात्रये संचरेत्।। मु चि

अन्यत्र उपवीत फ॰ पुष्प वासासि विवि॰ानि च।
देय वराय वरणे कन्याभ्राता द्विजेन च।।

यद्यपि सूत्र ग्रन्थों में यह चर्चित नहीं है तथापि यह परम्पराप्राप्त तथा समूलक है क्योंकि ज्योतिष् ग्रन्थों में इसका मूहूर्त तथा निबन्ध ग्रन्थ और पद्धतियों में इसकी विधिया विहित हैं। इससे स्पष्ट हैं कि यह केवल लोकाचार मात्र नहीं है अपितु समूल है।

यह सर्वविदित है कि यज्ञादि कर्मों दानादि क्रियाओं में जिसे अधिकृत किया जाता है उसका सर्वप्रथम वरण कर के ही देय वस्तु उन्हें दिया जाता है। यह जो असाधारण कर्म है इसमें प्रतिगृही अवश्य वरणीय है।

तिलकोत्सव के दूसरे दिन विदाई के अवसर पर लाजा के लिए वर पक्ष से थान दिया जाता है और दोनों पक्षों से परस्पर लग्नपत्रिका दी जाती है। यह कार्य सौविध्य हेतु ही किया जाता है।

लग्नस्थापन

लग्नस्थापन या लग्न धराई ऐसी क्रिया है जो उभय (वर और कन्या) पक्ष में होती है। विवाह के कुछ दिन पूर्व पारिवारिक सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा किया जाता है। तब से वर और कन्या को प्रतिदिन उबटन लगाया जाता है। कहीं आने जाने नहीं दिया जाता कूपावेक्षण नदी सरोवर स्नान वृक्षारोहण सीमोल्लघन आदि करना वर्जित कर दिया जाता है। प्राय उसे घर में रखा जाता है। इसका उद्देश्य दृष्टिदोष टोना टोटका भूत प्रेतादिबाधा अन्य भौतिक बाधाओं से रक्षा करना है। उबटन लगाने से सौन्दर्य की अभिवृद्धि त्वचा में मृदुता तथा अन्य रोगों की निवृत्ति होती है। इसके प्रतिदिन सान्ध्यगीत होता है जो मगल सूचक है।

सामग्री सभरण सज्जीकरण

विवाह कार्य के निमित्त सकुन उठने के लिए बाजार से सभी सामग्रिया लायी जाती हैं जिसमें चावल उरद की विशेष महत्ता होती है। उन सभी वस्तुओं को पारिवारिक स्त्रियों तथा परिजनों द्वारा शुद्ध किया जाता है इसलिये इसे चावल उरद छआई भी देहात में कहा जाता है। इस कृत्य को गीतों के साथ सम्पन्न किया जाता है। इसमें सौभाग्यवती विषम स्त्रिया ही सम्मिलित होती हैं। वन्ध्या गर्भिणी नहीं समवेत होती हैं।

उद्देश्य स्त्रिया प्रकृति स्वरूप हैं और प्रकृति त्रिगुणात्मक है अत स्त्रियों की सख्या भी विषम होनी चाहिये। सौभाग्यवती होना इसलिए आवश्यक है कि वह स्वय में मगलमयी हैं और उत्साह से कार्य करने वाली हैं। विधवा का निषेध इसलिए है कि उन्हें उस समय कहीं अपनी पूर्वदशा (विवाहादि) कास्मरण न हो जाय जिससे उनके मन में दु ख कणिका न जग जाय जो अमगलकारी हो। नवीन वस्तु का आनयन इसलिए आवश्यक है कि यह एक यज्ञकार्य है उसमें उच्छिष्ट/अवशिष्ट वस्तु का समावेश उचित नहीं है। घरेलु वस्तु में इसकी सभावना रहती है। यदि घर में साफ पाक वस्त है तो वह ग्राह्य है।

पितृ निमन्त्रण या पितर नेवता

यह कार्य भी स्त्रियों द्वारा सम्पन्न होता है इसमें सभी स्त्रिया सम्मिलित होती हैं। इसमें वृद्धा स्त्रियों का विशेष महत्त्व है क्योंकि वे कुल वश परम्परा से पूर्ण परिचित रहती हैं तथा कौलिक पुरुषों के नामों से भी क्रमानुसार परिचित रहती हैं इसलिये विधिपूर्वक नामोच्चारण के सहित भली भाति निमन्त्रण दे सकती हैं।

यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है इसमें स्त्रिया गीतों के रूप में कुल दिवगत पुरुषों का नाम पूर्वक सादर इस शुभ मागलिक कार्य में विधिवत् निमन्त्रण देती हैं। इस क्रिया में उनका निमन्त्रण स्मरण वन्दना आदि का अभिप्राय उनके प्रति आभार प्रकट करना है तथा वर्तमान और भविष्य शुभ के लिए आशीर्वाद की याचना है। गोत्रवृद्धि के मूल कारण पितर हैं गोत्र नो वर्धता दातारो नोऽभिवर्धन्ताम् ।

पितृ निमन्त्रण का उद्देश्य

१ उन पितरों के प्रति आभार प्रदर्शन किया जाता है कि आपके उत्तराधिकारी बनकर हम लोग जगत में सम्मान पूर्वक जीवन यापन कर रहे हैं और इस मगल कार्य को देख रहे हैं तथा उसका सम्पादन कर रहे हैं।

२ यह आपके गोत्र कुल और वश की मागलिक क्रिया है। आप लोग इसे देखें सम्पन्न करें शुभाशीर्वाद दें और इसमें उपस्थित विघ्न बाधा को दूर करें हमारी वन्दना और प्रणति को स्वीकार करें।

कौतुकागार

विवाह के पूर्व किसी शुभ दिन में वर और कन्या दोनों पक्षों में कोहवर (कौतुकागार) सौभाग्यवती फूफी अथवा बहिन शुक्र के विचार के अनुसार गृह के किसी एक घर में पूर्व या पश्चिम की दीवाल (भित्ति) पिठी हरद्वी रग द्वारा चित्रित करती हैं। इसका निर्माण एक कलात्मक है जिसे चतुर नायिका ही बनाती है। यहीं षोडशमातृका घृत मातृका द्वार मातृका का पूजन होता है तथा यहीं पितर घडिया (पितृ घटिका भी) गाडी जाती है। इसके बनाने वाली फूफी आदि को अच्छा नेग विदाई सोत्साह दिया जाता है। विवाह के पूर्व कन्या यहीं रहती है तथा विवाह के अनन्तर वर के साथ यहीं आती है औरों केसाथ यहा हास परिहास पाशा आदि क्रीडा कौतुक होता है। वर और कन्या वरगृह जाने पर वर के घर में बने हुए कौतुकागार में ही सर्वप्रथम जाते हैं। कौतुकागार की प्रथा केवल लौकिक ही नहीं है अपितु शास्त्रीय और आवश्यक है। यह एक प्रकार से देव स्थान है क्योंकि मातृकाओं का आवाहन पूजन यही होता है और यह मगलमय है।

उद्देश्य कौतुकागार में विवाह के अनन्तर ग्रन्थिबन्धन युक्त वर वधू को युवती स्त्रिया सहेलिया ले जाकर वर वधू को परस्पर में पाशा खिलवाना मुट्ठी छडवाना पहेलिया

बुझवाना आदि क्रीडा करवाती है तथा विवि न प्रकार क प्रश्न पूछती है और कन्या के स्वभाव से परिचित करवाती हे। और स्वय वर के स्वभाव से परिचित होती है। इसका यह अभिप्राय यह है कि इन क्रियाओं के द्वारा वर की शक्ति बल बुद्धि चातुर्य प्रत्युत्पन्नता व्यवहार स्वभाव विद्या का स्वय ज्ञा । होता है और वधू को भी इससे परिचय कराती है।

मृत्तिकोत्पाटन (मटिकोडवा)

यह कृत्य दोनों पक्षों के लिये उपादेय है। तिलक के पश्चात् और विवाह तिथि के पूर्व कुलाचार के अनुसार पाच या तीन दिन पहले स्त्रिया गाती बजाती वर अथवा कन्या को साथ लेकर सायकाल खेत या तालाब जाती हैं और पूजन पर्वक मिट्टी को खोदकर घर लाती हैं। उस मिट्टी से नवीन चुल्ही आदि कार्य किया जाता है जो विवाह में प्रयुक्त होता है। विवाह के मण्डप और कौतुक के पास सिन्दूर से टीका कर कुछ (५) ढेले भी रखे जाते है।

उद्देश्य गार्हस्थय जीवन में पृथिवी का महनीय महत्त्व है क्योंकि पृथिवी उर्वरा है दाम्पत्य जीवन भी उर्वरक होना चाहिए। गार्हस्थ्य जीवन का आधार भी पृथिवी है। इसके अतिरिक्त विवाह रूपी यज्ञ में अन्य नवीन वस्तुओं की तरह इसका भी नवीनत्व अपेक्षित है। यह साक्षात् देवता है क्षमा में और सहनशीलता सर्वथा अनुकरणीय है ऐसा विचार उत्पन्न होना इस प्रक्रिया का मुख्य प्रयोजन है।

मण्डप

विवाह के पूर्व मण्डप करण उभय पक्ष में होना चाहिए क्योंकि हरद्रानुलेपन मातृकापूजनादि (गोरी गणेश कलश नवग्रहादि पूजा नान्दी मुख श्राद्ध आम्युदयिक) विवाहाडग कृत्य उभय पक्ष के लिये विहित है और उसका ही अडग मण्डप है।

मण्डप का विधान घर के बाहर करने का उल्लेख मिलता है तथा दिशा का निर्देश भी किया गया है किन्तु जनाभिरुचि अपने आगन में ही करने की है यदि आगन की कमी और स्थान का सकोच रहता है तो दरवाजे पर मण्डप बना देते है। मण्डप की लम्बाई चौडाई में भी भिन्नता मिलती है १६ १ ८ हाथ का उल्लेख है

मङ्गलेषु च सर्वेषु मण्डपो गृहवामत ।
कार्य षोडशहस्तो वा ह्यूनहस्तो दशावधि ।।
स्तम्भैश्चतुर्भिरेवान्त्र वेदी मध्ये प्रतिष्ठिता।
षोडशोरत्निक कुर्यात्चतुर्द्वारोपशोभिनम्।
मण्डपतोरणै युक्त तत्रवेदीं प्रकल्पयेत्।।

इस विषय में पारस्कर गृह्यसूत्र 114 गदाधर भाष्य आदि द्रष्टव्य है। आधुनिक समय नगर और ग्रामीण दोनों जगह नवीन रुप से व्यवस्था हो रही है तथा उनकी प्रतिष्ठा का भी स्वरूप भिन्न हो गया है। किन्तु प्रकरण वश इस पर स्वल्प प्रकाश डाला जा रहा है

वर और कन्या के पिता या अभिभावक सपत्नीक विवाह के पूर्व दिन या असमर्थता वश विवाह के दिन पूर्वाह्ण में नित्यकर्म समाप्त कर मण्डप पधारे और पुरोहित या अन्य विद्वान के द्वारा स्वस्तिवाचन सकल्प गौरी गणेश कलश आदि देवताओं का पूजन तृण तोरण मण्डप मातृका सप्तधृत मातृ का पूजन करे।

इसके अनन्तर आभ्युदयिक करे। इसे पूर्ण रूप से या साकल्पिक विधि से करे। अनन्तर दान दक्षिणा भूयसी दक्षिणा ब्राह्मण भोजन आदि करा कर आशीर्वाद प्राप्त करें। इसमें कुटुम्ब प्रजा परिजन कन्याओं को भोजन का भी विशेष महत्त्व है।

यह कार्य प्राय सभी सस्कारों उत्सवों विशेषत उपनयन विवाह में अत्यावश्यक है। क्योंकि निर्विघ्नता सिद्धयर्थ गणेशादिपूजन मगलार्थ मातृ का पूजन कलवृद्धयर्थ पितृपूजन अभीष्ट और वाञ्छित है। पितर कलवृद्धि के प्रदानता तथ पुत्रादिकों से आशा रखने वाले है अत पुत्रवान गृही का परम कर्तव्य होता है कि पितरो को तृप्त रखे। पितरो से याचना की जाती है

गोत्र तनो वर्धता दातारो नोऽभिवर्धन्ता वेदा सन्ततिरेवचश्रद्धा च नो माव्यगमद बहुदेय च नोऽस्तु अन्नच बहुभवेद अतिथींश्च लभेमहि याचितारस्तु न सन्तु माच याचिष्म कञ्चन

जिसने हव्य प्रदान से देवताओं को तृप्त नहीं किया और कव्य प्रदान के द्वारा पितरो को तृप्त नहीं किया तो उसने क्या किया ? नान्दी श्राद्ध का नाम ही आभ्युदयिक है। नाम के द्वारा ही यह मगलकारी है। विवाहादिकृत्यों में नान्दीमुख क्रिया की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। महर्षि वाल्मीकि ने राम के विवाह के अवसर पर इसका उल्लेख दोनों पक्षों के लिए किया है। वह स्थल जिज्ञासुओं के लिए द्रष्टव्य है।

इसी समय कुल देवता का भी पूजन अभीष्ट है। यदि वे पूर्व स्थापित न हो तो असचर पवित्र स्थान पर प्रतिष्ठित कर पूजन करे। यह वैज्ञानिक श्रद्धास्पद और महान् लाभकारी है। अप्रत्यक्ष रूप से कलदेव इस महान् मगलमय कार्य में परम सहायक होते हैं।

ध्यातव्य है कि कोहवर में गोबर की पिडिया से बनी मातृका द्वार मातृका सेन्दूर से बनी घृतमातृका की रीतिया न हो तो मण्डप में पीठिका पत्तल आदि पर पूजन कर ले। ये सभी देविया मगलमयी मगलदात्री हैं।

हरिद्रानुलेपन

विवाह सस्कार में वर और कन्या दोनों का हरिद्रानुलेपन होता है। यह भी विवाह का अग है। यद्यपि इस कृत्य की चर्चा सूत्रकारों ने नहीं की है। किन्तु यह परम्परा प्राप्त है और पद्धतियों में उल्लिखित एव लोकानुमोदित है।

इस मागलिक कृत्य को सौभाग्यवती स्त्रिया सम्पन्न करती हैं। शुभ मुहूर्त में विवाह के पूर्व दिन या दो तीन दिन पूर्व एक कटोरे में पिसी या चूर्ण की हुई हरदी तेल दूब जल डालकर रख दिया जाता है। कहीं कहीं जौ का आटा और दही भी मिला दिया जाता है। वर और कन्या को मण्डप में ले जाकर पुरोहित द्वारा आचमन मार्जन स्वस्तिवाचन गौरी गणेश कलश नवग्रह आदि देवों का आवाहन पूजन कराकर अनन्तर अवट खुदाकर पूजन कराकर उसमें पल्लव (आम्र और केला) बास हलीषा को अक्षत दूब सुपारी हल्दी द्रव्य के स्थापित कर पूजन कर दूर्वाङ्कुर से मगल पूर्वक हरिद्रा वर को लगावें। पुरोहित द्वारा करने के बाद सौ स्त्रिया इसे सम्पन्न करें।

रक्षा सूत्र एक कपडे में लोहे की मुद्रिका पीली सरसों सुपाडी कौडी आदि लपेटकर वर या कन्या के हाथ में पुरोहित द्वारा मन्त्र पूर्वक बाध दिया जाता है। इसके अनन्तर स्त्रिया चूमचाम कर साक्षत अञ्जलि वर या कन्या को गीत गाती हुई कोहवर के पास ले जाती हैं।

उद्देश्य यह मागलिक कृत्य होता हुआ सौन्दर्याधायक है। हरदी केवल पीली ही तथा पीलापन लाने वाली ही नहीं है अपितु त्वचाजन्य अनेक रोगों को शमन करती है। इसके अतिरिक्त कृमि कीट जन्य दोषों का निवारण करती हुई कान्तिवर्धक है।

तेल स्निग्ध और कान्तिप्रद होता हुआ रोमकूपों के द्वारा प्रवेश कर पुष्टिकारक है। जौं का चूर्ण शीतल और मलापहारक होता हुआ शान्ति और सौन्दर्य का आधायक है।

दही शीतल हृध शान्तिकारक है। इसके लगाने से देह की खुस्की और सिर की रूसी दूर होती है।

दूर्वा स्मृति शान्ति ज्योतिवर्धक होती हुई प्रवर्धनशील है। यह सभी मिलकर निर्मलता कोमलता और कान्ति के लिये अपूर्ववस्तु हैं।

वश और आम्रपल्लव मागलिक होते हुए वशवर्धक है यह साक्षात् देखे जाते हैं हलीषा (हरिस) और युग्मकाष्ठ (गुअहा) कृषिप्रधान भारत में महान् उपयोगी और गार्हस्थ्य जीवन का सबल है।

वरयात्रा (विवाह के अगीभूतकार्य)

विवाह के निमित्त वर का कन्या के गृह जाने के लिये अपने गृह से प्रस्थान करना ही वरयात्रा कहलाती है। उस समय वर को वस्त्राभरण से सुसज्जित कर माता या निकट सबधिनी तिलक लगाकर और परछन कर सर्वप्रथम डोली पालकी घोडी या अन्य सवारी (कार) या पैदल कुल ग्राम वधुओं के द्वारा वाहन पूजन पूर्वक नृत्य वाद्य सहित गाना गाती हुई सर्वप्रथम वरुण देवताभिमानी कूप का पूजन और परिक्रमा कर ग्राम देवता (काली डीह सती) की पजा परिक्रमा कर यदि मन्दिर है तो मन्दिरस्थ देवी देवताओं का दर्शन पजन

कर वर को यात्रा के लिए प्रस्तुत कर गीत गाती हुई घर लौट आती हैं। और वर तथा बाराती चले जाते है।

इसका अभिप्राय वर यात्रा मङगलमय हो कोई बाधा उपस्थित न हो। वरुण देवता वृष्टि न करे ग्राम देवता आधी आदि विघ्नों को दूर करे वरयात्रा सकुशल सम्पन्न हो यह कामना भी की जाती है।

द्वारपूजा

अगुआनी के बाद जब बारात कन्या पक्ष के घर पर पहुचती है तो सवारी (पालकी घोडी कार आदि) से वर को उतार कर कन्या के पिता या अभिभावक द्वार पर पूर्व प्रतिष्ठित और पूजित गणेशाम्बिका कलश नव ग्रहादि देवता का पूजन कराया जाता है। तदनन्तर वर का पूजन आदि सत्कार कर देव विसर्जन कर बारात तथा वर को जनवास भेज दिया जाता है। कहीं कहीं कुलाचार के अनुसार सवारी पर स्थित वर की पूजा कर जनवास भेज दिया जाता है। आज से कुछ वर्षो पूर्व द्वार पूजा के समय पण्डितो का शास्त्रार्थ होता था कि द्वारस्य पूजा किवा द्वारे पूजा इत्यादि किन्तु यह प्रक्रिया समाप्त हो गई। जनवास में बाराती जनो का सम्मान और निमन्त्रण कहीं दुर्गाजनेऊ आदि होता है। आजकल कुछ रीतिया नवीन हो गई हैं। बारात के आगमन के समय माला से उनका सत्कार तथा वर पूजा के बाद वही जलपान व्यवस्था हो जाती। आजकल की प्रथा में जयमाल का विशेष प्रचलन है। तथा सस्कार की प्रतीक्षा बिना भोजन की व्यवस्था हो जाती है। इसको नवीनता कहे या परिष्कार।

दुर्गा जनेऊ

द्वार पूजा के अनन्तर जनवासा में जहा बाराती रुकते हैं। वहा कन्यापक्ष के तरफ से भोजन के हेतु निमन्त्रित करने के लिए लोटे का जल आम्रपल्लव के सहित साथ में कुछ जलपान आदि आवश्यक सामग्रियो को रख कर निमन्त्रण दे। कहीं कहीं देश कल के अनुसार दुर्गाजनेऊ का भी कार्य होता है।

कन्या प्रतिष्ठा (वरनेति)

विवाह के पूर्व वर के ज्येष्ठ भ्राता के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है। द्वार पूजा जनवास जलपान दुर्गाजनेऊ निमत्रण आदि कार्य हो जाने के बाद नापित (नाई) द्वारा वर का पानी और साडी ले आने पर युग्म (जुआठा) पर कन्या को स्नान करा कर मण्डप ले आकर उससे देवताओं का पूजन करा दे। तदन्तर वर के ज्येष्ठ भ्राता आभूषण वस्त्र आदि के सहित डाला के साथ आकर मण्डप देवी का पूजन डाल आदि समानों को पूजन

के बाद कन्या को ति ाक कर वस्त्रादि सामग्री आभूषण आदि देकर कन्या के हाथ (अजलि) में फलाक्षत सहित द्रव्यादि देकर आशीर्वा ेे।

जनवासा और विदाई

बारात कुछ दिन पूर्व तीसरे दिन या पाचवें दिन विदा होती थी। उस समय दूसरे दिन सायकाल या तीसरे चौथे दिन सायका ा जनवासा होती थी। जनावास या जनवास शब्द का अपभ्रश जनवासा है। यहा जन शब्द से सामान्य जन नहीं लिया जाता है अपितु वर का ग्रहण होता है और वास का अर्थ सभा या ठहरने का स्थान। इसमें कन्या पक्ष से आम्र पल्लव सहित कलश के साथ कन्या पक्ष से वर की सभा में जाते है और दोनो तरफ शिष्टाचारानुसार शास्त्रार्थ मगल स्तुति की जाती है। और भातखाने का निमन्त्रण दिया जाता है।

माथ ढकाई

इस कार्य में बारात की विदाई के दिन प्रात वर का पिता गणेश पूजन पूर्वक वधू को वस्त्राच्छादन करता है। मण्डप के बन्धनों को छडाकर किञ्चित हिला देता है। इस समय उसका द्रव्यादि सत्कार किया जाता है।

विदाई

बारात की विदाई के समय कन्या पक्ष द्वारा अक्षत हरिद्रा दूर्वा पात्र सहित मगल पूर्वक दिया जाता है। साथ ही साथ कन्या की भी विदाई होती है। कहीं नहीं होती है। किन्तु आजकल प्राय कन्या की विदाई हो जाती है।

चतुर्थी कर्म

यह कर्म विवाह का शेषभाग और एक अग है जिसे विवाह के चौथी रात में सम्पन्न करना चाहिए अथवा यदि चौथी रात में सम्पन्न न हो सकने की सभावना हो तो दूसरी या तीसरी रात में सम्पन्न करें (रात्रि के अन्तिम प्रहर में घर के भीतर अर्थात् अजिर प्राङगण) में तैलोद्वर्तन पूर्वक पूर्वाभिमुख युगलकाष्ठ (जुआठा) पर बैठाकर स्नान कराकर मण्डप में नीवन वस्त्र धारण कर पूर्वाभिमुख आसन पर बैठा दे।

अनन्तर आचमन प्राणायाम मार्जन करने वाद स्वस्तिवाचन सकल्प कर वेदी निर्माण पञ्चभूसस्कार पूर्वक अग्नि स्थापन अग्नि पूजन ब्रह्मवरण कुशकण्डिका ब्रहस्थापन प्रोक्षणी प्रणीता पात्र स्थापन स्थालीपाक को सिद्ध कर पद्धति निर्दिष्ट ५ मन्त्रों से घी का हवन करे शेष प्रोक्षणी पात्र में डाल दे। इसके बाद स्थालपाक से एकबार हवन और अन्त

डालकर ब्रह्मा का पूर्णपात्र दान मार्जन प्रणीता पात्र का वर द्वारा वधू का अभिषेक इसके अनन्तर वर वधू की स्थालीपाक में बची हुई खीर को समन्त्रक खिलाये और स्वय भी भोजन करें तदनन्तर वधू का हृदयस्पर्श करे। बाद में ककण का मोक्षण आयुषकरण प्रार्थना।

पद्धति में निर्दिष्ट ५ मन्त्रों का अर्थ

सभी दोषो के निवारण करने वाले हे अग्निदेव! तुम्हे इन्द्रादि देवताओं के मध्य में दोषो का अपहरण कर्ता हो। मैं ब्राह्मण आशीर्वाद एव ऐश्वर्य की कामना से तुम्हारी आराधना करता हू। कि इस वधू के शरीर के पतिनाशक अथवा अमगलप्रद अवयव के दोषो को हटाकर सुष्ठ अग करो। एतदर्थ आप को यह आहुति दी जा रही है।

इसी प्रकार से वायु सूर्य चन्द्र गन्धर्व इन चारो की आहुतिया प्रजानाशक अवयव के दोषो दूर करने के लिये पशुनाशक अवयव के दोष के निवृत्यर्थ गृहनाशक अवयव के दोष के निवाराणार्थ दी जाती है।

मण्डपोद्वासन

यह कार्य चतुर्थी कर्म के अनन्तर पाचवें सातवें अथवा सम दिनों में मुहूर्त में करना चाहिए। तब तक मण्डप की सामग्री सुरक्षित और सुसेवित रहे। इस कार्य में भी मगलगीत वाद्य आवश्यक है। तथा पण्डित पुरोहित द्वारा पूजन विसर्जन मगल पाठ करवाना श्रेयस्कर है। जिनके यहा चतुर्थीकर्म नहीं होता है इन्हें भी उक्त दिनों में ही उदवासन कार्य करना चाहिए।

विवाह सस्कार विधि

विवाह सस्कार के मुख्य चार वर पूजन कन्यादान हवन (घृत हवन लाजाहवन अग्निप्रदक्षिण अश्मारोहण सागुष्ठहस्तग्रहरण) सप्तपदी अग हैं।

वर पूजन

वर के मण्डप में पधारने पर परछन करने के अनन्तर कन्या के पिता द्वारा वर के उपवेशनार्थ आसन पाद्य (पादप्रक्षालन) तिलक अक्षत पुष्प अर्घ आचमनीय मधुपर्क वस्त्र यज्ञोपवीत आदि से पूजन मन्त्र सहित ब्राह्मण वचन द्वारा सम्पन्न करे।

उद्देश्य यह शास्त्रीय और लौकिक दोनो ही दृष्टि से महत्त्व पूर्ण है। क्योंकि वर को विष्णुरूप और कन्या को लक्ष्मी का रूप माना गया है। इस लिये वर में देवत्व सर्वोत्कृष्टत्व की भावना की जाती है। विवाह एक प्रकार का प्रकृति और पुरुष का मिलन है और सृष्टि प्रवर्तक है जिसमे पुरुष का महत्त्व अत्यधिक है। इसके अतिरिक्त जिसको दान दिया जाता है। उसकी सर्वप्रथम पूजन सत्कार करना आवश्य एव महनीय है यह सर्व सामान्य नियम

है। कन्या दान एक महादान है। इसका ग्रहीता अत्यन्त श्रद्धेय और पूज्य है। इसके अतिरिक्त लौकिक दृष्टि से देखा जाय तो कन्या बहन रूपी महान भार वर को दिया जा रहा है अत वह सर्वथा सत्कार्य और वदनीय है। उपर्युक्त इन सभी कारणो से वर का पूजन हर एक दृष्टि से उपयुक्त और सौद्देश्य है।

ऊपर जो आर्चा सामग्री और क्रम कहा गया है। वह पूजनानुकूल है। इसमें मधुपर्क का जो विधान है वह भारतीय भोज्य में श्रेष्ठ माना जाता है वह गरिष्ठ क्षुत् निवर्तक वीर्यवर्धक है गृहस्थाश्रम के लिये उपादेय है।

कन्यादान गोत्रोच्चार

कन्या दान का आदर्श भारतवर्ष में भारतीय सस्कृति का अनुपम और अतुलनीय है जो अन्यत्र दुर्लभ है। इसके पूर्व गोत्रोच्चार या शाखोच्चार होता है। जो तीन बार वर पक्ष के तरफ से तीन बार कन्यापक्ष के तरफ से उभय पक्षीय पण्डितो द्वारा कहा जाता है। इसमें गोत्र प्रवर शाखा सूत्रचारण पूर्वक पिता पितामह प्रपितामह का षष्ठयन्त नाम के साथ प्रथमान्त प्रपौत्र पौत्र पुत्र तथा प्रपौत्री पौत्री पुत्री का उल्लेख किया जाता है।

गोत्रोच्चार का उद्देश्य

दोनो पक्ष पुरोहित पण्डितो द्वारा मण्डप में उपस्थित सभी जनो के सामने वर और कन्या के गोत्रादि सहित तीन पुरुषो का नामोच्चार करते हुए परिचय देते है। उच्चस्वर से उसे तीन बार दोहराते है जिसका तात्पर्य यही है कि इन दोनो के कुल में किसी को सन्देह न रह जाय। यदि है तो हस्तक्षेप के द्वारा सबन्ध रोका जा सकता है। इसके अतिरिक्त शाखोच्चार के द्वारा दोनो कुलो की प्रशस्ति भी की जाती है। और मागलिक मन्त्रों और श्लोकों के द्वारा मगल कामना भी की जाती है।

कन्यादान शाखोच्चार के अनन्तर कन्यादान का प्रकरण आता है। वर पूर्वाभिमुख और कन्यादाता पश्चिमाभिमुख। इसमें सकल्प दो होते है एक कन्यादान प्रतिज्ञा सकल्प और दूसरा दान सकल्प। दान (कन्यादान) सकल्प में वर और कन्या के तीन पुरुषो अर्थात् पिता पितामह और प्रपितामह के षष्ठयन्त नामोच्चारण पूर्वक प्रपौत्राय आदि चतुर्थ्यनत उच्चारण करना चाहिये और इसी प्रकार कन्या के लिये द्वितीयान्त प्रपौत्रीम् आदि उच्चारण करने के बाद सकल्प की पूर्ति करें।

प्रतिज्ञा सकल्प के पूर्व वर के दाहिने हाथ के ऊपर कन्या का हाथ रख कर उसके ऊपर दूर्वा अक्षत फल पुष्प चन्दन जल से युक्त शख रखे प्रार्थना पूर्वक प्रतिज्ञा सकल्प करे अनन्तर पुन प्रार्थना पूर्वक महासकल्प कन्या दान हेतू करें। इस सकल्प में कन्या का भाई कन्या वर के हाथ के ऊपर निरन्तर धारा से जल गिराता है।

उद्देश्य (प्रयोजन)

वर को हाथ के ऊपर कन्या के हाथ रखने कारण यह है कि देय वस्तु को ऊपर ही रखा जाता है। तथा प्रतिगृहीता का हाथ नीचे ही रहता है। यह नियम और उचित दोनो है। दोनो हाथो के सबध द्वारा दोनों का विद्युत्प्रवाह चलता है। और जल विद्युत् का सचालक होता है। इससे पति पत्नी की प्रेम धारा का एक दूसरे में सकमण होता है। और प्रेम की विद्युत् शक्ति दृढ होती है। शख दूर्वा आदि सामग्री मागलिक है। ये सभी स्वरूपत और अर्थत अत्यन्त हित कारक है। शख निर्मल स्वच्छ सक्रमण रहित पदार्थ है उसमें रखी हुई वस्तु अन्य वस्तुओं से प्रभावित नहीं होती। कन्यादान के जिस पवित्र भाव से उसमें जल डाला गया है। उसका प्रभाव वर वधू के भावी जीवन पर पडता है। शखस्थ जल की धारा के समान दोनों का प्रेम निर्मल रहेगा। शख स्वय निर्मल है वह अपनी अणु शक्तियों द्वारा दाम्पत्य जीवन को निर्मल करता है। दूर्वा सदा हरित प्ररोहवाली प्रसरणशील पदार्थ है। अत वह अपने गुणो का आधान दम्पती में करती है। अक्षत का गुण विदित है कि प्रसवादि धर्म अक्षत रहे। फल पुष्प चन्दन आदि सभी मगल दायी है। पुष्टि तुष्टि सुगन्धि को देने वाले और बढने वाले हैं। भ्रातृ दत्त जो जल की धारा है शख द्वारा निर्गत होती है। वह दोनो हाथो का एकीकरण करती है क्यों कि एकी कारण की शक्ति जल में प्रबल रूप से है। जो जल बिखरे हुए मिट्टी के कणों को सपृक्त कर देता है वह सम्पृक्त हाथो को अत्यन्त दृढतर सयुक्त करेगा विवाह में यह जलधारा पति पत्नी के सबन्ध को स्थिर करेगा। सकल्प में जो तीन बार पित्रादि नामों का उच्चारण किया जाता है वह कुल की सपुष्टि हेतु है।

कन्यादान के बाद दक्षिणा ब्राह्मण भोजन सकल्प के बाद कार्य निवृत्त हो जाता है। और कन्या वर के तरफ आ जाती है। और विवाह प्रकरण प्रारम्भ हो जाता है।

दृढ पुरुष

विवाह में हवन की प्रधानता रहती है। अब आचार्य कुशकण्डिका कर हवन कार्य प्रारम्भ करते हैं उस समय एक स्वस्थ पुरुष जल से भरा हुआ घट कन्धे पर रखकर वर वधू के पीछे खडा रहता है। वह पुरुष मौन धारण कर अभिषेक पर्यन्त वहीं रहता है। होम सम्पन्न होने पर वर उस पुरुष से घट लेकर कुश आम्रपल्लव से स्वय और वधू को आपो हिष्ठा मयोभुव इत्यादि मन्त्र से सींचता (अभिषेक करता) है।

उद्देश्य

हवनीय घृत और घृताक्त शमी पलाश मिश्रित लाजा की आहुतियों से उत्थित परमाणुओं को वह कुम्भस्थ जल अपने तरफ आकृष्ट करता है। मन्त्र सस्कृत हवि के

परमाणु अत्यन्त शु‍ पवित्र श्री वर्चस् आयु आरोग्यप्रद होते हैं। उससे सपृक्त जल स अभिषेक करने पर वर वधू को अत्यधिक लाभ होता है। दूसरा दृष्ट प्रयोजन यह हे वि जहा अग्नि हो वहा ज का प्रबन्ध होना आवश्यक है और एक स्वस्थ सुचित्त व्यक्ति उसका ध्यान रखता रहे कि कही अग्नि भय हो तो उसे शान्त कर सके। इसलिये दृ‍ पुरुष वरवधू के पीछे जल लेकर खडा रहता है।

अग्नि की साक्षी

हवन के निमित्त अग्नि स्थापना आवश्यक है जो सर्वविदित है। किन्तु कन्यादान और अपरिचित दो व्यक्तियों के सबन्ध स्थापित के लिये अग्नि की साक्षी दी जाती है। विवाह में ब्राह्मण कुटुम्बीजन दिन में सूर्य तथा रात्रि में चन्द्रमा तारा आदि साक्षी है। किन्तु कई दृष्टियों से अग्नि का साक्ष्य महत्त्वपूर्ण है। कौमार्य अवस्था में सोम ग धर्व और अग्नि क्रमश पति (पालक) होते हैं। अग्नि को स्थापित कर यह भाव प्रकट किया जाता है कि वह अग्नि अपनी आश्रित कुमारी को मानव वर को दे रहा है।

विवाह सस्कार में हवन प्रक्रिया

आचार्य सर्वप्रथम घृत से प्रायश्चित सज्ञक १२ आहुतिया प्रज्वलित अग्नि में दें। इनमें कुश के द्वारा ब्रह्मा से सब ध बना रहना चाहिए तथा स्रुवावस्थित हुतशेष घृत का प्रत्येक बार प्रोभणीपात्र में प्रक्षेप करना चाहिये।

इसके अनन्तर राष्ट्रभृत् नामक हवन है। इसमें ब्रह्मा से सबन्ध नही करना है। किन्तु पूर्ववत् प्रोक्षणी पात्र में हुतशेष स्रुवावस्थित घृत का प्रक्षेप होना चाहिए। यह हवन भी १२ बार होता है।

इसके अनन्तर जया सज्ञक १३ आहुतिया घी से करना चाहिए तथा प्रोक्षणी पात्र में हुत शेष घृत प्रक्षेप भी करना इष्ट है।

इसके बाद जल का स्पर्श कर अभ्यातान सज्ञक होम करना विहित है जिसमें १८ आहुतिया दी जाती है। और हुतशेष घी का प्रोक्षणी पात्र में प्रक्षेप करे। तथा प्रणीतापात्र के जल का स्पर्श करे। हवन के मध्य में यम रुद्र और पितर की आहुति के बाद भी जल स्पर्श विहित है।

पुन पद्धति निर्दिष्ट ओं अग्निरतैतु इत्यादि चार मत्रों से चार आहुतिया देकर और हुतशेष का प्रक्षेप कर प्रणीतोदक का स्पर्श करें। इसके बाद वर और अग्नि बीच में पट का व्यवधान करवा कर आचार्य एक बार हवन कर हुतशेष का प्रक्षेप प्रोक्षणी में न कर वर आचार्य के मध्य में कर दे। उसके बाद प्रणीता के जल का स्पर्श करे।

लाजा होम इसके अनन्तर पूर्वाभिमुख वधू आगे और वर पीछे खडे होकर वर की अञ्जलि के ऊपर वधु की अजलि रख कर वधू के भाई के द्वारा प्राप्त घृताक्त शमी पलाश मिश्रित लाजा को मन्त्रोचारण पूर्वक एक एक करके तृतीयाश को तीन बार हवन करें।

साङ्गुष्ठहस्तग्रहण इसके बाद वर अगूठे के सहित वधू का दाहिना हाथ पकड कर गृभ्णामि इत्यादि चार मन्त्रों को कहे।

अश्मारोहण

अग्नि के उत्तर तरफ पहले से रखे हुए पत्थर पर वर पूर्वाभिमुखी वधू के दाहिने दायें पैर को रखवायें और आरोहेममश्मान इस मन्त्र को कहे और वधू के पत्थर पर आरूढ होने पर पुन वर ओं सरस्वति प्रेदभव इत्यादि गाथा का गान करे।

अग्नि प्रदक्षिणा

आगे वधू और पीछे वर होकर एक साथ प्रणीता ब्रह्मा और अग्नि की प्रदक्षिणा करें। उस समय वर को यह मत्र ओं तुम्यमग्ने इत्यादि पढना चाहिए। इसके बाद पुन अग्नि के पीछे खडे होकर पूर्ववत् लाजाहुति साङ्गुष्ठहस्त ग्रहण अश्मारोहण गाथागान अग्निप्रदक्षिणा दो बार क्रम से करे।

इस प्रकार नौ बार लाजाहुतिया तीन बार साङ्गुष्ठहस्तग्रहण तीन बार अश्मारोहण तीन बार गाथागान और तीन बार अग्नि परिक्रमा हो जाती है।

इसके बाद वधू के भाई के द्वारा दी गई अवशिष्ट लाजा को सूप के कोण से एक बार हवन करे तदनन्तर आगे वर पीछे वधू एक साथ होकर चुपचाप (मौन) होकर अग्नि की परिक्रमा कर के अग्नि के पीछे बैठकर वर ब्रह्मा से सबन्ध (कुश द्वारा) कर के घी से एक बार प्राजापत्य हवन करें और हुतशेष को प्रोक्षणी में प्रक्षेप कर दे।

तृतीयो अग्निष्टे पति तुरीयस्ते मनुष्यजा ऋ १ /८५/४ रयिञ्च पुत्राश्चादाद् अग्निर्मह्यमथो इमाम् ऋ १ /८५/४१ साथ ही धन और पुत्र को भी देता है। अग्नि की साक्षी का भी तात्पर्य है कि वह इस सबध को जन्म जन्मान्तरीय दृढ और स्थायी बनावे।

हवन (लाजाहुति)

विवाह में हवन का महत्त्व बहुत बडा है। उसमें लाजाहुतिका विशेष स्थान है। शमी पलाशमिश्रित घृताक्त लाजाहवन का अभिप्राय यह है कि शमी अग्नि गर्भा है अत वह अग्नि को प्रखर उद्दीप करने वाली एव प्रिय है। दूसरी बात यह है कि वह अनेक (कफ कास्य भ्रमि श्वास कुष्ठ बवासीर कृमि) रोगो को दूर करने वाली है। क्यों कि वह तिक्त कटु, शीत कषाय रुचिकर और लघु है।

शमी तिक्ता कटूः शीता कषाया रोचनी लघु ।
कफकाक्षभ्रमिश्वासकुष्टार्शकृमिणितृस्मृता ।। भावप्रकाश

जिस प्रकार शमी आरोग्यदायक उसी तरह यह मगलदायक अमगल विनाशक है

अमगलाना शमनीं शमनीं दुष्कृतस्य च।
दु स्वप्ननाशिनीं धन्यामर्पयेऽह शमीं शुभाम् ।।

इसके अतिरिक्त यह शनि का इन्धन होने से शनि पीडानिवारक है। यदि रोग या पीडा की सभावना रहे तो उसका निवारण हो जायेगा। इसका धुआ एतदर्थ लाभप्रद है। और वातावरण में बिखरे कीटाणुओं का नाश होगा।

इसी प्रकार पलाश भी आयुर्दायक तथा वर्चस्व को बढाने वाला है। कन्या कहती है कि आयुष्मानस्तु में पति एधन्ता ज्ञातयो मम स्वाहा।

लाजा मधुर शीतल अग्नि दीपक और रुक्ष है वह पित्त कफ अतिसार रुधिर विकार प्रमेह मेद रोग और प्यास को दूर करती है। इसके अतिरिक्त लाजा में एक विशेषता यह है कि खील में तुष (भूसी) भी सटी रहती है। लाजा के साथ अग्नि में साथ ही जल जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि कन्या कह रही है कि जिस प्रकार लाजा के तुष अग्नि में पडने पर जल जाती है। उसी प्रकार विपत्तियों में भी तुम्हारे साथ अपने को न्यौक्षावर कर दूगी। घृत तो हविष्य में प्रधान और अग्नि का प्रिय एव वर्धक होता हुआ आयु और तेज को बढाने वाला है। आयु वैंघृतम् तेजो वै घृतम् ।

भ्रातृदत्तलाजा

विवाह सस्कार में कन्या के भाई की उपयोगिता दो स्थानो पर है एक पाणिग्रहण के समय कन्या के हाथ पर जल गिराने के लिये और दूसरा हवन के समय लाजा देने के लिये। इसका आशय यह है कि यह कन्या अभ्रातृका नहीं है। इसे पुत्रिका धर्म नहीं करना पडेगा। यह कन्या सर्वथा विवाह के योग्य है। अभ्रातृ का न होने के कारण धर्मकर्म स्तरीय निषेध का पात्र यह नहीं है।

लाजा हवन में कन्या यह भी सूचित करती है कि स्वामी जी! आप का वश शमीवृक्ष की तरह क्यों न हरा भरा हो किन्तु मेरे अनादर से आप की दशा खीलो की तरह होगी। जैसे खीलों का अकुर नहीं होता वैसे आप भी सन्तान रूपी अकुर को प्राप्त नहीं कर सकते। इससे यह प्रतीत होता है कि लाजा धान्यरूप होती है। त्वक् और तण्डुल का उसमें पहले सयोग होता है। जब तक इनका सयोग है तब तक दोनो की रक्षा है और तण्डुल में उत्पादन शक्ति भी है। वधू कहती है मैं त्वक हू, आप तण्डुल है। यदि आप त्वक् रूप मझ से यक्त रहेंगे। तब आप में उत्पादन शक्ति भी रहेगी मझसे रहित तण्डल रूप आप

उत्पादन शक्ति से रहित रहेंगे। अकेले तण्डुल को अग्नि में डाला जाता है जो अग्नि में जलता है और उसकी लाजावन जाती है। अत आप भी मुझ से विरहित होकर विरहाग्नि में जलते रहेगे।

इसके अतिरिक्त लाजा के द्वारा यह भी सूचित करती है कि यह लाजा तुष छिलके से आवृत थी इस प्रकार मैं भी पितृगृह में कन्यात्व से आवृत थी। जब बडी हुई तो मेरा उस छिलके में समाना कठिन हो गया। फिर अग्नि के सम्पर्क से धान्य का छिलका जल गया या छट गया और वह खिल गई। इसी प्रकार अग्नि स्वरूप आप को पाकर मेरा कन्यात्व और पितृसबन्ध समाप्त हो गया। इस बन्धन से मुक्त होकर और आप को पाकर मैं भी विकसित हो चुकी हू। अब जैसे चावल का रक्षक छिलका न रहा उसी प्रकार मुझ पर भी पिता का आधिपत्य न रहा। कन्या इससे यह भी सूचित कर रही है कि त्वक् से रहित धान्य कणिका जिस प्रकार उत्पादन शक्ति विहीन है त्वक् सहित ही अन्य अनेक धान्य उत्पन्न कर सकता है। वैसे मैं और आप भी अलग अलग रहकर उत्पादन रहित ही रहेगे एकीभाव में ही वशवृद्धि और सुरक्षा है।

अग्नि परिक्रमा

विवाह सस्कार में अग्नि परिक्रमा चार होती है। जिसमें तीन परिक्रमा में वधू आगे रहती है। और वर पीछे रहता है और चौथे परिक्रमा में आगे वर और पीछे वधू रहती है।

अग्नि कन्या का तृतीय पति (पालक) है तृतीयो अग्निष्टेपतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा इस लिये वह पूज्य और साक्षी है। उसकी परिक्रमा एव हवन रूपी अर्थ आवश्यक है। चार परिक्रमा चारो पुरुषार्थो (धर्म अर्थ काम मोक्ष) निमित्तक है। प्रथम तीन परिक्रमा में स्त्री को आगे कर के परिक्रमा करने का तात्पर्य है कि इन चारो पुरुषार्थो में धर्म अर्थ काम इन तीनो में पुरुष का पूरा आधिपत्य नहीं रहता अपितु स्त्री का ही रहता है

अर्थस्य सग्रहे चैना व्यये चैव नियोजयेत्। मनु ९/११ अथवा यों कहे कि उक्त ती पुरुषार्थो में मुख्य साधन स्त्री ही होती है। अत उसका आगे रहना ही उचित है। ग्राहस्थ्य जीवन के प्रत्येक कार्य में उनकी उपस्थिति अनिवार्य है। धार्मिक यागादि क्रिया में स्त्री की सहभागिता आवश्यक है। लौकिक रीति के अनुसार स्त्रिया सग्रही और मितव्ययी है इस लिये अर्थ सग्रह उनका पुरुष के आपत्तिकाल में और आवश्यकता पडने पर काम आता है।

चौथी परिक्रमा मोक्ष निमित्तक है इसमें पुरुष ही आगे रहता है। क्यों कि तदर्थ मार्ग दर्शन की बुद्धिमत्ता पुरुष में ही रहती हैं स्त्री में नहीं इसलिये इसमें पुरुष की प्रधानता रहती है।

इन चार परिक्रमा के द्वारा पुरुषार्थ चतुष्टय का व्रत दम्पती ग्रहण करते हैं।

साडगुष्ठहस्तग्रहण

ाजा हवा के अ ातर र र र्नू का दाया हाथ अगूठे के साथ पकड कर गृभ्णामि ते इत्यादि मत्रों को पढें।

प्रयोजन मत्रों के अर्थ से इस कृत्य का प्रयोजन स्पष्ट है। प्रयोजनान्तर के विषय में आश्वलायन गृहव सूत्र में कहा गया हे कि यदि पुरुष चाहता हे कि मेरे लडके हो तो केवल अगूठा पकडे। गृभ्णागि ते सोभगत्वाय हस्तम इत्यडशुष्ठमेव गृहन्णीयात् यदि कामयीत पुमास एव में पुत्रा जायेरन् १/७/३ क्यों कि अगुष्ठ शब्द पुल्लिङ है। अत उससे पुत्र का सब ध स्पष्ट हे।

यदि परुष चाहता है कि मेरे लडकिया हो तो अगुलिया पकडना चाहिए। अगुलीखे स्त्री काम १/७/४ अगुलि शब्द स्त्री लिग है। अत उससे कन्या का सबन्ध है। यदि दोनो की इच्छा हो तो अगूठा और अगुली दोनो को पकडे।

यही बात हिरण्यकेशीय गृह्य सूत्र १६/६/२ में तथा आपस्तम्ब गृह्य सूत्र २/४/१२/१३ में भी कही गई है।

ग्रन्थि बन्धन

परिक्रमा के समय कहीं कहीं या बहुतायत ग्रन्थि बन्धन की भी प्रथा है। इसका अभिप्राय यह है कि पहले हम दोनो अलग अलग थे अब एक बन्धन में बध गये इस लिये मिल कर कार्य करेंगे। यह ग्रन्थिबन्धन कौतुकागार तक बधा रहता है। इससे लौकिक लाभ यह होता है कि स्त्री का पति से पार्थक्य आशकित नहीं होता।

अश्मारोहण

अग्नि अर्थात् वेदी के उत्तर तरफ पहले से रखे हुए पत्थर (सील या वट्ट) पर वधू का दाया पैर चढवाता है। चढाने के लिये भी वह मन्त्र का प्रयोग करता है। और जब वधू उस पर आरढ हो जाती है तब वर गाथा गान करता है। इसका अभिप्राय और वैज्ञानिकता प्रयुक्त मत्रों के अर्थो से पूर्णतया प्रतीत हो जाता है। तदर्थ कुछ लिखना आवश्यक नहीं है।

तथापि उस मत्रों का सक्षिप्त रूप यहा दिया जा रहा है उन मत्रो से वधू को सकेतित किया जाता है। कि जैसे पत्थर दृढ रहता है वैसे तुम भी दृढ रहना परपुरुष पर अनुरक्त न रहना आपत्तिकाल में भी विचलित न होना और अपने पातिव्रत धर्म का पालन करना।

अन्त पट

आहुति के समय में पर मृत्यो इत्यादि मत्र से जब आहुति दी जाती है। उस समय जो वर वधू के मध्य में अथवा आगे वस्त्र का आवरण दिया जाता है

उसका अभिप्राय यह है कि वह आहुति मृत्यु को दी जाती है। मेरी वधू अकाल में अपनी और मेरी मृत्यु को आगे न देखे। इसी कारण अन्त पट दिया जाता है।

सप्तपदी

विवाह सस्कार का चतुर्थ अग सप्तपदी है।

अग्नि(अग्नि वेदी) के उत्तर तरफ उत्तरोत्तर क्रम से सात मण्डल बनवाए और उसमें अपने पीछे सात पग चलवावे। वर क्रम से स्वय निर्दिष्ट वाक्यों को बोले और कन्या अपनी निर्दिष्ट वाक्यों को कहती हुई चले। अर्थात् दोनो के लिये यह प्रतिज्ञा वचन इसका निर्वाह आजीवन करना अत्यावश्यक है।

उन सातों वचनो का यहा क्रम से अर्थ दिया जा रहा है।

१ वर कहता है एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु हे सुभगे! विष्णु भगवान् तुझे अन्न की रक्षादि के लिये प्रथम स्थान प्राप्त करावे।

वधू इसे सहर्ष स्वीकार करती हुई स्पष्ट कहती है

धन धान्यञ्च मिष्टान्नम् इत्यादि।

आप के घर में धन धान्य मीठा व्यञ्जन शाकादि जो भी पदार्थ हो उसे मेरे अधीन करने को स्वीकार करे तब मुझे स्वीकार है।

तात्पर्य अन्न जीवन का सर्वप्रधान पाथेय है। इसके बिना जीवन ही दुष्कर है। उसी रक्षा और सचय सर्वोपरि आवश्यक है। इससे स्वय परिवार अभ्यागत आदि की सेवा होगी।

२ दूसरे पद भ वर कहता है द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वानयतु हे सुभगे विष्णु तुझे बल प्राप्ति के लिये गृहस्थ के दूसरें स्थान को प्राप्त करावे।

कन्या कहती है कुटुम्ब रक्षयिष्यामि इत्यादि

मैं आप के कुटुम्ब की रक्षा करुगी। सर्वदा मीठी वाणी बोलूगीं। दु ख में धीर और सुख में प्रसन्न रहूगी।

उद्देश्य वर जो द्वितीय पद में बल की कामना करता है। उसका तात्पर्य है कि बल से गार्हस्थ्य और दाम्पत्य जीवन सुखमय रहता है। इसके अतिरिक्त आत्मा आत्मीय दीन निर्बल की रक्षा परोपकार आदि बल के ही द्वारा किया जा सकता है। यह स्मरणीय है कि अपने से कम अवस्था वाली स्त्री भी बलवर्धक मानी गई है।

३ तीसरे पद में वर कहता है त्रीणि रायस्पोषाय विष्णु स्त्वानयतु विष्णु तुम्हे धन वस्त्र के लिये तृतीय स्थान प्राप्त करावें।
उद्देश्य जो धनवस्त्रादि की याचना की गई है। उसका तात्पर्य सर्वविदित है। धनादि के बिना जीवन सर्वदा नीरस और सोदवेग रहता है। इस विषय में ये उक्तिया द्रष्टव्य है सर्वशून्य दरिद्रता अर्थस्य दासा सर्वे सर्वेगुणा काञ्चन माश्रयन्ति हा टका टकटकायते इत्यादि। वस्त्र के बिना तो घर में और समाज में रहना ही सभव नहीं। वास प्रधान खलु योग्यताया ।

४ चौथे पग में वर कहता है चत्वारि मायो भुवाय विष्णुस्त्वानयतु (मयोभुव) सासारिक सुख प्राप्ति के लिये विष्णु तुझे गृहस्थ के चतुर्थ स्थान को प्राप्त करावें।
कन्या लालयमि च केशान्तम् इत्यादि
मैं गन्ध माल्य विविध प्रकार के वस्त्राभूषणादि द्वारा समुचित श्रृगार कर के आप की ही आराधना करुगी।
उद्देश्य सुख ही जीवन का सर्वस्व है उसके बिना जीवन निरर्थक और अवाञ्छनीय है।

५ पाचवें पग में वर कहता है पञ्च पशुभ्यों विष्णुस्त्वा नयतु
पशुओं की रक्षा के लिये विष्णु तुझें गृहस्थ के पाचवें स्थान को प्राप्त करावे।
कन्या आर्ते आर्ता भविष्यामि सुखदु खविभागिनी इत्यादि आप के कष्ट में दु खी होंऊगी तथा सुख और दु ख में सहभागिनी बनूगी तथा आपकी आज्ञा का पालन करुगी। इस पद में पशु की याचना है जो गृहस्थ के उचित तथा अनुकूल है।

६ छठे पग में वर कहता है षड्ऋतुभ्यो विषणुस्त्वा नयतु,
छ ऋतुओं की अनुकूल चर्या की प्राप्ति के लिये विष्णु तुझें गृहधर्म के छठे स्थान को प्राप्त करावे।
कन्या यज्ञे होमे च दानादौ भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधू षष्ठे पदे वदेत्।।
यज्ञ होम दानादि धर्म अर्थ काम में मैं तुम्हारे साथ रहूगी।
उद्देश्य छठे पद में ऋतुओं का सुख माना गया है। जो गार्हस्थ्य जीवन के लिये अभीष्ट है।

७ सातवे पग में वर कहता है सखे सप्तपदा भव मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु। हे सखे! अब तुम सखित्व की प्राप्ति के लिये सातवा पद आगे बढाओ तुम सदा मेरे अनुकूल रहो। विष्णु तुझें इस मित्ररूप सावतें स्थान को प्राप्त करावे।
कन्या अत्राशे साक्षिणो देवा मनोभावप्रवोधिन इत्यादि इसमें मनों के भावों को जागृत करने वाले देवता ही साक्षी है। मैं कभी वचना नहीं करुगी।
उद्देश्य सप्तम पद में सखित्व आनुकूल्य अनुगामित्व की याचना है। जो सुखमय

कन्या के द्वारा कथनीय श्लोकों में पाठ भेद देखने में मिलता है। लोकोक्ति में यह प्रसिद्ध है कि साथ साथ सात पग चलने पर मित्रता हो जाती है। सता साप्तपद सख्यम् यह शास्त्रोक्ति भी इस विषय में प्रख्यात है। सात पग इकटठा चलने पर सत्पुरुषों में मैत्री मानी जाती है। स्त्री और पुरुष साख्य भाव होने पर ही दाम्पत्य जीवन सुखमय रहता है। सप्तपदी में सात बातें बताई गई हैं। इससे लोकव्यवहार की दाम्पत्य की पूर्णता होती है। विवाह का चतुर्थ अग सप्तपदी है। इसका अर्थ है सात पगचलना या सात स्थानों का अधिकारिणी बनाना क्योंकि पद शब्द का दोनो ही अर्थ है। ग्राहस्थ्य जीवन का साधन भूत वें सातों स्थान है। जिनकी रक्षा और वहन स्त्री को करना है। सख्यभाव वामाडगामित्व सहधर्मचारिता सहचारिता ये सभी धर्म वधू में सप्तपदी के अनन्तर पूर्णतया आ जाते है। वामाडगी का विशेष आशय है कि पुरुष के वामवक्ष स्थल में हृदय होता है वहा ही स्त्री को स्थान दिया जाता है। इसीलिए वधू को हृदयवल्लभा प्राणप्रिया आदि शब्दों से सबोधित किया जाता है।

वहा यह भी स्मरणीय है कि कन्या का गोत्र परिवर्तन सप्तपदी के अन्तर ही होता है। अर्थात् पति के गोत्र का भागी होती है।

स्वगोत्रात् भ्रश्यते नारी विवाहात् सप्तमे पदे।
पतिगोत्रेण कर्तव्या तस्या पिण्डोदक क्रिया।। वृह

ध्रुव दर्शन या सूर्य दर्शन

सप्तपदी के अनन्तर दृढपुरुष द्वारा धारण घट जल से वर वधू और स्वय को अभिषेक करने के अनन्तर दिवा लग्न में वधू को सूर्य दर्शन और रात्रिलग्न में ध्रुव का दर्शन समन्त्रक करावे।

सूर्य दर्शन का अभिप्राय यह है कि वह सूर्य से शक्ति प्राप्त कर १ वर्ष तक जीवित रहे क्यों कि सूर्य स्थावर जगम की आत्मा है।

ध्रुव दर्शन का अभिप्राय यह है कि उसे ध्रुव की भाति स्थिरता का सकेत दिया जाता है। अन्य तारे सारी रात पूर्व पश्चिम जाते देखे जाते हैं और पश्चिम में जाकर अस्त हो जाते हैं। परन्तु ध्रुव अपने ही स्थान पर उत्तर दिशा में स्थिर रहता है। जरा भी टस से मस नहीं होता। यही बात स्त्री को दर्शायी जाती है। चचल स्वभाव वाली स्त्रियों के लिये ध्रुव से बडी शिक्षा लेनी चाहिए।

सेन्दूर दान

ध्रुव दर्शन के अनन्तर वर वधू का समन्त्रक हृदया लम्बन कर वधू के सीमन्त पर सुमडगलीरियम्, इत्यादि मन्त्र से सिन्दूर दान करे। सिन्दूर स्त्रियों का सौभाग्य सूचक है।

अत सुभगा स्त्रियों को कभी भी सिन्दूर रहित नहीं रहना चाहिए। मत्र से विवाह में देवता से यही प्रार्थना की जाती है कि आप ोग इसे सौभाग्य देकर ही अपने स्थान पर जायें।

यहा यह ध्यातव्य है कि पारस्कर गृह्य सूत्र में अभिमत्रयते शब्द का प्रयोग है। सिन्दूरदान का कही प्रयोग नहीं है। इसके भाष्यकार आचार्य कर्क जयराम हरिहर गदाधर विश्वनाथ ने अपने भाष्यों में अथैनामभिमन्त्रयते सूत्र की यथावत् या वरो वधूम भीममत्रयत के अतिरिक्त सिन्दूरदान शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

हरिहर भाष्य के नीचे अथ पद्धति शब्द से जो विवाह क्रम या पद्धति कही गई है उसमें सुमडगलीरियम् मत्र के अनन्तर लिखा है। कि अथात्र शिष्टाचारात् वधू वरस्य वामभागे उपवेशयन्ति तस्या सीमन्ते वरेण सिन्दूर दायन्ति। गदाधर ने अपनी भाष्य में सिन्दूर की चर्चा कर वर एना वधू, सुमडगलीरित्यनेन मत्रोणाभिमन्त्रयते। मत्राचाराच्चतस्र सुभगा अपि। सौभाग्यमस्यै दद्युस्ता मगलाचारपूर्वकम् इति।

गदाधर भाष्य के नीचे अथ विवाहे पदार्थ क्रम से प्रारम्भ कर विवाह कृत्य का वर्णन है जिसमें वर के अभिमन्त्रण के बाद मत्राचारातृस्त्रिय सिन्दूर दानादिकुर्वन्ति लिखा है।

इसके अतिरिक्त स्मृतियों में सिन्दूरदान की चर्चा स्पष्ट हुई है।

वामे सिन्दूर दाने च वाये चैव द्विरागमे। वामभागे च शय्याया नाम कर्म तथैव च।।

यदि इसे आचार ही माना जाय तो भी अशास्त्रीय और मनमानी नहीं माना जा सकता। काठक गृह्य सूत्र आचरिकाणि २५/७की टीका में अस्मिन्नवसरे आचारिकाणि आचारादागतानि दे श जातिकुलधर्मतया प्रसिद्धानिकर्माणि कारयेत् यही ब्रह्मबल ने लिखा है अस्मिन्नवसरे देशजातिकुलोचिताना मडगल्याना ना कर्मणां काल यही आदित्यशरण ने लिखा है-अस्मिन् अवसरे आचारिकाणि कुर्यात् देशजातिकुलव्यवस्थया स्थितानि। अशास्त्रार्थमितिन प्रतिबध्नीयात्।

उक्त सन्दर्भो से यह सिद्ध है कि सिन्दूर दान की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। भारतवर्ष में सिन्दूर पद वाच्य सभी जातियों की स्त्रिया सौभाग्य सूचक सिन्दूर रूपी महान् आभूषण धारण करती चली आ रहीं हैं। विधवा और अविवाहिता कुमारी इसे नहीं लगाती हैं। जैसे द्विजातियों का चिन्ह यज्ञोपवीत है इसी प्रकार सौभाग्यवती स्त्रियों का यह चिन्ह है। इस विषय में सीता जी के कथन पर हनुमान जी का सिन्दूर लगाने की कथा स्मरणीय है।

सेन्दूर में पारा का भी योग (अश) रहता है। पारा ऐसा चञ्चल और अस्थिर पदार्थ सेन्दूर में दृढ और स्थिर हो जाता है। ऐसे सिन्दूर लगाने का अभिप्राय यह है कि तू भी इसी के समान स्थिर और दृढ हो जाओ। और पारा ही के तरह चाञ्चल्य को छोड दो।

"ज्योतिष-एक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य"

• डॉ अरुण कुमार पाण्डेय

पन्चाङग विभाग स स वि वि वाराणसी

प्रकाशमान ग्रह नक्षत्र पिण्डों के आधार के मध्यवर्ती जितने भी चराचर जीव तथा पञ्च महाभूत तीनों गुण (सत्व रज तम) सप्त धातु के प्रभाव से ही उत्पन्न होते हैं। कहीं पार्थिवाश अधिक तो कहीं जलाश अधिक। कही तैजस पदार्थ की प्रधानता है और कहीं वायु तत्व की प्रधानता है। किसी जगह आकाश तत्व की प्रधानता है तो कहीं सत्व गुणाधिक्य देखा जाता है। कहीं रजो गुण का बाहुल्य होता है और कहीं तमों गुण की अधिकता देखी जाती है।

आचार्य वाराहमिहिर ने कहा है

गुरु शशिरवय सत्वरज सितज्ञौतमोऽर्कसुतभौमो।
एतेऽन्तरात्मन स्वा प्रकृति जन्तो प्रयच्छन्ति।।

यदि रवि ग्रह बली होगा तो पित्त की अधिकता होती है। यदि चन्द्रमा कुण्डली में सबल हो तो कफ की प्रचुरता शरीर में होगी। यदि मगल बली है तो रक्ताधिक्य शरीर में होगा। इस प्रकार से किसी को मासाधिक्य होता है। किसी की हड्डी स्थूल होती है। किसी के शरीर में रोम अधिक होते है तथा कोई लम्बा कोई नाटा कोई लगडा अन्धा काना बहिर और कोई विकलाङग होता है। यह सब ग्रह योग बल से जाना जा सकता है। जिसका पूर्व जन्म में जिस प्रकार का कर्म होता है उसी के अनुसार जीव शुभाशुभ योग में जन्म लेता है। अत कर्म के वशीभूत होकर जीव शुभाशुभ का फल भोग करता है। आचार्य मिहिर के अनुसार

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मण प्राप्तिम्।
व्यञ्जयति शास्त्रमेवत्तमसि द्रव्याणि दीप इव।।

वास्तव में पूर्व जन्म में किया गया कर्म प्रारब्ध रुप में अथवा भाग्य शब्द से व्यवहार किया जाता है।

पूर्व जन्म कृतं कर्म तद्दैवमितिकथ्यते।
अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्।

इसका ज्ञान ज्योतिष शास्त्र द्वारा ही होगा। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र तीन स्कन्धों में विभक्त है

१ होरा स्कन्ध जन्म कुण्डली फल का विचार तथा संस्कारादि के मुहूर्त ग्रन्थ भूमिशोधन के लिए वास्तु विद्या तात्कालिक फल जानने के लिए वर्ष फल साधन करने के लिए ताजिकग्रन्थ और शरीर के अंगों के लक्षण का शुभाशुभ विचार करने वाले सामुद्रिक ग्रन्थ से ये सब मिलकर ज्योतिष शास्त्र के होरा स्कन्ध का प्रतिष्ठापन करते हैं। होरा स्कन्ध के ग्रन्थ बृहज्जातकम् होरारत्न जातकपरिजात भावकुतूहल सामुद्रिक शास्त्र इत्यादि।

२ यह संहिता स्कन्ध दूसरा स्कन्ध है। ग्रहों की गति द्वारा समस्त विश्व का शुभाशुभ ज्ञान फसल विचार तेजी मंदी वर्षा विचार भूमि कम्प उल्कापात धूमकेतु का उदय इत्यादि क्यों होता हैं। किसका क्या फल है। इसका विचार संहिता ग्रन्थों के आधार पर होता है। संहिता ग्रन्थों में गर्ग संहिता वसिष्ठ संहिता भृगु संहिता नारद संहिता बृहत्संहिता इत्यादि ग्रन्थ है।

३ तीसरा स्कन्ध सिद्धान्त है। सिद्धान्त का लक्षण आचार्य भास्कर ने कहा है सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ में

सृट्यादि प्रलयान्त काल कलनामान
प्रभेद क्रमच्चारश्चद्युसदा द्विधा च गणित प्रश्नास्तथासोत्तरा ।
भूधिष्ण्य ग्रहसंस्थितेश्च कथन यन्त्रादि यत्रोच्यते।
सिद्धान्त स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्ध प्रबन्धे बुधै ।।

सृष्टि से ले करके प्रलय पर्यन्त काल की गणना तथा काल के विभिन्न प्रकार के मान का सम्पादन तथा ग्रह गति के सम्बन्ध में विचार गति कितने प्रकार की होती है ? व्यक्त गणित तथा अव्यक्त गणित प्रश्न तथा प्रश्न का समाधान तथा ग्रह नक्षत्र पृथ्वी की स्थिति इत्यादि का प्रतिपादन जिस ग्रन्थ में है। ग्रहवेध क्रान्तिज्ञान करने के लिए यन्त्र का प्रतिपादन जिस ग्रन्थ में हो उसे सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धान्त में पाटी गणित बीज गणित रेखा गणित त्रिकोणमिति गोलीयरेखा गणित चापीय त्रिकोणमिति प्रतिभाज्ञान ग्रहण श्रृगोन्नति ग्रहयुति ग्रहों का वक्रमार्गसाधक पडचाग निर्माण इत्यादि सिद्धान्त ज्योतिष के समग्र ज्ञान के लिए उपयोगी पदार्थ हैं। जितनी संख्याओं का प्रतिपादन भारतीय ज्योतिष में है उससे अधिक आपको कहीं नहीं उपलब्ध हो सकता है। आचार्य भास्कर ने लीलावती में कहा है

एकदश शत सहस्रायुत लक्षप्रयुत कोटय क्रमश ।
अर्बुदमब्ज खर्वनिखर्व महापद्म शङ्कवस्तस्मात्।।

जलधिश्चान्त्य मध्य परार्धमिति दश गुणोत्तरा सज्ञा।
सख्याया स्थानाना व्यवहारार्थकृता पूर्वै।।

एक १ दश १ शत १ सहस्र १ अयुत १ लक्ष १
प्रयुत १ कोटि १ अर्बुद १ अब्ज १
सर्व १ निखर्व १ महापद्म १
शङ्कु १ जलधि १ अन्त्य
१ मध्य १
परार्ध १ ।

अटठारह अडको की सख्याओं का उपयोग होता रहा। ऐतिहासिक विडम्बनाओं को फैलाने का जो पाश्चात्यों का मत है सभी ऐतिहासिक समीकरण जो भी हैं सब ईसा को मानक मानकर ही निर्देश किया गया है। वैदिक काल का निर्धारण पौराणिक काल का निर्धारण अथवा महाभारत काल का निर्धारण पाश्चात्यों ने आधारहीन विन्दुओं को मानक मान करके ही दुष्प्रचारित किया है। भारतीय मस्तिष्क भारतीय इतिहास न पढकर वह विदेशी इतिहास पढता है तो उसकी छाप उसके मस्तिष्क पर पडेगी ही। जैसे न्यूटन की **गुरुत्वाकर्षण शक्ति की खोज** आज भारतीय वैज्ञानिक एव विदेशी वैज्ञानिक दोनों ही न्यूटन को अपना आचार्य मानते हैं। क्योंकि उन्होंने आचार्य भास्कराचार्य की आकर्षण शक्ति से सम्बद्ध विचारों को नहीं पढा अथवा यह जन सामान्य को ज्ञात नहीं है या भास्कराचार्य के विचारों को महत्व देना नहीं चाहा।

आकृष्टिशक्तिश्च महीतयायत् खस्थगुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात्क्व पतत्वियखे।।

इसका अभिप्राय है कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है। इसीलिए आकाशस्थ (वजनी) गुरु पदार्थ को पृथ्वी अपनी तरफ खींचती है। इसी खिचाव के कारण गुरु पदार्थ पृथ्वी पर गिरता हुआ दिखाई पडता है। यही कल्पना न्यूटन ने अपने सेब के बगीचे में बैठकरके सेब के वृक्ष से सेब क्यों नीचे ही आता है ऐसी कल्पना किया जब कि परम सत्य यही है कि आज भी ज्योतिष सत्य है पहले था और भविष्य में भी रहेगा।

यह तो एक सामान्य बात है कि गुरुजी ने बन्दर से ही मानव जाति के सृष्टि क्रम को विकसित होना बताया तो भारतीय मस्तिष्क का अबोध बालक पढकर यही कहेगा कि मानवीय सृष्टिक्रम का मूल बन्दर ही है।

"सङ्कल्पमूलाकामो वै यज्ञा सङ्कल्पसभवा ।

शुभाशुभ कार्य तथा यज्ञादिक कर्म सबके मूल में सकल्प ही है। यहा तक कि

सृष्ट्यारम्भ भी सकल्प मूलक ही है। तथा सकल्पार्थ के द्वारा ऐतिहासिक भ्रान्तियों को समाधान भी हो जाता है।

ॐ नम परमात्मने श्री पुराणपुरुषोत्तमस्य श्री विष्णोराज्ञया प्रर्वतमानस्याद्य श्री ब्रह्मणो द्वितीय परार्द्धे श्री ब्रह्मणोऽह्नि श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वत मन्वन्तरेऽष्टाविश तितमे कलियुगे प्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भरतखण्डे आर्यावर्तान्तर्गत ब्रह्मावर्तैकदेशे पुण्यप्रदेशे बौद्धावतारे वर्तमाने यथा नाम सवत्सरे आमुकायने अमुक गोले स्थिते श्री सवितरि मासानाम्, उत्तमे मासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासारान्वितायाम्।

अस्तु कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होने वाले सकल्प जिसको इस समग्र कर्मकाण्ड का मूल माना जाता है उसके अभिप्राय को ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

पुराणपुरुषोत्तमविष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य।

इसका अभिप्राय है जैसा कि श्रुति वाक्य है **एकोऽह बहुस्याम्।** भगवान विष्णु की इच्छा से सृष्टि क्रम का विस्तार है लेकिन ज्योतिष शास्त्र कें अनुसार दिन के बाद रात्रि तो रात्रि के बाद दिन को आना ही है। यह ब्रह्मा जी के जीवन लीला से सम्बद्ध है। ब्रह्मा के दिनमान से ब्रह्मा की आयु १ वर्ष है।

निजेनैव तु मानेन आयुर्वर्षशत स्मृतम्।
तत्पराख्यं तदर्धं तु परार्धमभिधीयते।

तथा सूर्य सिद्धान्त में भी कहा है कि **आयुषोऽर्धमित तस्य** ब्रह्मा की आधी आयु व्यतीत हो चुकी है। तथा आधी आयु का यह प्रथम दिन है। ब्रह्म दिन सज्ञा कल्प से सम्बोधित होता है। **"कल्पो ब्राह्ममह प्रोक्त शर्वरीतस्य तावती।**

कल्प ब्रह्मा का दिन होता है तथा रात्रि मान भी कल्प तुल्य ही होता है। एक कल्प ४ अरब बत्तीस (३२) करोड सौर वर्ष है। यह मानव वर्ष है। इस प्रकार ब्रह्मा जी के एक माह में तीस दिन होते हैं और तीसो दिनों का नाम इस प्रकार है। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार **शब्द कल्पद्रुमे "कल्पान् कल्प विकल्पौच** चतुर्थम विकल्पितान्। कल्पान्तस्य स्वरूपश्च युग धर्मश्च कृत्सश । **त्रिशदिभ कल्पै ब्रह्मणो मासो भवति।**

कल्पों का नाम इस प्रकार है

१ श्वेत वाराह कल्प २ नील लोहित कल्प ३ वामदेव कल्प ४ गाथान्तर कल्प ५ रौरव कल्प ६ प्राण कल्प ७ बृहत्कल्प ८ कन्दर्प कल्प ९ सत्य कल्प १ ईशान कल्प ११ ध्यान कल्प १२ सारस्वत कल्प १३ उदान कल्प १४ गारुड कल्प १५ कौर्म कल्प।

अय कल्पो ब्रह्मण पौर्णमासीत्युच्यते। ये कल्प ब्रह्मा जी के शुक्लपक्ष के हैं तथा कौर्मकल्प ही ब्रह्मा जी की पूर्णमासी तिथि है।

१६ नारसिह कल्प १७ समाधि कल्प १८ आग्नेय कल्प १६ विष्णुज कल्प २ सौर कल्प २१ सोम कल्प २२ भवन कल्प २३ सुप्तमाली कल्प २४ वैकुण्ठ माली कल्प २५ आचिकि कल्प २६ वाल्मीकि कल्प २७ वैराज कल्प २८ गौरी कल्प २६ माहेश्वर कल्प ३ पितृ कल्प पितृ कल्प ब्रह्मा जी की अमावस्या होती है। तथा अमावस्या की समाप्ति के बाद पुन शुक्ल पक्ष का आरम्भ हो जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मा जी के मास का वर्णन हुआ। एक ब्राह्म दिन कल्प में १४ मनु का काल सन्धि के साथ व्यतीत होता है। चौदह मनु का नाम इस प्रकार १ स्वायभू मनु २ स्वारोचिषमनु ३ उत्तम मनु ४ तामस मनु ५ रैवत मनु, ६ चाक्षुष मनु ७ वैवस्वत मनु ८ सावर्णि मनु ६ दक्ष सावर्णि मनु १ ब्रह्म सावर्णि मनु ११ धर्म सावर्णि मनु, १२ रुद्र सावर्णि मनु १३ रौच्य मनु १४ भौव्यक मनु मनु का काल = ७१ × ४३२ = ३ ६७२ तीस करोड सडसठ लाख बीस हजार सौर वर्ष होता है। इस एक मनु के काल में ७१ महायुग व्यतीत होते हैं। उसके बाद १७२८ सौर वर्ष सन्थि का काल होता है। उसके बाद अगले मनु की प्रवृत्ति होती है। वर्तमान कल्प श्वेत वाराह कल्प तथा इस कल्प के छ मनु का काल व्यतीत हो चुके है।

६ × ७१ × ४३२ = १८४ ३२ सौर वर्ष तथा सात सन्धि का काल = १२ ६६ सौर वर्ष व्यतीत हो चुका है। वर्तमान में वैवस्वत मनु का काल चल रहा है। वैवस्वत मनु के काल का **युगाना त्रिघनोगत** । इति सूर्य सिद्धान्ते २७ बार महायुग व्यतीत हो चुके है।

२७ × ४३२ = ११६६४ ग्यारह करोड छ्याछठ लाख चालीस हजार सौर वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। अटठाइसवें महायुग का सत्युग युग का १७२८ सतरह लाख अटठाइस हजार वर्ष त्रेता = १२६६ बारह लाख छान्वे हजार वर्ष सौर वर्ष तथा द्वापर = ८६४ आठ लाख चौसठ हजार वर्ष तथा वर्तमान में कलियुग का सन्ध्या काल चल रहा है। लेकिन सकल्प में इसे **"कलियुगे कलि प्रथम चरणे** की सज्ञा दी गयी है। यह काल = ५१ २ = पाच हजार एक सौ दो वर्ष व्यतीत हो चुके है। तीसरा वर्ष प्रवृत्त है। इस प्रकार कल्प मन्वन्तर महायुग तथा सत्युगादि के ख्यापन के बाद भूगोल की स्थिति का सम्यग् विचार किया जाता है।

भूमेरर्ध क्षारसिन्धोरुदकस्थ जम्बूद्वीप प्राहुराचार्यवर्या ।
अर्थेऽन्यस्मिन् द्वीपषट्कस्ययाम्ये क्षारक्षीराद्यम्बुधीना निवेश ।।

सि शि गो

भूमि के मध्य भाग में स्थित क्षार सिन्धु के उत्तर वलयाकार जम्बू द्वीप है। तथा क्षार समुद्र के दक्षिण दूध दही इक्षु, मद्य तथा स्वादु जल गुणों से युक्त समुद्रो की स्थिति है।

उक्त समुद्रों के बीच छ द्वीपों की स्थिति है। क्षार और क्षीर गुण युक्त समुद्र बीच शाक द्वीप है। क्षीर गुण युक्त तथा दधि गुण युक्त समुद्र के बीच शाल्मलिद्वीय तथा घृत गुण युक्त समुद्र के बीच कौशद्वीप है। धृत गुण युक्त इभु रस गुण युक्त समुद्र के मध्य में कौञ्च द्वीप है। इक्षु रस गुण सम्पन्न तथा मद्य गुण युक्त समुद्र के बीच गोमेदक द्वीप है। मद्व गुण युक्त समुद्र तथा स्वादु जल युक्त समुद्र के बीच में पुष्कर द्वीप की स्थिति है। इस **सप्त दीपा चमेदिनी** प्रकार जम्बूद्वीप तथा अन्य ६ द्वीपों की स्थिति है।

जम्बू द्वीप के मध्य में नौ खण्ड हैं। शून्य अक्षाश पर लका स्थित है जो वर्तमान काल में समुद्र गर्भ में है। भूमध्य रेखा पर चार नगरों की स्थिति है। लका से ६ पूर्व यम कोटि पश्चिम रोमकपत्तन और लका से १८ पर सिद्धपुर नामक नगर की स्थिति कही गयी है। जम्बू द्वीप के नव खण्ड १ भारतवर्ष २ किन्नर वर्ष ३ हरिवर्ष ४ कुरुवर्ष ५ हिरण्यमय ६ रम्यकवर्ष ७ भद्राश्व वर्ष ८ केतुमाल ६ इलावृत्त। इस प्रकार जम्बू द्वीप के नव खण्डो में विभक्त माना जाता है।

भारत वर्ष के नवखखण्ड १ ऐन्द्रखण्ड २ कशेरु खण्ड ३ ताम्रपर्णखण्ड ४ गभस्तिमत् खण्ड ५ कुमारिका खण्ड (भरत खण्ड) ६ नाग खण्ड ७ सौम्य खण्ड ८ वरुण खण्ड ६ गन्धर्व खण्ड है। आचार्य भास्कर ने सिद्धान्त शिरोमणि में लिखा है

वर्ण व्यवस्थितिरिहैव कुमारिकाख्ये शेषषु चान्त्यज जना निवसन्ति सर्वे।

वर्ण व्यवस्था कुमारिका खण्ड में ही है। **बौद्धावतारे** आठ अवतार तो हो चुके हैं। दश प्रमुख माने जाते है। वैसे अवतारों की सख्या अधिक है। हेमाद्रि के अनुसार १ प्रधान अवतार हैं।

१ मत्स्य २ कूर्म ३ वाराह ४ नृसिहावतार ५ वामन ६ परशुराम ७ राम ८ कृष्णावतार ६ बौद्धावतार १ कल्कि अवतार है। लेकिन ईश्वर का प्राकटय बौद्धावतार के रुप में आसन्न हुआ है। इसलिए बौद्धावतार का उल्लेख हुआ।

वर्तमाने यथानाम सवत्सरे

"कल्पादितो मध्यमजीवभुक्त्या येराशय षष्टिहृतावशेष ।
सवत्सरास्ते विजयाश्विनाद्याइतीज्यमान किल सहितोक्तम्।

सवत्सर का अभिप्राय बृहस्पति मान का उल्लेख होना कल्पारम्भ से जितने वर्ष व्यतीत हो चुके हैं उसमें ६ का भाग देने से जो शेष बचता है वही विजयादिक (६) साठ सवत्सर में से वर्तमान सवत्सर होता है। कभी कभी लुप्त सवत्सर भी हो जाता है।

मुहूर्तकल्पद्रुमे **चेत् स्पष्ट्या वाऽत्यथ मध्यगत्या राश्यन्तरं यत्रा च चान्द्रवर्षे ।**
गुरुर्नयायादधिवत्सरोऽधिमासेन तुल्य सशुभेषु वर्ज्य ।

लुप्त सवत्सर चान्द्र वर्षारम्भ में जो सवत्सर है वह समाप्त होकर तथा उसी चान्द्र वर्ष में एक सवत्सर समाप्त होकर दूसरे की प्रवृति अगले चान्द्र सवत्सर आने के पहले

प्रारम्भ हो जाय उसे लुप्त सवत्सर कहते हैं तथा उस वर्ष शुभ कर्मों तथा काम्य कर्मों का अनुष्ठान नही करना चाहिए।

उत्तर गोले अथवा **दक्षिण गोले** स्थिते सवितरि गोल दो प्रकार का है। उत्तर गोल और दक्षिणी गोल। इस प्रकार ब्रह्माण्ड गोल को नाडी वृत्त (विषुववृत्त) दो समभागों में बाटता है। उत्तर तरफ उत्तरी गोल दक्षिण तरफ दक्षिणी गोल सायन मेष राशि पर सूर्य जिस क्षण होता है उसी समय उत्तर गोल में भी सूर्य प्रविष्ट होता है। सायन तुला राशि में जब सूर्य सक्रमण करेगा तो दक्षिण गोल में सूर्य प्रविष्ट होगा। सकल्प आदि का जितने भी धर्म शास्त्रादि सम्मत कृत्य होंगे उसमें निरयण ग्रह ही ग्रहण किया गया है।

अयन दो प्रकार का होता है। प्रथम उत्तरायण सूर्य जब मकर राशि पर सक्रमति होता है। दूसरा दक्षिणायन सूर्य जब कर्क राशि पर प्रविष्ट होता है।

अमुक ऋतौ ऋतु छ प्रकार की होती हैं। १२ माह में दो दो माह की एक ऋतु होती है। मीन मेष पर जब तक सूर्य भोग करता है तो बसन्त ऋतु होती है। वृष एव मिथुन राशि पर भोग काल में ग्रीष्म ऋतु रहती हे। कर्क तथा सिह राशि पर सूर्य भोग करता है तो वर्षा ऋतु होती है। कन्या तथा तुला राशि पर सूर्य के सचार काल को शरद ऋतु कहा जाता है। वृश्चिक तथा धनु राशि के सूर्य सक्रान्ति में हेमन्त ऋतु होती है। मकर एव कुम्भ के सूर्य की सक्रान्ति को शिशिर ऋतु कहा जाता है। इस प्रकार छ ऋतुओं का काल सकल्प में जोडा जाता है।

अमुक मासें अमुक पक्षे

चान्द्र मास १२ होती है। पूर्णिमा के दिन नक्षत्र सयोग से मास का नाम आधारित जैस चैत्र पूर्णिमा के दिन चित्रा नक्षत्र प्राय पडता है। बैशाख पूर्णिमा को विशाखा नक्षत्र पडता है। इसलिए वैशाख मास का नामकरण हुआ। इसी प्रकार शेष महीनों का नामकरण है। सकल्प में चान्द्रमास का ही उच्चारण किया जाता है। **अमान्ता दमान्त भवेच्चान्द्र मास ।** एक अमावस्या से लेकर दूसरे अमावस्या तक चन्द्र मास होता है। सृष्टयारम्भ काल में **लका नगर्यामुदयाच्च भानो तस्यैववारे प्रथम बभूव मधोसितादेर्दिन मास वर्ष युगदिकाना युगपत् प्रवृति ।** सृष्टि क्रम चैत्र शुक्ल पक्ष से प्रवृत हुआ।

नर्मदा के दक्षिण दिशा में अमावस्या से अमावस्या तक है। चान्द्र मास एक चान्द्रमास मानकर सकल्पादिक करते हैं। नर्मदा के उत्तर शुक्ल चैत्र पूर्णिमा को समाप्त हो करके पुन वैशाख मास की प्रवृति हुई ऐसा नर्मदा के उत्तर सकल्पादिक में योजना की जाती हैं। चान्द्रमास और सौरमास दोनों की गणना यें परस्पर समानान्तर चलती रहे। इसीलिए अधिक मास की व्यवस्था है। एक चन्द्रमास में २६ दिन ३१ घटी ५ पल सावन दिन होते हैं। ३२ मास १५ दिन ३१ घटी २८ पल २७ विपल सौरमास व्यतीत होने पर एक अधिक मास आता है। वह चान्द्रमास के जिस महीनों में आता है वही उसकी सज्ञा हो जाती है। शुक्ल अथवा कृष्ण पक्ष के अनुसार इसका उच्चारण किया जाता है। इसमें अधिक मास

का विशेषण लग जाता है।

अमुक करणे तिथ्यर्धकरण तिथि के आधे भाग के काल को करण कहते हैं। इस प्रकार एक तिथि में दो करण हुए।

अमुक वासरे वासर की उपपत्ति ग्रहों के कक्षा क्रम से जैसे रविवार है तो रविवार के समय उदय काल में पहली सूर्य की होरा थी तो दूसरे दिन २५वीं होरा चन्द्रमा की होगी उसके बाद २५वीं होरा मगल की होगी। इस प्रकार क्रमानुसार वारिधिपति की होरा प्राप्त होती रहती है और वार प्रवृत्ति बदलती रहती है।

गोत्रा प्रवर का उच्चारण किया जाता है। गोत्रा सख्या लगभग २ से भी अधिक है। प्रवर चार प्रकार के है। एक प्रवर **वसिष्ठानामेकार्षेय** (का प्र अ) वसिष्ठ गोत्रा का एक प्रवर होता है। द्विप्रवर घृतकौशिक गोत्रा वालों का होता है। त्रिप्रवर गौतम शडिल्य भारद्वाज इत्यादि गोत्र के है। चार प्रवर किसी का नहीं होता है। शेष पञ्च प्रवर है। जैसे गर्ग गार्ग्य वत्स इत्यादि है। पञ्च प्रवर के अतिरिक्त आगे प्रवर गणना क्रम प्राप्त ही नहीं है। **न पषत् वृणीते** (का प्र अ) है। ब्राह्मणों के पूर्व ऋषि जो मन्त्रा दृष्टा ऋषि थे उनके नाम से गोत्रा प्रवर्तित हुआ और उन्हीं के तात्कालिक पूर्व ऋषियों के नाम का उच्चारण किया जाता है।

कर्मकाण्ड शुरु करने के पहले मुहूर्त्त ज्ञान आवश्यक है। सभी सस्कारों का अन्य लौकिक कार्यों का भी निश्चित मुहूर्त्त होता है। जिस मुहूर्त्त का ज्ञान ज्योतिष द्वारा ही जाना जा सकता है। कुछ श्रौत यागों का मुहूर्त्त इस प्रकार है। अग्न्याधान का मुहूर्त्त **अमावास्यायामग्न्याधेयम्** का श्रौ सू अमावास्या तिथि को अग्न्याधान लिया जाता है। अमावस्या तिथिका निर्णय ज्योतिष के द्वारा ही सम्भव है। पुन नक्षत्रों का उल्लेख है। **कृत्तिका रोहिणी मृगशिर फल्गुनीषु** ।

अमावास्या तिथि के विकल्प में चार नक्षत्रों का उद्धरण किया गया है। काम्य प्रयोग के लिए मृतुओं तथा नक्षत्रों का विधान किया गया है। **हस्तोलाभकामस्य** (का श्रौ सू) यदि लाभ कामना हो चातुर्मास्य याग का अनुष्ठान फाल्गुन पूर्णिमा को प्रारम्भ करना चाहिए। **पशिवज्या सवत्सरे सवत्सरे प्रावृषि** पशुयाग का अनुष्ठान प्रत्येक वर्ष वर्षाऋतु में करना चाहिए। **आवृत्तिमुखयोर्वा** (का श्रौ सू) अयन प्रवृति के दिन ही पशुयाग का अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार कर्क सक्रान्ति के दिन एव मकर सक्रान्ति के दिन ही निरुद पशुयाग का अनुष्ठान करना चाहिए। **वसन्तेऽग्निष्टोम** (का श्रौ सू) बसन्त ऋतृ में सोमयाग का अनुष्ठान करना चाहिए। **पुण्याहे दीक्षा क्रम प्रसवोत्थाने** (का श्रौ सू) यजमानदीक्षा सोमक्रय तथा सुत्या एव समाप्ति पुण्य तिथि में करना चाहिए।

इस प्रकार उपयुक्त अमावास्या अयन प्रवृत्ति बसन्त ऋतु हस्त चित्रा रोहिणी आदि नक्षत्रों का ज्ञान ज्योतिष द्वारा ही जाना जा कसता है।

अन्त्येष्टि कर्म एक वैज्ञानिक अध्ययन

• डॉ फणीन्द्र कुमार मिश्र

अयरिमित समग्र वैराञ्च प्रपञ्च में अपने उद्भवकाल से ही अर्थ सतति आर्यजाति आचारान्त व्यवहारगत एव सैद्धान्तिक आदर्शों की नितनवोन्मेषणतया उद्ग्राहिका एव सग्राहिका रही है। उसका यह आदर्शोद्ग्रहण सग्रहण किसी देश जाति या किसी अन्य मानवेतर प्रादुर्भूति का अनुकरण नहीं अपितु उन्मुक्त अनन्त ब्रह्माण्डनिष्ठ शाश्वत ज्ञान के साक्षात्कार का परिणाम होने से अनादि मौलिक है।

यहा अनन्त ब्रह्माण्डनिष्ठ शाश्वत ज्ञान के साक्षातकार का आशय यह है कि आर्य दर्शन अद्वैत वेदान्तर में ज्ञान ही ब्रहूम है। और ज्ञान ही हैं भगवान वेद शब्द विद् धातु में धन् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। विद् धातु निम्नाकित अर्थो में प्रयुक्त होता विद् ज्ञाने विद विचारणे विद् सत्तायाम् विद लाभे। ज्ञान सच्चिदानन्दात्मक निराकार निर्मर्वकार सर्वव्यापी एव शाश्वत् है वैसे ही भगवान् वेद भी निराकार निर्विकार सर्वव्यापी एव शाश्वत हैं। भगवान वेद अपौरुषेय ही नहीं अपितु अनादि एव अनन्त भी हैं। उसी अनन्त वेद वयु के अवयवायवयवरूपा ऋचाओं का नित्य साक्षात्कार सिद्ध था

आर्य पूवर्ज ऋिषियों को ऋषय मन्त्रद्रष्टार ।

इसी ऋकसिन्धू सन्देश न मन्थन एव अध्यसन क्रम में उन्हें जो असख्य अमूल्य आदर्श लोपलब्धि हुयी–उन्हीं उपलब्ध असख्य अमूल्य आदर्श रत्नों में सस्कार भी ब्यवश्रय ही अभिगण्य हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि हम देश जाति एव समुदाय अपने समयानुकूल स्थान काल पात्र परिस्थिति के अनुरूप आदर्शो को सगृहित एवं अडिकृत करते हैं। अतएव उनके आदर्श तत्तत् स्थान काल पात्र परिस्थिति म ही आदर्श सिद्ध होते हैं। परन्तु आर्यो के आज म मृत्यु सर्वाडीणआदर्श अखण्डाण्डमण्डल के अविच्छिन्न चराचर के लिए सर्वकारलीन अनुपयोगी होते हैं। या सार्वभौम सर्वश्रनीन सर्वकालीन होते हैं। इसका कारण सुस्पष्ट है कि ऋषियों के सारे धर्म कर्म अनन्त अनन्त के लिए होते हैं।

---

१ यही कारण है कि क्षमा दान तप त्याग औदार्य सहिष्णुता सतोष परदु खकातरता शौर्य पराक्रम अतिथि सेवा शरणागत वत्सलता सत्य सदाचार कर्तव्यनिष्ठा अहिंसा शौच अस्तेय इन्द्रियनिग्रह स्वायाय आदि आदर्शग्रन्थों के वृहद भाण्डागार जो आर्ष संस्कृति को समुपलब्ध हैं वे विश्व की किसी भी अन्य सस्कृति को कदापि उपलब्ध नहीं। यहीं कारण है कि विश्व की सारी इतर सस्कृतिया साम्राज्ञी स्वरूपा आर्ष सस्कृति के समक्ष रग सिद्ध हो जाती हैं।

ऋषियों द्वारा ऋचाओं से सस्कार की उपलब्धि पूर्वविदित हैं। इसका कारण है।

एकोड ह बहुस्याम की भावना से निखिलाचार पर ब्रह्मसृष्टि सतृति विस्तृति हे। प्रपञ्च मात्र है। प्रयञ्या विस्तार गुण दोष मय ही होता है गुणावगुण सारासार समन्वित ही होता है।

अतएव इस सृष्टि के अन्तहित ऋषि शरीर भी गुण दोष मय हुआ। पुन पाच भौतिक होने से भी गुण दोष भय हुआ विकारयुत हआ। पुन सत् रज तममयी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिस्थ होने से काम क्रोध मद मोह लोभ मातसर्य परक ऋषि प्रकृति प्रवृति भी विकारयुत हुयी।

इस प्रकार ऋषियों की वृध्दि एव शरीर दोष गुण ग्रस्त तो हुए परन्तु यह पहले ही निर्दिष्ट हैं। कि उन्हें ज्ञान का वेद का साक्षात्कार ऋचाओं के रप में मन्त्रों के रप में सुलभ था और ज्ञान वेदेनिर्विकार है निर्दोष है अतएव उस निर्दोष ज्ञान के द्वारा उन्हें अपने में समागत दोष दृष्ट हुए फिर बस इसी अपने में दोष दर्शन से उनमें तद्दोषनिवारणोपायान्वेषण की प्रवृति उदव्रध्द हुयी। इसी क्रम में उन्होनें वेद विहित सस्कारों का सग्रह किया।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान को पहले ही शाश्वत नित्य अविनाशी कहा गया है। इसके विपरीत अज्ञान सत्ता जो जीव में ज्ञान में आवरणरपा है। विच्छेपरूपा है। काम क्रोध मद मोह मात्सर्य दोषों की जनयिभी है। नश्वर भडगुर अनित्य विनाशशीला है फिर ऐसी अज्ञान सत्ता का विनाश विलय स्वाभाविक है फिर दोषों का अस्तित्व ही अनवश्यमीावी है। फिर वेद समाश्रयी के लिए वेद सन्निहित सस्कारों का सवरण सहज ही निर्विकल्प है।

तीसरी बात यह है कि ज्ञान सर्वव्यापी देश कालानवच्छेद्य है परन्तु अज्ञान देश कालावच्छेद्य। अतएव असानोपरिथति अज्ञानसत्ता सर्वदा सर्वत्र सर्वथा असम्भव है फिर ज्ञान के अस्तित्व प्रत्यक्ष में वेदसत्ता में तद्डगीभूत सस्कारों का सन्दर्शन वेदाश्रयी के लिए नैसर्गिकि नित्य है। इस प्रकार आर्ष सतति आर्यो द्वारा सस्कारों का अडीकार उनके नित्य अभेद्य स्वभाव का अश है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सस्कार विमर्शणीयततथ्य है। ऊपर उल्लिखित है कि यह आर्यों को अपने पूर्वजों से पैतृक सम्पदा बपौती धरोहर के रूप में प्राप्त है। इन्होंने इस सस्कार को किस अश तक आत्मसात किया है। इसकी अनुमिति इसी से लगायी जा सकती है। कि इन आर्यो ने अपनी भाषा अपनी बोली का नाम सस्कृत रखा अपने आचार व्यवहार एव अपनी रीति परम्परा के रूप में प्रागैतिहासिक काल से अक्षुण्णवत् अद्यावधि पर्य्यन्त ही नहीं अपितु सृष्क्रिमयावत् अन्तर्हित जातीय विशिष्टता को

१ विधि प्रपञ्च गुण दोष भय विश्व किन्हि करतार।
सत हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार।। रामचरितमानस

२ विधि प्रपञ्चगुण अवगुण ज्ञाना। रामचरितमानस

३ क्षिति जल पावकगगन समीरा पञ्चरचित अति अधम सरीरा।। रामचरित मानस

भी सस्कृति इस अभिधा से ही अभिहित किया। यह सस्कृति अर्थत अभेद सस्कार ही है। आर्य स्वय अपने स्वरूप को सस्कृत मानते हैं। इस प्रकार से आर्यों का अन्त वाहक बाहर भीतर सस्कार में सराबोर है। सल्लीन है। ऊपर लिखा गया है कि सस्कृति आर्य सस्कृति आप्रागैतिहासिककाल सृष्टिक्रम यावत् आर्यजात्यन्तर्गत प्रक्ष्यभिमुखी विशिष्टता है इसका आशय यह है कि आर्य पूर्व जन्म में विश्वास करते हैं उनका पुनर्जन्म क्रम आत्मज्ञान कैवल्य ब्रहम साम्रज्य आदि के पूर्व तक अनन्तर चलता रहता है। इसी क्रम में उनमें जन्म प्रतिजन्म उनके सस्कार भी वहनीय प्रतिवहनीय रूप में अग्रसर होते हैं। जब तक वे अपनी अन्तिम अवस्था को प्राप्त नहीं हो जाते। उनकी अतिम अवस्था परागति की प्राप्ति है अनेकजन्म ससिद्धि ततो याति पराडगतिम् श्रीमदगीता इस जन्म प्रति जन्म जन्म जन्मान्तर तक वहीनय प्रतिवहनीय उत्तरोत्तर वहनीय सस्कारों की सहिता ही सस्कृति होती है।

इतनी निरतर प्रगतिशील सुदीर्घ जीवन यात्रा तक करने के कारण ही आर्य सस्कृति का कहीं अन्यत्र से अनुकरणीय या सग्रहणीय कुछ सामग्री = आदर्श नहीं प्राप्त होते बल्कि वह स्वय समग्र विश्व के लिए अनुकरणीय एव सग्रहणीय है अमरकोश है। इस प्रकार सस्कारों से ही सस्कृति बनती है। तथा सस्कृति में ही सस्कारों का व्यवहारिक रूप वाह्य रूप स्थूल दृष्य होता है। यद्यपि करके दोनों परस्पर पर्य्याय हैं सम् + ह + धञ् सस्कार। सम् + ह + इक्तिन् सस्कृति। यथार्थत सस्कार मनुष्य के विनात जन्मों के अभ्यास विन्मों के भोग्याव शेष कर्मफल प्रारब्ध अदृष्ट क्षेम वीर्य माता पिता के सयोग सम्बन्ध पारिवारिक परिवेश मित्र मण्डली गुरु सन्निधि शिक्षा के विविध स्रोत जीवन की उद्वेलनकारी घटनाओं सत्यपुरुषों की सगति या आशीष गो देव द्विजन्कृपा एव प्रेत पितरादि के प्रभाव से बनते हैं।

परन्तु इन सबों के अतिरिक्त ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रश्न से प्राप्त कर अपनी सतान आर्यो को पैतृक सम्पदा के रूप में सुपुर्द किया यह पूर्व उल्लिखित है।

सस्कार का अर्थ होता है। सुधार शोधन शुद्धिकरण परिष्कार परिमार्जन आदि। इसके अतिरिक्त यह शब्द निम्नाकित अर्थों में भी प्रयुक्त होता है मीमासक यथाङ्गभूत प्रोडास आदि की विधिवत् शुद्धि से इसका आशय समझते हैं। अद्वैत वेदान्ती लोग जीव पर शारीरिक क्रियाओं के मिथ्या आरोप को सस्कार मानते हैं।

नैयायिक भावों को व्यक्त करने की आत्म व्यञ्जना शक्ति को सस्कार मानते हैं

1 प्रोक्षणादि जन्य सस्कारों यज्ञाङ्ग प्रोडाशेष्विति द्रव्य धर्म। वाचस्पत्यिम् वृहदभिधान ५ पृ स ५१

2 सीनाचमनादिजन्या सस्कारा देहे उत्पद्यमानानि तदाभिधानानि जीवे कल्प्यन्ते (वाचस्पत्यम्)

जिसकी परिगणना न्याय वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुणों के अन्तर्गत की गयी है सस्कृत साहित्क में इसका प्रयोग शिक्षा सस्कृति प्रशिक्षण व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि सस्करण परिष्करण आभूषण प्रभाव स्वरूप स्वभाव क्रिया छाय धार्मिक विधि विधान विचार भावना धारणा आदि अर्थों में किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों से विहित है कि सस्कार शब्द के साथ विलक्षण अर्थों का योग हो गया है। जो इसके दीर्घ इतिहास क्रम में इससे जुट गए हैं। सस्कार का अर्थ बहुधा व्यहि का सामाजिक एव आध्यामिक शुद्धिकरण समझा जाता है। एक आदर्श व्यक्ति में एक सस्कृत व्यक्ति में विलक्षण सामाजिक एव आध्यामिक गुणों का सन्निकेश समझा जाता है।

किसी सस्कृत व्यक्ति के प्रति उसके आचार व्यवहार आदर्शो से न केवल मानव मात्र में अपितु प्राणिमात्र में एक नैसर्गिकि श्रद्धा सद्भाव का समुदेक हो जाता है।

सस्कारों के उद्भव के विषय में पहले ही लिखा गया है। जहा वेद को अपौरुषेय स्वीकारा गया है वहा सस्कारों का भी अनादि मौलिक स्वीकारना युक्ति सगत है। क्योंकि वेद में सस्कार निर्देशक मन्त्रों का सन्निवेश उपलब्ध है किन्तु जहा वेद को पौरुषेय समझा जाता हे वहा सस्कारों को भी वैदिक कालीन स्वीकारना चाहिए। आर्यग्रन्थों में वैदिक साहित्य में एव इतरेतर भी सस्कारों की विविध सख्यायें विहित हैं यहा कुछ तदविहित सस्कार क्रम एव उनकी सख्यायें उदघृत की जाती हैं।

१ अश्वलायन गृहसूत्र विवाह २ गर्भाधान ३ पुसवन ४ मीमनतोन्नयन ५ जातकर्म्म ६ नामकरण ७ चूडाकरण ८ अन्नप्राशन ६ उपनयन १ समावर्तन ११ अन्त्येष्टि।

२ पारस्कर गृहसूत्र १ विवाह २ गर्भाधान ३ पुसवन ४ सीमान्तोंन्नयन ५ जातकर्म्म ६ नामकरण ७ निष्क्रमण ८ अन्न प्राशन ६ चूडाकरण १ उपनयन ११ केशान्त १२ समावर्तन १३ अन्त्येष्टि।

३ बोधायन ग्रहसूत्र १ विवाह २ गर्भाधान ३ पुसवन ४ सीमान्तोन्नयन् जातकर्म्य

---

१ निसर्ग सस्कार विनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराज शब्दभाव (रघुवश ३ ३५)
२ संस्कारवतयेव गिरामनीषी तथा च पूतश्च विभूषितश्च (कुमार सम्भव १ २)
३ प्रयुक्त सस्कार इवाधिक बनौ। रघुवेश ३ १
स्वभाव सुन्दर वस्तु न संस्कार मपेक्षते (अभिज्ञान शा १३)
५ यन्नवेभाजने लग्न सस्कारों नान्यथा भवेत् हितोपदेश १
६ कार्य शरीर सस्कार पावन प्रेत्य चेह च (मनुस्मृति)

६ नामकरण ७ उपनिष्क्रमण ८ अन्नप्राशन ६ चूडाकरण १ कर्यवध ११ उपनयन १२ समावर्तन १३ पितृमेध।

इन गृह्सूत्रों के अतिरिक्त धर्म सूत्रों में भी सस्कार का वर्णन मिलता है। गौतम धर्म सूत्र ८ आत्मगणों क साथ चालीस सस्कारों की सूची प्रस्तुत करता है।

चत्वारिशत सस्कार अष्टौ आत्मगुणा

इसके अतिरिक्त स्मृति ग्रन्थों में भी सस्कारों का वर्णन किया गया है मनु ने निम्नाकित १३ स्मार्त सस्कारों का उल्लेख किया है १ गर्भाधान २ पुसवन ३ सीमन्तोन्नयन ४ जातकर्म ५ नामधेय ६ निष्क्रमण ७ अन्न प्राशन ८ चूडाकरण ६ उपनयन अथवा मौञ्जीवन्धन १ केशान्त ११ समावर्तन १२ विवाह १३ श्मशान।

याज्ञवक्यस्मृति भी केशान्त को छोडकर उपर्युक्त सस्कारों का वर्णन करती है। वाद की स्कृतियों में सस्कारों की १६ सख्या का वर्णन है। पद्धतियों और प्रयोग पद्धति और प्रयोग में वाह्य सस्कारों का वर्णन करते हैं दैव सस्कारों को छोड देते हैं। फिर अन्त्येष्टि की गणा भी उन सस्कारों में नहीं करके अन्यय पृथक् रूप से करते हैं। इस प्रकार अनेक पद्धतियों का नाम दशकर्म पद्धति रखा गया है।

परन्तु अद्यतन सर्वाधिक प्रचलित पद्धतियों ने सस्कारों की सख्या १६ स्वीकार कर ली है। दयानन्द सरस्वती एव भीम देव शर्म्मन अपनी पद्धतिया में १६ सस्कार का उल्लेख किया है अन्तेष्टि अन्तिम सस्कार जो मरणोपरान्त किया जाता है कहीं कहीं पर इसे सस्कारों से पृथक गिना जाता है। क्योंकि वह अप्रभ सस्कार माना जाता है किन्तु कतिपय गृहसूत्रों मे इसे अन्य सस्कारों के साथ ही स्वीकारा गया है एव मनु याज्ञवल्यादि ने भी इसे सस्कार रूप में ग्रहण किया है।

अन्तेष्टि मन्त्र सस्कारों में है। इसके मन्त्र सहिता से सकलित किए गए हैं सस्कारों में यह अभेद रूप से स्वीकारा गया है क्योंकि इसके विरुद्ध कोई मानसिक विकार नहीं है। अन्त्येष्टि सस्कार एक प्रकार से पितृयज्ञ है।

आर्य सस्कृति की अवधारणा है कि इस ससार में जीव के मनुष्य रूप में जन्मते ही उस पर निम्नामित चण चढ जाते हैं। देवऋण ऋषिऋण पितृऋण।

देवऋण से वह देवाराधना द्वारा देव यज्ञ करके मुक्त हो जाता है। ऋषिऋण से मुक्ति हेतु उसे शास्त्र विहित शास्त्रीय अध्ययन एव ऋषिप्राक्त आचारों का अडगीकार अपेक्षित है।

पितृऋण से मुक्ति के लिए उसे शास्यविहित पद्धति से वश परम्पराक्रम की अक्षुण्णता हेतु पुत्रोत्पत्ति परिकल्पित थी।

यहा पितर शब्द से वश परम्परा में आने वाले मातृपक्ष एव पितृपक्ष से सम्बद्ध सारे

ही निक"तम कृत समझे जाते हैं। ेसे पिता पितृत्व भ्राता भातृत्व पितामह प्रपितामह वृद्ध प्रपितामह एव उ।की पत्नियों माता पितृत्य ।ार्या मातृ भार्या भातृत्य भार्या पितामही प्रपितामही वृद्र प्रपितामही ाव वैसे ही मातुपक्ष मातुमही माता मह ।ाता मही प्रमातामह प्रमातामही वृद्र प्रमातामह वृद्र प्रमातामही एव इ।के अतिरिक्त अन्य की वशक्रम के मृतलोग भगिनी पुत्र पुत्रवधु पौत्र पौत्री आदि भी।

आर्य सस्कृति में मूल पितर माता पिता का स्थान अत्यन्त ऊचा बताया गया है ्रुति कहती हैं। मातृदेवोभव पितृदेवोभव इस ्रुत्यादेश द्वारा पितरों के सर्वो च स्थान का निर्देश है।

पितरों के सम्बन्ध में आर्य अवधारणा यह है कि जैसे मनुष्यों के लिए एव अन्य जड चेतन के ।िए यह ससार है। देवताओं के लिए देवलोक स्वर्ग है वैसे ही पितरों के लिए पितृलोक हैं।

पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्ति हो जाती है।

मुख हृष्ट्वा तु पुत्रस्य मुच्यते पैतृकादृणात्।
अन्ये क्षेत्रादय पुत्रा मुक्तिमात्र प्रदायका ।।

(गरुण पुराण २/१५/२६) पितरो का स्थान देवों से भी उचा बताया गया है। एतदर्य जहा यज्ञीय कार्य का वर्णन है पहले पितृ यज्ञ के बाद ही देव यज्ञ का विधान किया गया है।

यह अवधारणा है कि पितरों की प्रसन्नता से ही देवता भी प्रसन्न हो जाते हैं। **पितर प्रतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्व देवता** पितरों की प्रसन्नता एव आशीष अवधारणा अधिमान्य है। लोक में वश परम्परा की अक्षुण्णता के लिए अपनी यश श्री की अभिरक्षा के लिए एव लोक वेद क्रियाओं के अतर सरक्षण के लिए आर्ष सस्कृति में सतानोत्पत्ति अनिवार्य बतलायी गयी है। यहा भी सतान में औरत पुत्र का अधिक ही महत्व बताया गया है। यहा तक की यदि किसी अनिवार्य कारण वश कोई व्यक्ति अपनी औरत पुत्रोत्पत्ति में अक्षम होता है तो उपर्युक्त कार्यों के अन्नतर सपादनार्थ दसविच पुत्रों की मान्यता है औरत क्षेत्र जाद्या ्रच पुत्रादृश विचस्मृता सगृहीत सुतीयश्च दासी पुत्रश्च तेन किम्।

(गरुण <u>२/१५/२ १</u>)

ऐसी अपेक्षणीया पुत्रोत्पत्ति पितरों की कृपा का परिणाम होती है फिर उस पित्ताराधन पितृयज्ञ अन्त्येष्टि के महत्व को क्या कहना

हमारे यहा स्वर्गादि लो।ा का वर्णन है वही नरक लोक का भी वर्णन है। नरक लोक के कई प्रकार के भेदों में कुम्भिपाकादि नरकों में न्पुनाम का भी एक नरक विहित है। जो उस पु नाम नरक से अपने पितरो को प्राण दे अभय करे वहीं पुत्र कहा जाता है। पुत्र अपने पितरो को शास्त्र विहीत विधान पितृ कर्म पितृ याग द्वारा ही उक्त प्राण का कारण

बन सकता है। पुत्र का अपने पितरों का अन्त्येष्टि कर्म सपादित करना पितृ यज्ञ करना परम पुनीत कार्य बतलाया गया है-जो पुत्र पिण्ड धनादि अन्त्येष्टि कर्म नहीं करते वे मरणोंपरान्त प्रेत बनकर कल्प पर्यन्त निर्जन वन में दु खी होकर भटकते फिरते हैं। भवन्तिप्रेतरूपास्ते पिण्डदान विवर्जिता

आकल्पे निर्जनारण्ये भ्रमन्ति बहुदुखिता ।।
नाभुक्त क्षियते कर्म कल्पकोटीशत्रतैरपि।
अभुक्त्वा यातना जनन्तुर्मानुष्यम् लभते नहि।
अतो दद्यात सुत पिण्ड दान दिनेषु दश
ग प्रे अ ११४५ तक

पिता का अत्यन्त आनन्दवर्द्धक होता है पुत्र यहा तक कि पिता ही पुत्र रूप में उत्पन्न होता है

सर्वसौख्यप्रद पुत्र पित्रो प्रितिवर्द्धन ।
आत्मा वै जायते पुत्र इति वैदेषु निश्चितम्।।
(गरुण पु १/१५/२१)

हमें जीवनभर अपने आचार व्यवहार से पिता ने विविध प्रकार से सतुष्ट किया है उत्पन्न किया है। हम उसकी प्रसन्नता के कारण रहे हैं। अत एव हम उसके अन्तिम चरम लाभ के लिए अत्येष्टि करें

यह हमारा नैतिक धार्मिक एव सामाजिक कर्त्तव्य है। उपर्युक्त पुराणोक्ति के अनुसार पिता की आत्मा एव पुत्र की आत्मा एक ही होती है। अत एव पिता की आत्मा की तृप्ति हेतु अन्त्येष्टि द्वारा हम अपनी हीं आत्मतृप्ति करें। शास्त्रनिर्दिष्ट विधि द्वारा आ मतुष्टि परम धर्म है।

हमारी सस्कृति परम्परा के प्रति सुदृढ निष्ठावान है। अत एव हम अपने पिता के प्रति श्रद्धा समुदभूत श्राद्ध अन्त्येष्टि पितृयाग करके अपने लिए भी अपने पुत्र से कामना करें यह उचित है। यहा अन्त्येष्टि के सामाजिक नैतिक एव धार्मिक कारणों को सक्षिप्ततया स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अग्रिम अनुक्रम में यथोपलब्धस्थान पर इस पर पुनुर्विचार किया जाएगा। अब अन्त्येष्टि पद से अभिव्यञ्जित होने वाले भाव उसकी यथार्थता एव उसके सूलि दृष्ट प्रचलित स्वरूप को प्रस्तुत किया जाता है।

अन्त्येष्टि अन्त्य + इषुक्तिन् इस विग्रह का सन्ध स्वरूप है अन्त्येष्टि। यह पहले विहित है कि आर्यो के जीवनपथ का हर अग्रिम पद कदम डग सस्कार से प्रारम्भ होता है गर्भाधान पुसवन सीमन्त जात अन्तप्राशन आदि आदि। सस्कारों द्वारा सस्कृत एव

अग्रसारित जीवन अपने पथ पर **जीवेम शरद शतम्** की सकल्पना को साकार करते हुए लौकिक पारलौकिक लक्ष्योभयाभिमुख्य अन्तत अपना विराम लेता है। जिस जीवन का बीजारोपण बीजवपन ही सस्कार के रप में हुआ था उसका विराम भी सस्कार के रूप में हो यह सर्वथा युक्तिसगत लगता है। अत एव इस पार्थिव या पाञ्चभौतिक शरीर का विसर्जन भी सस्कार के रप में किया जाता है। जिस व्यक्ति के शरीर का विसर्जन होता है। वह अब मृत है क्रिया विहीन है कुछ कर ही नहीं सकता किन्तु उसकी यह ईच्छा अवश्य रही होगी कि उसके सस्कृत शरीर का अन्त भी सस्कार द्वारा हो तथा शरीर के विनिपात के बाद शरीर विषयक किसी अग्रिम इच्छापूर्ति हेतु स्वय द्वारा प्रयास का होना ही कल्पनातीत है। अत मृत व्यक्ति कि अन्तिम इच्छा की पूर्ति हेतु उसके उत्तराधिकारियों द्वारा सस्कार के रूप में सम्पन्न किये जाने के कारण इस कार्य को अन्त्येष्टि सस्कार कहते हैं।

मृत पिता के प्रतिपुत्र का कर्तव्य या अन्य मृत के प्रति उसके उत्तराधिकारी का यह कर्तव्य होता है कि वह उस मृत के ऐहिक जीवन समापन के प्रति या उसके पार्थिव शरीर विसर्जन के प्रति अपनी भावनाओं को क्रियात्मक रप में व्यक्त करें चूकि उस मृत के इस शरीर विसर्जन के बाद इस सस्कार के अतिरिक्त कोई दूसरी विधि या सस्कार उस मृत शरीर के प्रति दृष्ट रप से स्थूल रप से पुत्र या उत्तराधिकारी द्वारा नहीं किए जाते। अतएव मृत शरीर के प्रति उसके पुत्र या उत्तराधिकारी द्वारा अन्तिम रूप से अपनी इच्छा या भावना की अभिव्यक्ति इस सस्कार के रूप में किए जाने के कारण अन्तेष्टि सस्कार कहते हैं।

यहा यह लिखा गया है कि पुत्र या उत्तराधिकारी द्वारा मृत शरीर के प्रति अन्तिम रूप से अपनी इच्छा व्यक्त की जाती है यह बडा ही ध्यातव्य तथ्य है। ऊपर मृत शरीर का प्रयोग ही किया गया है क्योंकि शरीर का ही निधन होता है आत्मा का निधन नहीं होता अतएव विनाशशील मरण धार्मा शरीर के प्रति अन्तिम इच्छा अग्नि सस्कार भूत शव विमान निर्माण से शव यात्रा क्रम में श्मशान भूमि तक ५ पाच बार शव का पृथ्वी से सस्पर्श फिर चिता निर्माण नव वस्त्रावेष्टित शव का उस चिता पर जाना अग्निदान प्रदक्षिणा कपाल क्रिया शवावशेष के दाह के लिए चिता निर्माण वशेषयत्किञ्चित निमित्त मात्रक ईधन दान भष्म प्रवाह अस्थि विसर्जन हेतु अस्थि सकलन तिलाञ्जलिदान और अत में स्नान तक किसी किसी के मत में तथा किसी किसी के मत में यावत प्रेत कर्म्म घट बन्धन से दारशाह पर्य्यन्त फिर किसी किसी के अनुसार वार्षिक श्राद्ध तक क्योंकि बहुत सारे लोग वार्षिक श्राद्ध तक तन्त्रैक्तिक नियमों का पालन करते हैं। समझी जाती है। परन्तु याथार्थ्य यह है कि जब अन्त्येष्टि को अर्थ अन्ते भव अन्त्य तन्त्रैकित्तिक इष्टि यक्ष अन्त्येष्टि ऐसा करते हैं। तब हमारी सस्कृति में स्वीकृत अन्त्येष्टि की चरितार्थता सिध्द होती हैं पिता के शरीर का निधन विनिपात भले ही हो जाता है आत्मा को शाश्वतता

हमारी सस्कृति की आधिभौलिक मान्यता है। अतएव उस आत्मा के प्रति हमारी वही श्रद्धा रहती है चाहे वह अपने उस पार्थिव शरीर का उत्सर्जन ही क्यों न कर दें। श्रद्धा से किए जाने के कारण ही इस यज्ञ को श्राद्ध भी कहा जाता है।

ऊपर इष्टि शब्द का अर्थ इच्छा किया गया है इच्छा बनती बिगडती पूरी होती और समाप्त भी हो जाती है। परन्तु श्रद्धा भाव है भाव शाश्वत है अतएव श्रद्धा से किया जाने वाला यज्ञ शाश्वत है। यहा इष्टि शब्द का अर्थ यज्ञ ग्रहण करना अधिक ही उचित प्रतीत होता है। क्योंकि अपने अभीष्ट के लिए आर्य लोग देवारार्धन देवयज्ञ किया करते थे वैसे ही जिनका अन्त हो गया है। अन्त्यं अर्थात् पितर। उन पितरों के लिए किया गया यज्ञ अन्त्येष्टि।

यह भी मान्य मत है कि पितरों के आशीष से ही सतान वृद्धि होती है। अतएव वश परम्परा की अक्षुणता के लिए वश वृद्धि के लिए किया जाने वाला यज्ञ अन्त्येष्टि। दूसरी बात यह है कि पिता की आ मा ही पुत्र र प में प्रादुर्भूत होती है आत्मा वै जायते पुत्र के अनुसार।

अतक्षुव पितृयज्ञ का अन्त्येष्टि या श्राद्ध आपने में स्थित आत्महित हेतु करते हैं। इस प्रकार प्रसव प्रति प्रसव पुत्र के रूप में आत्मवत् पितृत्व हमेशा अमर है उसके प्रति श्रद्धा भाव भी अमर है। अतएव अन्त्येष्ठि नित्य यज्ञ है। हमारी सस्कृति में श्रद्धा को भगवती शक्ति को स्वरूप स्वीकारा गया है श्रद्धा सता कुलजन प्रभवस्य लज्जौ (मार्कण्डेय पुराण)

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रुपिणौ

श्रेद्धावालभते ज्ञानम् (राम चरित मानस)

(श्रीमद्भगवद्गीता)

इस प्रकार श्रद्धा से निष्पन्न होने वाले यज्ञ श्राद्ध के द्वारा ही हम सशक्त शक्ति सम्पन्न हो सकते हैं। अथवा अशक्त शक्ति ही न हो जायेंगे। एतदर्थ ही हम द्वादशाह या वार्षिक श्राद्ध करके पितृकार्य से मुक्त नहीं हो जाते बल्कि सावत्सरिक श्राद्ध के रूप में यावज्जीवन इसे करने को वास्य होते हैं।

इतना ही नहीं इसीलिए इसके नैरन्तर्य हो इसकी शाश्वता को आत्महित के लिए हमारे नित्य कर्मों के रूप में सूर्य्यार्ध्य बलि वैश्वदेव सन्ध्या की तरह देव तर्पण ऋषि तर्पण के साथ ही पितृतर्पण के नाम से स्वीकारा गया है।

इस प्रकार से इस श्राद्ध यज्ञ का अन्त्येष्टि का वश परम्परा के रूप में पुत्र परम्परा के रूप में आ महित कर्म्म सम्पादन के रहस्य का उद्घाटन है।

ऊपर अन्त्येष्टि सस्कार के अङीभूत शवयात्रा अन्तिम सस्कारादि को सकेत मात्र

किया गया है। अब हम उनके प्रायोजिक सूलि स्वरूप का वर्णन एव उन पर विचार करेंगे

जिस शरीर के क्रिया शील होने पर जीवित रहने पर जिससे पुत्र पत्नी भाई बहन पिता माता आदि पारिवारिक सदस्य अन्य कौटम्ब एव सामाजिक लोगों ने किन किन अप्राणित असख्य दैनिक सहयोगों का आदान प्रदान जीवन भर किया जो भले बुरे दिनों में दु ख सुख में परस्पर एक दूसरे के भागीदार रहे जिनकी जीवन भर पारस्परिक सगति रही जो पारस्परिक ज्ञान विनिमय में एक दूसरे के पूरक रहे आज उनमें से एक का अनस्तित्व अनुपस्थिति अवश्य ही अत्यन्त क्लेशास्पद होगी साथ ही यह क्लेश उस अनुपस्थित के प्रति श्रद्धा का उदभावक भी चूकि मृत्यु का वारण मानवीय सामर्थ्य के परे है। अतएव मनुष्य को उसे अडगीकार करने को वाध्य होना पडता है इसके लिए उसने सतोष का मार्ग ढूढ रखा है **जातस्य ध्रुवो मृत्यु (श्रीमद्‌वगीता) जातस्य वै मनुष्यस्य ध्रुव मरणमिति विजानीयात्तस्माज्जातेन प्रहृष्येन्मृते च न विषीदेत्।। (उपनिषद्)**

अकस्मादागत भूतमकस्मादेव गच्छति।
तस्माज्जाति मृतञ्चैव सम्पश्यन्ति सुचेतस ।।
(बौधायनधर्मसूत्र ३३)

उपर्युक्त औपनिषदवाक्य एव धर्म्मसूत्र वाक्य उसके लिए सतोषप्रद बने। अब तक जो शरीर जीवति रहने पर उसकी श्रद्धा का उसके प्रेम का सम्बल रहा उसे वह अन्य ज्ञान सून्य जीवों के शव की तरह यम तत्र जैसे तैसे फेंक देना स्वीकार न कर सका। उस जीव हीन शरीर का विकृत होना जब निश्चित ही था सर्वथा स्वाभाविक ही था तब उसने (मनुष्य ने) उसके विसर्जन के लिए एक सस्कार निष्ठ पद्धति निकाली।

उस सस्कार के लिए बास का नया या अन्य यथोपलब्ध आसन था शव शय्या बनाकर उस पर शव को सुलाकर या पधराकर गाव से अरकग भरसक नदी के किनारे उसमें भी यथा सामर्थ्य उपलम्य होने पर गगा यमुना सरस्वती नारायणी आदि वर्ष भर अगाध जरक भरी प्रवाहशीला पुण्यसलिला समझी जाने वाली नदियों के किनारे और अनुपलम्य होने पर किसी भी नदी के किनारे ईधन की चिता बनाकर शव को नदी में स्नान करा कर नववस्त्रावेष्टित कर उस चिते पर सुलाकर वेद मन्त्रों के उच्चारण के साथ प्रदक्षिणा करते हुए पहले शव के मुह में स्पर्श कराकर फिर चिता में अग्नि लगा देने को उसने (मनुष्य) अग्नि सस्कार के नाम से अभिहित किया।

शव के साथ श्मशान भूमि तक अपने कधे पर उठाये उस शव को ढोते हुए परिवार के समर्थपुरष सदस्य एव परिवार के अन्य कौटम्बिक जो समय से उपस्थित हो सकें एव अन्य सामाजिक ग्राम्यजन भी गए। इसे शव यात्रा कहा गया। यह उसी अग्नि सस्कार का अडगीभूत अत्यन्त पुण्य कार्य समझा गया।

इस रूप में शव शय्या निर्माण से शव यात्रा एव अग्निदान द्वारा शरीर का दग्ध होना भष्म बनना आदि तक बीच में कपाल क्रिया शव यात्रा के क्रम शवशय्या का पाच बार यन्त्र तन्त्र कछ कुछ दूरी के अन्तराल पर भू स्पर्श एव प्रत्येक स्थल पर गोदान सभी इस अग्नि सस्कार के ही अडगीभूत विधान समझे गए यह अग्नि सस्कार उस सुदीर्घ अन्त्येष्टि क्रिया का प्राथमिक सोपान सस्कार था। इस मरणोत्तर सस्कार एव जन्मोत्तर सस्कार के विषय में निम्नाकित आवधारणा बोधायन गृह सूत्र३/१/४ में अकित है जात सस्कारेणेम लोकममिजयति मतृ सस्कारेणामु लोकम्। अर्थात् जात सस्कार के द्वारा सस्कृत व्यक्ति इस लोक को जीतता है तथा मरण सस्कार के द्वारा उस लोक (परलोक) को चिता में अग्नि प्रज्वलित करके उस शरीर दाह के साथ ही मृतात्मा के स्वर्ग प्रयाण की कामना की जाती थी। मृत के शोकातुर स्वजनों द्वारा क्लेशाश्रुयात का धार्मिक निषेध था

शोचमानास्तु सस्नेहा वान्धवा सुहृदस्तथा।
पातयन्ति जन स्वर्गादश्रुपातेन राघव।।
वा रा ४१ गृ सू पर जयराम द्वारा उदधृत

इस प्रकार करने के बाद यह अग्निदाह की मान्यता आर्यों के विकसित ज्ञान वैभव की परिचायिका थी। निधन के बाद शरीर के भूमि निरवात या जल प्रवाह या जल समाधि की भी व्यवस्था थी परन्तु यह व्यवस्था साधु सतो सन्यासियों के लिए ही केवल स्वीकारी गयी जिन्हें इस ससार में अपना कोई न था सामान्य जन जीवन में इसे नहीं स्वीकार किया गया।

भूमि निरवात या जल निरवात से मृत शरीर के कीट भक्ष्य बनकर मरम के रूप में परिणति से अग्नि द्वारा दग्ध करके भष्म बनने की प्रक्रिया उत्तम एव अधिक विज्ञान सगत थी इस प्रकार अग्नि सस्कार उक्त अन्य दोनों क्रियाओं से अधिक उचित था। इस शरीर के भष्म करने से मृतक के वशजों को नियत अवधि तक अशौच लगता था जो वर्ण आश्रम आयु आदि के अनुसार भिन्न भिन्न होता था

एकह्याच्छुध्यते विप्रो योऽग्नि वेद समन्वित ।
यहात् केवल वेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनै ।। (३ ५)
ऋत्विजा दीक्षितानाञ्च यज्ञियकर्म कुर्वताम्।
सत्रव्रती ब्रह्मचारी दातृब्रह्मविदा तथा।। (या स्मृ ३/२८)
कारव शिल्पिनोवैद्या दासी दासाश्च नापिता ।
राजान श्रोत्रियाश्चैव सूद्यश्शौचा प्रकीर्तिता ।।
(पा स्मृति ३ २१)

अर्थात् ब्राह्मण जो वेद अग्नि समन्वित थे वेदपाठी और अग्निहोमी थे उन्हें एक दिन का जो केवल वेद पाठी थे उन्हें तीन दिन का तथा जो ब्राह्म । उपुर्यक्त दोनों कर्मों से विरत था उसे १ दिनों का अशौच होता था।

ऋत्विज यज्ञ में दीक्षित था इसी प्रकार अन्य यज्ञीय कर्म करने वाले दीर्घ सत्र का अनुष्ठान करने वाले ब्रह्मचारी ब्रह्मवेत्ता कारीगर शिल्पी वैद्य दासी दास नापित राजा आदि तुरत शुद्ध हो जाते थे। इसी प्रकार आयु के अनुसार भी अशौच की अवधि में अन्तर होता था। बालक के मृत्यु से अशौच की अवधि कम तथा वयस्क की मृत्यु से अशौच की अवधि अधिक होती थी। वर्ण के अन्तर से भी अशौच की अवधि में अन्तर था। ब्राह्मण से अधिक क्षत्रिय की क्षत्रिय से अधिक वैश्य की एव वैय से अधिक शूद्र के अशौच की अवधि होती थी। ~स अशौच का स्वरूप विध्यात्क एव निषेधात्मक दो तरह का होता था। कछ लोग पर यह अशौच काल कछ विहित कार्यो को करने का निषेध करता था तथा कुछ लोग जो मृत के अत्यन्त सन्निकट सम्ब धी थे जिन्हें शास्त्र द्वारा पिण्डदान का अधिकार था विधिपरक आदेश देता था। इस प्रकार अशौच काल में विधि रक दायित्वों के निर्वाह रूप में मृतक के पिण्डदातृ को जो कार्य विविध रपों में विहित थे जैसे अस्थि विसर्जन पिण्डदान और महापात्र भोजन शय्यादान नारायण बलि वृषोत्सर्ग ब्राह्मणभोजन अतिथि अभ्यागत एव दरिद्रनारायण भोज आदि आदि उन सबों का विवरण इस लेख के सीमित कलेवर में सम्भव नहीं। उनका वृहत्साडगोपाडग वर्णन समप्रति प्रचलित कर्मकाण्ड की पुस्तकों श्राद्धविवेक प्रेतमञ्जरी गरुणपुराण प्रेतकल्प सस्कारदीपक सस्कार चूडामणि आदि में द्रव्टव्य है। यह अब आगे उस पिण्डदान के सूक्ष्म वैज्ञानिक एव धार्मिक कारणों पर गवेषणात्मक विचार प्रस्तुत किया जायेगा।

आर्ष सस्कृति सृजनात्मक अवधारणाओं की सयोजिका एव समर्थिका है। अपने इस स्वभाव के अनुसार मृतक के पार्थिव या पाञ्चभौतिक शरीर के सदाहरूप अग्नि सस्कार के प्रायश्चित्त स्वरूप विलीन के समुदभव हेतु विघटन के सघटन के लिए मृतक के अग्निदाता या मृतक के दाहकर्ता के लिए पिण्डदान का विधान करती है। भारतीय दर्शन में इस शरीर को पार्थिव इसलिए कहा गया है कि इसमें पृथ्वीतत्व प्रधानरूप से सश्लिष्ट है–अन्य तत्त्वों की समुपस्थिति सूक्ष्मतया है। आगे भारतीय दर्शन में निनादित ऐसे शरीर का वर्णन भी आयेगा जो पृथ्वी तत्व के बिना ही बना होता है। पुन इस शरीर को पाञ्चभौतिक इसलिए कहा गया है कि यह पञ्चमहाभूतों क्षिति जल पावक गगन समीर का निर्माण है। अग्नि के द्वारा जलाकर नष्ट किये गये शरीर की पुनर्रचना के लिए सृष्टिक्रम की अक्षुण्णता के लिए पिण्डदान का विधान किया गया है जो पृथ्वी के गुण लक्षण रूप

गन्धमय अन्न चावल पृथ्वी समुद्भूत होने से पार्थिव तल का प्रतिनिधित्व करता है। पुन इसे पार्थिव शरीर में पृथ्वी तत्त्व के बाद सबसे अधिक परिमाण में महत्त्वपूर्ण तत्त्व जल है। इस पार्थिव शरीर के अतिरिक्त ऊपर जो दूसरे अन्य शरीर की सकल्पना है वह इन्हीं पृथ्वी और जल दो तत्त्वों के बिना शेष अन्य तीन तत्वों पावक गगन समीर मात्र से बनता है।

अतएव इस शरीर में प्रधानत पथ्वी एव जल तत्व के कारण इसके पुनर्निमाण के लिए दिया जाने वाला पिण्ड चावल को जल से मिलाकर बने भात से बनाया जाता है। दूसरा कारण यह भी है कि इस दग्ध शरीर का स्वरप मातृगर्भ में प्रथमत मास पिण्डवत ही होता है उस मास पिण्ड में भी पृथ्वी जल ही कारण होता है।

पिण्ड जो अन्न जल के सयोग से अग्नि ताप द्वारा पकाया हुआ रूप है उन्मुक्त आकाश में खु ी वायु में रखा जाता है। अर्थात् पञ्च तत्व सयोगी पिण्ड के दान का विधान किया जाता है। यह पिण्ड विधान दाह सस्कार से द्वादशाह तक रोज रोज विशेष प्रयोजनों से किया जाता है प्रथम दिन का पिण्ड मृतक जो अब प्रेत बन जाता है कि तृप्ति के लिए तथा भावी शरीर की रक्त नलियों के निर्माण के लिए दूसरे दिन का पिण्ड भावी शरीर के ्रवण घ्राण एव नेत्र के लिए तीसरे दिन गले कन्धे बाहू और वक्षस्थल के लिए एव नव दिनों तक उसकी समग्र शरीर की रचना के लिए दान किया जाता है। दशवें दिन शरीर के पूर्ण हो जाने पर ग्यारहवें दिन उसमें भावी शरीरस्थ आत्मा का वास हो जाने पर उसकी तृप्ति के लिए ब्राह्मण भोजन का विधान कियाा गया है।

गरुण पुराण प्रेतखण्ड प्रथम अध्याय श्लोक ४७ ४८ में अकित है दश दिनों तक पिण्डदान दिए गए पिण्डों के चार भाग हो जाते हैं उनमें से दो भाग भावी पञ्चमहाभूत शरीर के लिए तृतीय भाग यमदूत का तथा चतुर्थ भाग स्वय प्रेत भक्षण करता है। भारतीय दर्शनों के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट होता है कि इस पाञ्चभौतिक शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर भी होता है किन्तु जैसे पहली सीढी पर चढकर दूसरी सीढी पर चढा जाता है वैसे ही इस पाञ्चभौतिक शरीर के अध्ययन क्रम में ही उसे भी जाना जा सकता है। यह स्थूल शरीर माता के गर्भ से उत्पन्न होकर अपनी आयु समाप्त कर नष्ट हो जाता है। इसी स्थूल शरीर के अन्दर एक सूक्ष्म सत्ता भी रहती है जो विभिन्न अवस्थाओं में सूक्ष्म शरीर लिडग शरीर आतिवाहिक शरीर आदि कही जाती है।

मनुष्य के मरने के बाद इस स्थूल शरीर को जलाया जाता है इसमें से पृथ्वी एव जल तत्व यही मिल जाते है। तथा शेष वायु आकाश एव तेज ऊपर उठ जाते हैं तथा वे तुरन्त अतिवाहिक शरीर ग्रहण कर लेते हैं।

अर्थात् ब्राह्मण जो वेद अग्नि समन्वित थे वेदपाठी और अग्निहोमी थे उन्हें एक दिन का जो केवल वेद पाठी थे उन्हें तीन दिन का तथा जो ब्राह्मण उपुर्यक्त दोनों कर्मों से विरत था उसे १ दिनों का अशौच होता था।

ऋत्विज यज्ञ में दीक्षित था इसी प्रकार अन्य यज्ञीय कर्म करने वाले दीर्घ सत्र का अनुष्ठान करने वाले ब्रह्मचारी ब्रह्मवेत्ता कारीगर शिल्पी वैद्य दासी दास नापित राजा आदि तुरत शुद्ध हो जाते थे। इसी प्रकार आयु के अनुसार भी अशौच की अवधि में अन्तर होता था। बालक के मृत्यु से अशौच की अवधि कम तथा वयस्क की मृत्यु से अशौच की अवधि अधिक होती थी। वर्ण के अन्तर से भी अशौच की अवधि में अन्तर था। ब्राह्मण से अधिक क्षत्रिय की क्षत्रिय से अधिक वैश्य की एव वैय से अधिक शूद्र के अशौच की अवधि होती थी। इस अशौच का स्वरूप विध्यात्क एव निषेधात्मक दो तरह का होता था। कछ लोग पर यह अशौच काल कुछ विहित कार्यों को करने का निषेध करता था तथा कुछ लोग जो मृत के अत्यन्त सन्निकट सम्बन्धी थे जिन्हें शास्त्र द्वारा पिण्डदान का अधिकार था विधिपरक आदेश देता था। इस प्रकार अशौच काल में विधि रक दायित्वों के निर्वाह रूप में मृतक के पिण्डदातृ को जो कार्य विविध रूपों में विहित थे जैसे अस्थि विसर्जन पिण्डदान और महापात्र भोजन शय्यादान नारायण बलि वृषोत्सर्ग ब्राह्मणभोजन अतिथि अभ्यागत एव दरिद्रनारायण भोज आदि आदि उन सबों का विवरण इस लेख के सीमित कलेवर में सम्भव नहीं। उनका वृहत्साङगोपाङग वर्णन समप्रति प्रचलित कर्मकाण्ड की पुस्तकों श्राद्धविवेक प्रेतमञ्जरी गरुणपुराण प्रेतकल्प सस्कारदीपक सस्कार चूडामणि आदि में द्रव्टव्य है। यह अब आगे उस पिण्डदान के सूक्ष्म वैज्ञानिक एव धार्मिक कारणों पर गवेषणात्मक विचार प्रस्तुत किया जायेगा।

आर्ष सस्कृति सृजनात्मक अवधारणाओं की सयोजिका एव समर्थिका है। अपने इस स्वभाव के अनुसार मृतक के पार्थिव या पाञ्चभौतिक शरीर के सदाहरूप अग्नि सस्कार के प्रायश्चित स्वरूप विलीन के समुदभव हेतु विघटन के सघटन के लिए मृतक के अग्निदाता या मृतक के दाहकर्ता के लिए पिण्डदान का विधान करती है। भारतीय दर्शन में इस शरीर को पार्थिव इसलिए कहा गया है कि इसमें पृथ्वीतत्व प्रधानरूप से सश्लिष्ट है-अन्य तत्त्वों की समुपस्थिति सूक्ष्मतया है। आगे भारतीय दर्शन में निनादित ऐसे शरीर का वर्णन भी आयेगा जो पृथ्वी तत्व के बिना ही बना होता है। पुन इस शरीर को पाञ्चभौतिक इसलिए कहा गया है कि यह पञ्चमहाभूतों क्षिति जल पावक गगन समीर का निर्माण है। अग्नि के द्वारा जलाकर नष्ट किये गये शरीर की पुनर्रचना के लिए सृष्टिक्रम की अक्षुण्णता के लिए पिण्डदान का विधान किया गया है जो पृथ्वी के गुण लक्षण रूप

गन्धमय अ-ा चावल पृथ्वी समुद्भूत होने से पार्थिव तल का प्रतिनिधित्व करता है। पुन इसे पार्थिव शरीर में पृथ्वी तत्त्व के बाद सबसे अधिक परिमाण में महत्त्वपूर्ण तत्त्व जल है। इस पार्थिव शरीर के अतिरिक्त ऊपर जो दूसरे अन्य शरीर की सकल्पना है वह इन्हीं पृथ्वी और ज-न दो तत्त्वों के बिना शेष अन्य तीन तत्वों पावक गगन समीर मात्र से बनता हे।

अतएव इस शरीर में प्रधानत पथ्वी एव जल तत्व के कारण इसके पुनर्निमाण के लिए दिया जाने वाला पिण्ड चावल को जल से मिलाकर बने भात से बनाया जाता है। दूसरा कारण यह भी है कि इस दग्ध शरीर का स्वरूप मातृगर्भ में प्रथमत मास पिण्डवत ही होता है उस मास पिण्ड में भी पृथ्वी जल ही कारण होता है।

पिण्ड जो अन्न ज-ा के सयोग से अग्नि ताप द्वारा पकाया हुआ रूप है उन्मुक्त आकाश में खुली वायु में रखा जाता है। अर्थात् पञ्च तत्व सयोगी पिण्ड के दान का विधान किया जाता है। यह पिण्ड विधान दाह सस्कार से द्वादशाह तक रोज रोज विशेष प्रयोजनों से किया जाता है प्रथम दिन का पिण्ड मृतक जो अब प्रेत बन जाता है कि तृप्ति के लिए तथा भावी शरीर की रक्त नलियों के निर्माण के लिए दूसरे दिन का पिण्ड भावी शरीर के श्रवण घ्राण एव नेत्र के लिए तीसरे दिन गले कन्धे बाहू और वक्षस्थल के लिए एव नव दिनों तक उसकी समग्र शरीर की रचना के लिए दान किया जाता है। दशवें दिन शरीर के पूर्ण हो जाने पर ग्यारहवें दिन उसमें भावी शरीरस्थ आ-मा का वास हो जाने पर उसकी तृप्ति के लिए ब्राह्मण भोजन का विधान कियाा गया है।

गरुण पुराण प्रेतखण्ड प्रथम अध्याय श्लोक ४७ ४८ में अकित है दश दिनों तक पिण्डदान दिए गए पिण्डा के चार भाग हो जाते हैं उनमें से दो भाग भावी पञ्चमहाभूत शरीर के -िाए तृतीय भाग यमदूत का तथा चतुर्थ भाग स्वय प्रेत भक्षण करता है। भारतीय दर्शनों के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट होता है कि इस पाञ्चभौतिक शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर भी होता है किन्तु जैसे पहली सीढी पर चढकर दूसरी सीढी पर चढा जाता है वैसे ही इस पाञ्चभौतिक शरीर के अध्ययन क्रम में ही उसे भी जाना जा सकता है। यह स्थूल शरीर माता के गर्भ से उत्पन्न होकर अपनी आयु समाप्त कर नष्ट हो जाता है। इसी स्थूल शरीर के अन्दर एक सूक्ष्म सत्ता भी रहती है जो विभिन्न अवस्थाओं में सूक्ष्म शरीर लिङग शरीर आतिवाहिक शरीर आदि कही जाती है।

मनुष्य के मरने के बाद इस स्थूल शरीर को जलाया जाता है इसमें से पृथ्वी एव जल तत्व यही मिल जाते है। तथा शेष वायु आकाश एव तेज ऊपर उठ जाते हैं तथा वे तुरन्त अतिवाहिक शरीर ग्रहण कर लेते हैं।

यह आतिवाहिक शरीर केवल मनुष्य मात्र का ही होता है अन्य पशुओं को नहीं। यह आतिग्राहिक शरीर तब तक बना रहता है जब तक कि शास्त्र विहित प्रेत कर्म पिण्ड दानादि नही सम्पन्न हो जाता। जिन धर्मावलम्बियों का प्रेत कर्म नहीं होता वे अपने आतिवाहिक शरीर में ही कष्ट पाते रहते हैं।

यह आतिवाहिक शरीर यातना के लिए प्राप्त होता है। यह माता पिता द्वारा उत्पन्न नहीं होता किन्तु उसी आकृति प्रमाण एव वय से युक्त होता है। इसीलिए यदि कहीं किसी को कोई मृत व्यक्ति दीख जाता है तो अपनी उस पाञ्चभौतिक शरीर की अवस्था ओर प्रमाण एव आकृति में।

प्रेतकर्म पिण्डदानादि पूरा हो जाने मृत व्यक्ति प्रेत आतिवाहिक शरीर से छटकारा पा जाता है तथा वह अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार परलोक में जाता है। आतिवाहिक शरीर के बाद ही उसे यातना देह मिलती है। इसीलिए वैदिक धर्मावलम्बियों को पहले दिन ही ६ पिण्ड तथा दश दिनों तक एक एक पिण्ड दिये जाते हैं। एकादशाह के दिन सोलह सोलह पिण्ड दिए जाते हैं। इस प्रकार उत्तम षोडषी मध्यम षोडषी कनिष्ठ षोडषी पिण्डदान होता हे।

इस प्रकार अन्त्येष्टि के वैज्ञानिक एव धार्मिक महत्वों पर विचार किया गया यह हिन्दू सस्कृति का अधिमान्य सस्कार है। आर्ष मान्यता के अनुसार अग्नि में डाली गयी आहुति हव्य स्वाहा के उच्चारण के साथ जैसे अभीष्अ दायी होती है देवतुष्टि प्रदा होती है वैसे ही स्वधा के उ चारण के साथ समर्पित काव्य पितरों के लिए सतोषप्रद होता है एव अभीष्ट दाता भी।

अन्त्येष्टि हमारे सभी शुभ कर्मों में भी नान्दी श्राद्ध के रप में विहित है। जिस प्रकार यज्ञ कर्मों में अधिकारी अनधिकारी का विचार किया गया है वैसे ही आन्त्येष्टि के लिए आर्ह अमर्ह का भी विचार किया गया है

उदक पिण्डदानश्च प्रेतेभ्यों यत् प्रदीयते।
नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति।।
धा वा स्मृ ३/१/६ पर विज्ञानेश्वर उदध्रत

अर्थात् जिस मृतक का शास्त्रविहित अन्त्येष्टि सस्कार कर्म नहीं हुआ है वे प्रेतत्वमुक्त नहीं है उनके लिए पश्चात् किसी भी प्रकार का किया गया पिण्डदानादि कर्म यथेष्ट फलदायी नहीं होता। इस लिए अन्त्येष्टि लोक परलोक उभय अभीष्टससिद्धि के लिए शास्त्रविहित कर्मों में अनिवार्य पूर्ण कर्म है।

प्राचीन भारतीय विमान शास्त्र

• डॉ मनुदेवभट्टाचार्य

भारत को यह गौरव प्राचीन काल से ही प्राप्त है कि उसने आध्यात्मिक और भौतिक दोनों में चिरकाल से ही विश्व का सफल नेतृत्व किया है। इस सन्दर्भ में स्वाभिमानी भारतीयों का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि प्रमाणभूत वेदादि प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान अनेक वैज्ञानिक सिद्धान्त एव प्रयोगात्मक वैज्ञानिक उपकरणों को विश्व में प्रबुद्ध मनीषीवृन्द के सामने उपस्थापित करें। खेद की बात है कि स्वतन्त्र भारत में अद्यावधि प्राचीन भारतीय विज्ञान के शोध के लिए कोई प्राथमिक स्तर की भी प्रयोगशाला आदि प्रतिष्ठित नहीं है। ज्ञातव्य है कि गोबर गगाजल ताम्र मिट्टी कुशासन आदि मूलत भारतीय कर्मकाण्डोपयोगी वस्तुओं की वैज्ञानिक उपयोगिता पाश्चात्य विज्ञा ा ने ही जनसाधारण के सामने प्रथमत प्रस्तुत की। इस सन्दर्भ में स्वाधीन राष्ट्र को अपनी अकर्मण्यता को दूर करनी चाहिए।

मैं यह दृढतापूर्वक कह सकता हू कि विभिन्न वैज्ञानिक निर्माण आविष्कार आदि जितनी भी लोकोपकारी विद्याए हैं ये सभी भारतीयों की हैं। लोक लोकान्तर गमन समुद्रतल तथा आकाशमण्डल की सुदूर परिधि में उडना विशाल भवन यानवाहन आदि का बनाना आदि सम्पूर्ण यान्त्रिक सस्कृति की आदि विकासस्थली हमारी मातृभूमि यह भारतवसुन्धरा ही तो है और व्यास वसिष्ठ विश्वामित्र पराशर याज्ञवल्क्य जैमिनि अत्रि वत्स नारद भारद्वाज शाकटायन स्फोटायन प्रभृति मत्रद्रष्टा ऋषि ही यन्त्रों के भी आविष्कर्ता एव निर्माता हैं। इन ऋषियों में महर्षि भारद्वाज के विमान विषयक ग्रथ आज भी प्राप्त हैं और महर्षि अत्रि और वत्स तो अपने समय के तत्वान्वेषी वैज्ञानिक मनीषी थे तथा सर्वप्रथम इन्हीं दो मनीषियों ने चन्द्र सूर्य ग्रहण विज्ञान और आकर्षण विज्ञान का पता लगाया था जिसका विशद विवेचन यहा असम्भव है। खेद है आज अपने इस गौरवपूर्ण अध्यायों से हम अपरिचित होकर उक्त तथ्यों के आविष्कार का ्रेय पाश्चात्य जगत् को देते हैं।

भौतिक उन्नति की चर्चा अधिक न कर हम भौतिक विज्ञान की महत्वपूर्ण उपलब्धि विमान निर्माण पर कुछ प्रकाश डालेगे।

आधुनिक युग में अन्तरिक्ष का अध्ययन १६४३ ई से प्रारम्भ होता है जिसका अन्तिम रूप बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हमें तब देखने को मिलता है जब राइट बन्धुओं ने विमान उडाने में सफलता प्राप्त की।

पानी में तैरते नावों से प्रेरित होकर सर्वप्रथम एक अग्रेज विद्वान ने १७६६ ई में **लोहा टिन और जस्ता को गन्धक और तेजाब से मिलाकर हाइड्रोजन** का आविष्कार किया बाद में छिद्र रहित थैलों और गुब्बारों में गैस भर कर उडान की।

ग्लाइडरों के समय में भी आटों गिगियेन्था आदि विद्वानों ने **हल्के लकडी से पक्षी के आकार का विमान बनाया था।** यदि हम अन्वेषण करेगे यह सभी वेज्ञानिक प्रक्रिया भारतीय मनीषियों ने हजारों वर्ष पूर्व ही आविष्कृत कर रखी है यथा

महर्षि अगस्त्य कृत **अगस्त्यविमान सहिता** में यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि जिस प्रकार जल में नौकाए तैरती हैं उसी प्रकार अन्तरिक्ष में वायुभार आदि से सन्तुलन से जो यान गमनागमन करे वह विमान हे **जले नौकेव यद्यान विमान व्योम्नि कीर्तितम्।**

महर्षि भारद्वाज के शब्दों में पक्षियों की भाति उडने के कारण वायुयान को विमान कहते हैं **वेगसाम्याद् विमानोऽण्डजानामिति।** (यन्त्रसर्वस्व) महर्षि **अगस्त्य ने विमान निर्माण के लिए हल्का (लचीला) कोमल सुन्दर काष्ठ को** उपयुक्त ठहराया है

लघु यत् सुघट काष्ठ कोमल ब्रह्मजाति सत्।
विमाने सर्वदा ग्राह्य लघुत्वादुत्तम स्मृतम्।।

महाराज श्री भोजदेव ने भी अपने **समरागणसूत्रधार** ग्रन्थ में ऐसे **हल्के लघु काष्ठ से पक्षी के आकार का विमान निर्माण का** विधान किया है

लघु दारुमय महाविहग दृढश्लिष्टतनु विधाय तस्य।
उदरे रसयत्रमादधीत ज्वलनाधारमथीस्य चाग्निपूर्णम्।।
तत्रारूढ पुरुषस्तस्य शक्तया पक्षद्व द्वोच्चारप्रोझितेनानिलेन।
सुप्तस्यान्त पारदस्यास्य शक्त्या चित्र कुर्वन्नम्बरे याति दूरम्।।

अर्थात् हल्के लकडी से बडा पक्षी के आकार का दृढ यान बनाकर उसके भीतर अग्निपूर्ण मात्र और पारदयन्त्र रखे। उस यान में चालक बैठकर विमान के दोनों पखों के चलने से जायमान वायु के धक्के और पारद की शक्ति से आश्चर्य के साथ वह यान आकाश में दूर तक जाता है।

आधुनिक विमान का पूर्वरूप ग्लाइडरों के उडान के समय जर्मनी में आटो और लिलियेन्थल ने जो ग्लाइडर का प्रक्षेपण किया था वह भी एक **लचीली हल्की लकड़ी के सुन्दर पक्षी के आकार का ही बनाया था।** यह बात हमने पहले भी कही है।

महर्षि **अगस्त्य ने भी जस्ता ताम्र आदि के संयोग से विमान उडाने के लिए जो मित्र नामक शक्ति का आविष्कार किया था** उसका विवरण निम्नलिखित है

सस्थाप्य मृन्मये पात्रे ताम्रपात्र सुशोभनम्।
छादयेत् शिखिग्रीवेण चार्द्राभि काष्ठपासुभि ।।

दस्ता लोष्ठो निधातव्य पारदाच्छादितस्तत ।
उत्पादयति तन्मित्र सयोगस्ताम्रदस्तयो ।।

अर्थात् मिन्‍नी के पात्र में सुन्दर ताम्र पत्र रखकर तूतिया से तथा भीगे काठ के राख से ढक कर पारद को आच्छादित कर जस्ता के टकडे को रखे। इससे ताम्र और जस्ते के सयोग से जो शक्ति होगी उसे मित्र (Electricity) कहते हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि भौतिक विज्ञान का प्रथम द्रष्टा भारत ही है। इन सभी विषयों का प्रयोग परीक्षामूल शोध स्तर पर प्रौढ अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था होनी चाहिए। **इस सन्दर्भ में हमें सुगृहीत नामध्येय स्व शिवकरबाबूजी तलपदेजी को नहीं भूलना चाहिए। बम्बई के चौपाटी के डुक्करखडा के निवासी बम्बई आर्ट्स स्कूल के शिक्षक करबीर के शकराचार्य से विद्याप्रकाश प्रदीप उपाधि से सम्मानित श्री तलपदेजी आजीवन भारतीय पद्धति से विमान निर्माण के लिए अपना समय लगाया खेद है कि उनके उस सत्प्रयास को आगे नहीं बढने दिया गया। आपने प्राचीन विमान कलेचा शोध नामक मराठी ग्रथ में इस विषय पर प्रकाश डाला है।**

इसी प्रकार पूना के स्व श्री शिवराम पारडे ने भी प्राचीन परिपाटी से विमान निर्माण की प्रक्रिया का आविष्कार किया था। इस सभी प्रत्यक्ष फलदायक लोक हितकारी विषयों पर स्वाभिमानी प्रबुद्र समाज का ध्यान आकृष्ट होने से अपने पुरातन वैभव को हम पुन प्राप्त कर सकेंगें।

यहा सक्षेप में किचित विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन भारत में त्रिपुर नामक विमान जो जल स्थल और आकाश में समान रप से चलते थे। **जल में तो जल के भीतर और ऊपर भी चलते थे।** जल के भीतर चलते समय श्वास लेने के लिए सीत्कारीयन्त्र भी प्रयुक्त होता था। इन सबों का विशद विवेचन निबन्धान्तर में किया जाएगा।

विमान यात्रियों और चालकों के लिए प्राचीन भारत में जो भोजन व्यवस्था थी उस का सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। कहना न होगा यह सम्पूर्ण विषय प्रयोग परीक्षामूलक एव व्यवहारिक है। भाषा ज्ञान के आधार पर केवल शाब्दिक अध्ययन से सभी पदार्थ ज्ञात नहीं हो सकते। अस्तु

वायुयान यात्रियों का आहार खेद की बात है कि आज हम प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार वायुमान बनाने में असमर्थ हैं तथापि उपलब्ध ग्रन्थों के अध्ययन से प्राचीन भारत के यान्त्रिक उन्नति का झलक प्रस्तुत होता है।

इस सन्दर्भ में महर्षि भारद्वाज प्रणीत यन्त्र सर्वस्व ग्रन्थ मननीय है। उक्त ग्रन्थ के वैमानिक प्रकरण में सामरिक एव नागरिक दोनों प्रकार के विमानों के निर्माण का इतिहास

यन्त्र उपयन्त्र अगयन्त्र शत्रुपक्ष के साथ यु॰ करो की विधि अपने विमान की रक्षा समय पर छप जाना विभिन्न अवयवों को अलग करना एव उनको मिलाना शत्रु के ऊपर धुआ छोडना उनको डराने के लिए भीषण आवाज करना आग्नेयास्त्रों का प्रयोग करना प्रभृति विभिन्न विषयों का सागोपाग वर्णन उपलब्ध है। इसी वैमानिक प्रकरण के आहाराधिकरण नामक खण्ड में विमानयात्रियों एव चालकों के आहार अर्थात् भोजन व्यवस्था का सम्पूर्ण विवेचन किया गया है।

उक्त आहाराधिकरण का पहला सूत्र है आहार कल्पभेदात् अर्थात् वायुयान यात्रियों को अशनकल्प नामक ग्रन्थ में कहे हुए नियमानुसार भोजन व्यवस्था करनी चाहिए। सूत्र में कल्प शब्द से अशनकल्प नामक ग्रन्थ ही महर्षि भारद्वाज को अभिप्रेत है यह बात व्याख्याकार श्री बोधानन्द जी ने स्पष्ट किया है (द्र आहाराधिकरण १/७) दुर्भाग्य से अशनकल्प ग्रन्थ आज हमें अप्राप्त है। यदि यह ग्रन्थ प्राप्त हो जाय तो ग्रन्थ के लेखक रचानाकार शैली प्रतिवाद्य विषय आदि के साथ प्राचीन भारत के वायुयान में होने वाले भोजन व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा सकता है। शोध प्रेमी शिक्षाशास्त्रियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। इतनी बात अवश्य स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ महर्षि भारद्वाज द्वारा अपने ग्रन्थ में स्मृत होने के कारण जहा एक ओर उनसे भी पूर्वकालिक तथा अत्यन्त प्राचीन है वही प्रामाणिक एव शिष्ट सम्मत भी है।

आगे महर्षि ने यह बात स्पष्ट लिखी है कि विमान में भोजन व्यवस्था सर्वथा समयानुसार होनी चाहिए (द्र आहाराधिकरण १/६) विमान में भोजन को आकाश के दूषित वातावरण एव विमान के विषैले गैस के प्रभाव से बचाना चाहिए। विभिन्न ऋतुओं में अनेक प्रकार के विषाक्त कीटाणु का दुष्प्रभाव भोजन के माध्यम से यात्रियों पर पडता है अत भोजन की उनसे रक्षा अपेक्षित है। (द्र आहाराधिकरण १/८) यदि विमान में किसी कारणवश स्थूलभोजन न मिले या असुविधा हो अथवा अरुचिकर हो तो हल्का एव सूखा भोजन जैसे पेठा अचार लडडू, सत्तू आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है। रुचि के अनुसार शाक भाजी कन्दमूल फल भी आदेय है। (द्र आहाराधिकरण १/१ १२)

इस प्रकार विमान यात्रियों की भोजन व्यवस्था के विषय में कुछ सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया। शोध करने पर इस विषय पर बहुत से सिद्धान्त स्थिर किये जा सकते हैं। राष्ट्रभाषा में इन सब चीजों का सन्निवेश परम आवश्यक है। अधिकारी विद्वान् एव सरकार को सयुक्त रूप से इस लाभकारी ललितकला की ओर अनुकूल दृष्टि देनी चाहिए। आगे हम इसका प्रसगानुरूप पुन उल्लेख करेंगे।

प्राचीन भारत की यात्रिक सम्पत्ति और विमान

यों तो प्राचीन भारत का नाम लेते ही हमारे मानस पटल पर अपने पूर्वजों की आध्यात्मिक उपलब्धि का ही चित्र खिचता है परन्तु हमें इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए

कि भारत के मनीषी केवा मत्रदष्टा ही नहीं अपितु यत्रों के भी आविष्कर्ता एव निर्माता थे। यहा पहले यह ज्ञातव्य है कि हमारे आगम साहित्य में यत्र शब्द से मातुकाचक वृत्ताकार त्रिकोण षट्कोण प्रभृति चित्रामक यत्र का ही ग्रहण होता है। यह विषय भी अत्यत रहस्यमय एव साधा द्वारा बोधगम्य है एव जिसका पर्याप्त विवेचना एक स्वतत्र निबन्ध में ही हो सकता है।

हमारे वेदिक वाडमय में यत्र का स्पष्टत कहीं कहीं उल्लेख आया हैं। (द्र शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय स ८/१८ १८/३७ ऋक १ ३४ १ १ १४६१ कृष्णयजुर्वेद स स १ ७ १ ८ १ ६ १ ३ से १ १ १ ११ १५ इत्यादि) परन्तु प्राय सभी स्थलों पर यत्र का शाब्दिक यमन नियमन रूप अर्थ ही व्याख्याकारों को अभिप्रेत हैं।

वैदिक काल में देवशिल्पी स्वष्टा एव उनके योग्य शिष्य ऋभु दोनों ही अपने समय के अद्वितीय यत्र निर्माता थे ऋतु तो अपने गुरू स्वष्टा से भी आगे बढे थे एव उनसे स्पर्धा भी करते थे। एक बार ऋभु ने अश्विनी कुमारों के लिए चलने एव बैठने में आरामदायक रथ का निर्माण किया था और साथ ही एक आश्चर्य मय यत्र स्वचालित गौ का निर्माण किया था जो दूध देती थी तक्षन्नासत्यभ्या परिज्मान सुखरथम। तक्षन्धेर्न सवदुधाम (द्र त्रक् १ २ ३)। आचार्य सायण ने इस यत्र का अर्थ यह किया है ऋभवों देवा कचिद्रथमतक्षन।

तक्ष ेन सम्पादितवन्त । कीदृशेम। परिज्मानपरितोगन्तारम्। उपर्यपवेशनेयसुखकरम्। किच ेर्नुकाचित्ग तक्षन। कीदृशीससबददुधास स्वर स क्षरिस्य दोग्ध्रीम्। अर्थात ऋभु देवाताओं े अश्विनी ेवताओं के लिए एक रथ बनाया जो चारों ओर जाने वाला था बैठने में आरामदेह था और गो का भी निर्माण किया जो दूध देने वाली थी।

इन्हीं ऋभु देवाओं ने देवराच इन्द्र के िए स्वचालित घोडें बनाये थे एव अपने गुरू त्वष्टा द्वारा इद्र के सोमपान के लिए एक ेसा चम्मच बनाया जो एक होते हुए भी चार चम्मचों का काम करता था। (द्र ऋक् १/२ /१ ६)

उपर्युक्त प्रसग से यह भी सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में शिष्य अपनी बुद्धि और प्रतिभा के बा पर गुर से भी आगे बढ चढकर समाज में आदर सम्मान पाता था तथा गुर को उसका ोटा मानना पडता था। स्वय ऋभुग देवता ने उपर्युक्त प्रशसनीय कार्य करते इन्द्र के साथ सहभोजन का गौरव प्राप्त किया (द्र १/२१/८ १/११ १४)।

भारत में समुद्र यात्रा एव नभयात्रा अपनी उन्नति के शिखर पर थी और उसके यत्र इत्यादि भी आविष्कृत थे। ऋग्वैदिक काल में तुग्र नाम के एक नरेश जो अश्विनीकुमारों के अत्यन्त प्रियपात्र थे एक अन्य द्वीप में रहने वाले अपने शत्रुओं को जीतने के लिए अपने पुत्र भुज्य को नौसेना सहित भेजा परन्तु दुर्भाग्य वश आधी से बीच समुद्र में नौसेना क्षतिग्रस्त हो गयी उस समय अश्विनी कुमारों ने अपने शतारित्र नौका द्वारा सेना सहित

भुज्यु को तीन दिन में अपने पिता तुगनरेश के पास पहुचाया। (द्र ऋक् १/११६/३ ५)। इसी प्रकार कभी किसी कारणवश महर्षि अत्रि को असुरों ने अ धकारमय पीडायत्र गृह में बाधकर ऋबीस यत्र से कष्ट पहुचाया था उस समय भी अश्विनी देवताओं ने अपने कौशल से महर्षि को कष्ट मुक्त किया। (ऋक् १/११६/८)। यहा प्रसगत यह भी ज्ञातव्य है कि महर्षि अत्रि और वत्स अपने समय के उत्कृष्ट विज्ञा वेत्ता थे और सर्व प्रथम इन्हीं दो मनीषियों ने क्रमश ग्रहण विज्ञान और आकर्षण विज्ञान का आविष्कार किया था जिसका पूर्ण विवेचन एक स्वतत्र निबन्ध में ही हो सकता हैं। खेद है कि हम अपने प्राचीन मनीषियों के कृतियों से अपरिचित होकर उपर्युक्त तथ्यों के आविष्कार का ेय पाश्चात्य विद्वानों को देते हैं।

प्राचीन भारत में आयुर्वेद ी अपनी चरम उन्नति को प्राप्त कर चुका है। आयुर्वेद में गजायुर्वेद अश्वायुर्वेद वृक्षायुर्वेद भी सम्मिलित है। अश्वायुर्वेद में शालिहोत्र शास्त्र प्रसिद्ध है। चन्द्रराज के पुत्र बुध ने राजपुत्रीय नामक एक गजायुर्वेद सम्बन्धी ग्रथ लिखा था। पालकाप्य मनि ने भी गज शास्त्र नामक एक ग्रन्थ लिखा था।

उपर्युक्त आयुर्वेद शास्त्र का चरक सहिता और सुश्रुत सहिता नामक दो महान ग्रथ है जिसमें सुश्रुत सहिता में शल्य चिकित्सा पर्याप्त वर्णित है। इसमें बाल तक को चीर देने वाले बारीक औजारों के साथ साथ कृत्रिमअगरोपण (प्लास्टिक सर्जरी) अस्थिरोपण आदि का विस्तृत उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ईसा के कई सौ वर्ष पूर्व भारतीय मनीषियों ने अस्त्रोपचार से मानव को रोग मुक्त कराने में निपुणता प्राप्त की थी। बौद्धबाल के जीवक राजवैद्य को अनुपम शल्य चिकित्सा इतिहास प्रसिद्ध है। निकट अतीत में काशी के श्री हाराण चन्द्र कविराज महोदय भी प्राचीन पद्धति के कुशल शल्य चिकित्सक थे।

उन्होंने अपने चीरने फाडने के यत्र भी **काष्टोपकरण द्वारा ही निर्मित** किया था एव अपने जीवन में बडे बडे डाक्टरों द्वारा असाध्य कहकर छोडे हुए रोगों का सफल आपरेशन अपने **सुश्रुतानुसारी यत्रों** द्वारा सम्पन्न किया था।

ऋग्वेदिक काल की एक घटना का उल्लेख भी यहा अप्रासगिक न होगा। इन्द्र ने दध्यडमनि को अत्यन्त गोपनीय प्रवर्ग्य विद्या और मधु विद्या का उपदेश दिया और कहा कि यह विद्या किसी को कहने पर तुम्हारा सिर काट लूगा। अश्विनी कुमारों ने दध्यडमनि से उक्त विद्या को लेने की चालाकी की कि एक घोडे का सिर काटकर दध्यड जी के धड में लगा दिया और उनका सिर सुरक्षित रख दिया तथा सारी गुप्त विद्या उनसे प्राप्त कर ली इन्द्र को यह मालूम होने पर उन्होंने वज्र से दध्यड का सिर काट लिया तब अश्विनी कमारों ने उनका निजी सिर पूर्ववत् अपने स्थान पर लगा दिया।

तदानरासनये दस उग्र भाविष्कुणेमि तन्यतुन्र वृष्अिम।
दध्यड हयमध्वाथर्वणों वाम वस्पसोण्र्णा प्रयदीमदाच।।
(ऋक १/११६।१२ द्र सायण भाष्य)

इसी प्रकार खेल नामक राजा की पत्नी विपला शत्रुओं से युद्ध कर रही थी तो उनका पैर कट गया था। उस समय रात भर में उसे लोहे का बनावटी पैर जोडा गया।

इन सब उदाहरणों से सिद्ध है कि प्राचीन भारत में चीर फाड के यत्र पर्याप्त आविष्कृत हो चुके थे इसके अतिरिक्त विभिन्न औषधियों के निर्माण के लिए साधारण यत्र भी आयुर्वेद में प्रसिद्ध ही थे। विद्याधर यत्र अध तप्तखल्ल यत्र तिर्यकृपातन यत्र अध पातन यत्र कोष्ठिक यत्र कन्दुकस्वेदन यत्र भूधर यत्र कन्द्रकस्वेदन यत्र उर्ध्वपातन यत्र बालुक यत्र या लवण यत्र स्वेदन यत्र (द्र रसेन्द्र सार सग्रह) इन यत्रों का पूर्ण पर्यालोचन एक स्वतत्र निबन्ध मे ही हो सकता हैं।

भवन निर्माण की वास्तु विद्या प्राचीन भारत के यत्र विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अक है। इस सदर्भ में रूपमण्डन मानसोल्लास प्रासाद मण्डन विश्वकर्म वास्तु शास्त्र आदि ग्रथ मननीय है। चोसठ कलाओं में वास्तुविद्या का प्रमुख स्थान है। ऊपर त्वष्टा एव ऋभु देवों की शिल्प विद्या में अद्भुत निपुणता का उल्लेख हो चुका है। विश्वकर्मा देव शिल्पियों में अपना विशेष स्थान रखते है। भगवान् श्री कृष्ण भी वास्तुशास्त्र में निपुण थे। उन्होंने एक ऐसा किला बनवाया था जिसमें से स्त्रिया भी युद्ध कर सकती थी। इन्द्रप्रस्थ नरेश महाराज श्री युधिष्ठिर जी के लिए मय निर्मित सभा भी अपने समय के वास्तु शास्त्र के उन्नति का चरम दिग्दर्शन है (द्र महाभा सभापर्व) विश्वकर्मा द्वारा निर्मित इन्द्र की सुधर्मा सभा एव यम वरुण कबेर और ब्रह्मा के सभा भवन भी प्राचीन भारत की वास्तु विद्या एव यात्रिक उन्नति के परिचायक (महाभा सभा २ ७) युधिष्ठिर के महल में ही दुर्योधन को जल में स्थल एव स्थल में जल की भाति होने से हसी हुई थी जिससे एक भयानक युद्ध का सूत्रपात हुआ।

कृषि के लिए प्राचीन काल में जलघटी यत्र (रहट) अत्यन्त प्रसिद्ध था। धनिकों के घरों में यत्रधारा गृह (फव्वारे का स्नाध्न घर) की भी व्यवस्था होती थी (द मेघदूत पूर्वमेघ ६१ कादम्बरी उज्जयिनी वर्णन)।

विमाननिर्माण एक दृष्टिकोण

जैसा कि पूर्वोक्त है कि १९ ३ ई में राइट ब्रदर्स से पहले ही भारत में विमान का अविष्कार से आठ वर्ष पूर्व १८९५ ई में बम्बई के चौपाटी में वैदिक पण्डित श्री शिवकर बापूजी तलपदे जी ने सम्पूर्ण भारतीय तकनीकी से मरुत्सखा नाम का विमान बनाकर १५ फीट ऊपर आकाश में उडाया था। महाराज सयाजीराव गायकवाड श्रीरानाडे आदि

विशिष्ट व्यक्तियों के समक्ष सम्पन्न इस कार्यक्रम का सम्पूर्ण सचित्र विवरण तात्कालिक केशरी न भा टा तथा धर्मयुग के प्रथम अक में प्रकाशित हुआ था। महाराज बडौदा कार्यक्रम को आगे बढाने के लिए आर्थिक सहायता की घोषणा की परन्तु ब्रिटिश शासन के चलते यह सम्भव नही हुआ। बाद में ब्रिटेन के रेले कम्पनी ने विमान का ढाचा (सम्भवत अधिकार) भी खरीद लिया।

कतिपय विमान साहित्य

यह निर्विवाद तथ्य है कि प्राचीन भारतीय मनीषी वृन्द ने केवल धर्मव्यवस्था दर्शन और कर्मकाण्ड में ही नहीं अपितु स्थापत्यकला चिकित्साविज्ञान ऋतुपरिचय और यन्त्रनिर्माण आदि वैज्ञानिक क्षेत्र में भी विश्व का सफल नेतृत्व किया था। प्रस्तुत निबन्ध में यन्त्र निर्माण की महत्वपूर्ण उपलब्धि विमान निर्माण में भारतीय आचार्यों एव उनकी कृतियों की चर्चा की जायेगी।

जिस प्रकार आधुनिक विमान निर्माण के इतिहास में आरबिलराइट बिलबरराइट पर्सिपिल्चर रोजियर आटोलिलियेन्थल आदि परिश्रमी लोकहितकारी मनीषियों के नाम सभ्य समाज में चिरस्मरणीय है उसी प्रकार उन प्राचीन भारतीय मनीषियों के भी हम अधमर्ण एव चिरकृतज्ञ हैं जो भारतीय सस्कृति की गौरवास्पद आध्यात्मिकतत्वरत्न की गूढमत सर्वोच्च अनुभूति के साथ यन्त्रों के निर्माण एव आविष्कार में भी विश्व में अग्रणी थे। इस सन्दर्भ में हमें धनुर्वेद के आचार्य महामनस्वी श्री विश्वामित्र का यह बचन ध्यान रखना चाहिए

अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठत सशर धनु ।
द्वाभ्यामपि समर्थोस्मि शापेन च शरेणच।।

अर्थात् अग्रभाग में चार वेद और पृष्ठ भाग में शरसहित धनुष को धारण करने वाला मैं शस्त्र और शास्त्र दोनों में समर्थ हू। इस प्रकार सर्वसमर्थ तेजोमूर्ति प्रात स्मरणीय आचार्यों से ही मनुस्मृति का यह वचन चरितार्थ है कि वेदज्ञ व्यक्ति सेनापतित्व प्रशासन और दण्डविधान के योग्य है

सैन्यापत्य च राज्यञ्च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्य च कृत्स्न वेदविदर्हति।।

और यह भी कि एतद्देशप्रसूत ब्राह्मणसकाशात् भारत का ही कोई वर्ग विशेष मात्र नहीं अपितु सम्पूर्ण पृथ्वी के सभी मनुष्य चारित्रिकशिक्षा ग्रहण करें

एतदृदेशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ।।

खेद है कि मध्यकाल में महामति आचार्य चाणक्य और इधर श्रीबालगगाधर तिलक श्री गोपालकृष्ण गोखले और महामना श्री मालवीय पर्यन्त पूर्वोक्त महनीय परम्परा का कार्यरूप से जितना पालन किया गया आज उसी परम्पराक्रम में हम केवल अपने पूर्वजों की प्रशसा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर पाते हैं। अस्तु प्राचीन भारतीय वैमानिक आचार्यों के सन्दर्भ में कुछ लिखने के पहले निर्विशेष रूप से सभी आचार्यों के प्रति सश्रद्धनतमस्तक होते हुए भी जिस नाम को हम अत्यन्त आदर तथा श्रद्धा के साथ सर्व प्रथम ले सकते हैं वह हैं **पूज्यपाद आचार्य महर्षिवर्य श्री भरद्वाज जी**। सम्भवत आज वैमानिक विद्या में साहित्यिक वर्णन के अतिरिक्त जो कछ भी प्रयोगपरीक्षामूलक विवरण हमे उपलब्ध है वह सम्पूर्ण ही पूज्यपाद आचार्य का ही कृपा प्रसाद मात्र है। महर्षि भरद्वाज का नाम भारतीय प्राचीनवाडमय में सुप्रसिद्ध है। वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में रूपक शैली में निरूपित भरद्वाज का आध्यात्मिक और आधिभौतिक रहस्य भी माननीय है जिसका विवेचन अन्यत्र करणीय है। इन सभी रहस्यों को प्रकट करने में स्वर्गीय जयपुर नरेश महाराज श्री माधव सिह जी के प्रधानसभापण्डित ौी मधुसूदन विद्यावाचस्पतिजी का आजीवन परिश्रम सुधीसमाज को चिरकाल से अधमर्ण कर रहा है परन्तु हम यहा ऐतिहासिक भरद्वाज व्यक्ति की ही चर्चा कर रहे हैं।

भरद्वाज नाम के कई आचार्यों ने भारत भूमि को पवित्र किया था यह अनुमान भी सावसर है। वेद प्रभृति महाभारतावधि भरद्वाज का निर्बाध उल्लेख उक्त अनुमान का मूल हो सकता है। इनमें से किन सुगृहीत नामध्येय महर्षि ने विमानविद्या के विषय में अद्यतन विज्ञान को पीछे छोड देने वाले अनेक ग्रन्थ लिखकर वैज्ञानिक समाज को चिराय अनुगृहीत किया यह अद्यावधि अन्वेषणीय होकर परिश्रमशील स्वराष्ट्राभिमानी शिक्षित समाज को चुनौती दे रहा है। श्री भरद्वाज के विमान शास्त्र में केवल मात्र यान्त्रिक विवरण ही नहीं अपितु उनके पूर्वतन आचार्य तथा तत्कृतग्रन्थ प्रथम सैद्धान्तिक दोनों तथ्य सप्रमाण विद्यमान हैं। खेद है पूर्वोक्त विभिन्न साधनों के रहते हुए भी हम विमान आविष्कार में असफल ही रहे और साथ ही यह मानना होगा कि सम्भवत इन साधनों से रहित होते हुए भी दृढ परिश्रमी और अन्वेषणशील पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने जो साफल्य अर्जन किया वह अवश्य ही स्तुत्य है। स्वतन्त्र भारत के प्रशासन तथा मुख्यत सस्कृतशिक्षा सस्थानों के माननीय अधिकारी वर्ग को विश्व के सामने भारतीय विज्ञान के लोकोपकारी प्रयोगात्मक पक्ष को उपस्थापित कर शास्त्रों की सत्यता प्रमाणित करनी चाहिए।

भरद्वाज कृतग्रन्थ महर्षि भरद्वाज के विमान शास्त्रीय चार ग्रन्थों का अद्यावधि पता चला है (क) अशबोधिनी (ख) यन्त्रसर्वस्व (ग) आकाशतन्त्रम् (घ) अशुमत्तन्त्रम्। यह बहुत सौभाग्य की बात है कि पूर्वोक्त चार ग्रन्थों में पहले के दो ग्रन्थ सम्प्रति मुद्रित अवस्था में प्राप्य है। पहला ग्रन्थ है अशबोधिनी । इस ग्रन्थ में विभिन्न कलाओं का निरूपण

प्रकरण में किया गया हे जिस प्रकरण में विमानों का निरपण किया गया है उसका एक सूत्र है शक्त्युदगमाद्यष्टौ । इस सूत्र में विमानों का आठ प्रकार से वर्गीकरण किया गया है (१) शक्त्युद्गमविमान विद्युत् से चलने वाला विमान। (२) भूतवाहविमान अग्नि जल वायु से चलने वाला विमान। (३) धूयगयान धुआवाष्प आदि से चलने वाला विमान। (४) शिखोद्गभविमान डीजल आदि से चलने वाला विमान। (५) अशुवाहविमान् सूर्य किरण और पारा आदि से चलने वाला विमान। (६) तारामुख विमान चुम्बक आदि से चलने वाला विमान। (७) मणिवाहविमान किरणाकर्षण अर्थत् सूर्यकान्त चन्द्रकान्त आदि मणियों से चलने वाला विमान। (८) मरुत्सखविमान वायु से (सम्भवत गैस से) चलने वाला विमान

शक्त्युद्गमो भूतवाहो धूमयान शिशोद्गम
अशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरूत्सख
इत्यष्टकाधिकरणे वर्गाव्युक्तानि शास्त्रत ।

महर्षि भरद्वाज का दूसरा ग्रन्थ है यत्रसर्वस्व । इस विशालकाय ग्रन्थ के चालीसवे अधिकरण में आठ अध्याय सौ अधिकरण तथा पाच सौ सूत्रों से युक्त विभिन्न विमान रचना विधिप्रतिपादक वैमानिकप्रकरणम् विद्यमान है। महर्षि भरद्वाज के मान्यतानुसार उक्त ग्रन्थ वेद से उद्घृत है

निर्मथ्यवेदाम्बुनिधि भरद्वाजों महामुनि ।
नवनीत समुद्घृत्य यन्त्रसर्वस्वरूपकम् ।।
प्रायच्छत्सर्वलोकानामीप्सितार्थफलप्रदम् ।
तस्मिन् चत्वारिंशतिकाधिकारे सम्प्रदर्शितम् ।।
नानाविमानरचनावैचिव्यक्रमबोधकम् ।
अष्टाध्यायैर्विभजित शताधिकरणैर्युतम् ।।
सूत्रै पञ्चशतैर्युक्त व्योमयानप्रकाशकम् ।
वैमानिकप्रकरण प्रोक्त प्रोक्तं भगवता स्फुटम् ।।

इस ग्रन्थ के प्रथम द्वितीय षष्ठ और चतुर्थ अध्यायों में आठ आठ अधिकरण हैं इसी प्रकार तृतीय तथा पचम में तेरह तेरह अधिकरण तथा सप्तम और अष्टम अध्यायों क्रमश ग्यारह तथा पन्द्रह अधिकरण हैं। स्वय इसी ग्रन्थ के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि महर्षि भरद्वाज विमानविषय के प्रथम ग्रन्थकार नहीं है अपितु उनके पूर्व मान्य आचार्यों ने इस विषय पर ग्रन्थ प्रणय कर अपनी लेखनी चरितार्थ करते हुए विश्वमातृभूमि भारत की गौरववृद्धि की थी। इस सन्दर्भ में महर्षि ने वक्ष्यमाण छ आचार्यों और उनके

कृतियों का उल्लेख किया है पूर्वाचार्यकृतान् ग्रन्थानवलोक्य यथामति। सर्वलोकोपकाराय सर्वानर्थविनाशकम्।। त्रपीहृदयसन्दोहसाररूप सुखप्रदम। सूत्रै पञ्चशतैर्युक्त शताधिकरणैस्तथा।। अष्टाध्यायसमायुक्त मतिगूद मनोहरम्। जगतामतिसन्धानकारण शुभद नृणाम्।। अनायासाद व्योमयान स्वरूपज्ञान साधनम्। वैमानिकप्रकरण कथ्यतेऽस्मिन्यथामति।।

विमानचन्द्रिका व्योमयानतन्त्र तथैव च ।
यन्त्रकल्पो यानविन्दु खेदयानप्रदीपिका ।।
व्योमपानार्कप्रकाशश्चेति शास्त्राणि षट क्रमात् ।
नारायणादिमुनिभि प्रोक्तानि ज्ञानवित्तमै ।।
विचार्यैतानि विधिवद्भरद्वाज कृपानिधि ।
वैमानिक प्रकरण सर्वलोकोपकारकम् ।।
पारिभाषिकरूपेण रचयामास विस्तरात् ।।

श्लोक में उक्त छ ग्रन्थ अवश्य ही महर्षि भरद्वाज से प्राचीन है। इसके अतिरिक्त विमानयात्रियों एव चालकों के लिए भोजन आदि के विषय में भी स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रणीत हो चुके थे। वैमानिक प्रकरण के आहाराधिकरण का पहला सूत्र है आहार कल्पभेदात् (द्र यन्त्रसर्वस्व ४ /१/८/१)। इस सूत्र में कल्प शब्द से महर्षि को अशनकल्प नामक ग्रन्थ अभिप्रेत है जैसा कि व्याख्याकार ने स्पष्ट किया है और उस ग्रन्थ से अपेक्षित सामग्री को उद्दृत किया है। इस प्रकार महर्षि से आदृत होने से जहा यह ग्रन्थ उनसे भी प्राचीन सिद्ध होता है वहीं ग्रन्थ की प्रौढता और प्रामाणिकता भी असदिग्ध है। यदि यह ग्रन्थ मुगलशासकों की ग्रन्थालयफूको एव अग्रेज शासकों की स्वदेशनयन की नीति से बचा हो तथा प्रशासन द्वारा प्राचीनवाडमय के रक्षार्थ नियुक्त अधिकारी वर्ग के परिश्रम की सफलता से उपलब्ध हो तो अनेक सामग्रियों का आविष्कार सम्भव है। प्रसगत यह भी अनुमेय है कि प्राचीन भारत में वैमानिक विद्या कितनी व्यावहारिक थी कि विमान यात्रा में भोजन व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र साहित्य का निर्माण हो चुका था। दीर्धकालिक विमानयात्रा में भोजन बनाने के लिए वैश्वानरनाल यन्त्र भी आविष्कृत था। कितनी लज्जा की बात है कि भारतीय वाडमय में पहले से विद्यमान व्यावहारिक और लोकहितकारी इन अमूल्य यान्त्रिक उपकरणों को आगे बढाना तो दूर आविष्कृत विषय को सुरक्षित कर अपने कर्तव्यपालन का परिचय देने में भी हम प्रभूत सरकारी अनुदान से लाभवान् शिक्षित वर्ग रागद्वेष के वशीभूत होकर व्यर्थ प्राय ही हो रहे हैं। भावी पीढी से क्षमा मागते हुए उनसे इन विषयों की सुरक्षा के लिए हम आशान्वित है।

आहाराधिकरण में उल्लिखित पाकसर्वस्व और विषनिर्णयाधिकार ग्रन्थ भी अद्यावधि अन्वेषणीय ही है।

इसके अतिरिक्त प्राय शताधिकग्रन्थ एव चालीस वैमानिक आचार्यों का नाम सौभाग्य से अद्यावधि हमें उपलब्ध है जिनमें से कुछ आचार्य एव उनकी कृतियों का परिचय प्रस्तुत है

(क) महर्षि जैमिनि आपने स्वेटसर्वस्वम् नामक दो वेमानिक ग्रन्थों की रचना की थी। इन ग्रन्थों के कतिपय उद्धरण आज हमें प्राप्त है। श्री कृष्णद्वैपायन के छ शिष्यों में अन्यतम सामवेद के प्रवक्ता व्यासरचित महाभारत के समानान्तर जैमिनीयमहाभारत (जिसका सम्प्रति अश्वमेधपर्वमात्र उपलब्ध है) तथा ज्योतिष सूत्रों के रचयिता मीमासादर्शन के प्रवर्तक प्रसिद्ध जैमिनि से आपकी भिन्नता या एकता अभी अनिर्णीत है। यह शका वक्ष्यमाण आचार्यों के विषय में भी सावसर है।

(ख) महर्षि अगस्त्य अपने शक्तितन्त्रम् शक्तिसूत्रम् अगस्त्यविमानसहिता ग्रन्थों की रचना की थी। अन्तिम ग्रन्थ शिल्पशास्त्र सशोधक स्वर्गीय श्री बझेजी को उज्जैन में खण्डित रूप में प्राप्त हुआ था।

(ग) आचार्य शाकटायन आपने लोहतन्त्रम् वायुतत्वप्रकरणम् और लोहशास्त्रम् तीन ग्रन्थों की रचना की थी। निरूक्त और महाभाष्य में स्मृत शब्दमात्र को धातुजन्य मानने वाले वैयाकरणशाकटायन और आप क्या एक ही है ?

(घ) महर्षि अत्रि आपने रूग्हृदयम् नामार्थकल्पसूत्रम् और औषधिकल्प ग्रन्थों की रचना की थी। यहा प्रसगत उल्लेख्य है कि महर्षि अत्रि और महर्षि वत्स अपने समय के उत्कृष्ट वैज्ञानिक तथा सफलतत्त्वान्वेषी मनीषी थे और आप दोनों ने ही सर्वप्रथम अपने अनुसन्धान से क्रमश सूर्यचन्द्रग्रहण और आकर्षण विज्ञान का आविष्कार किया था। इस विषय पर अन्यत्र विशद विवेचन उपयुक्त होगा। खेद है कि हम अपनी अकर्मण्यता से इन विषयों को आगे बढाना तो दूर बहुत पूर्व आविष्कृत इन अमूल्य तथ्यों को विश्व के प्रबुद्ध समाज के सामने नहीं रखा सके फलत परिश्रमी तथा अध्यवसायी पाश्चात्य जगत् को ही उपर्युक्त सिद्धान्तों के आविष्कार का श्रेय प्राप्त हुआ। शासन द्वारा भारतीय वाङ्मय के रक्षार्थ नियुक्त अधिकारी वर्गको इस ओर अपने कर्तव्य का परिचय देना चाहिये। अस्तु

इस प्रकार सक्षेप से कतिपय वैमानिक आचार्य और उनकी कृतियों का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया। इन प्रात स्मरणीय महर्षियों के महनीय तथा मननीय ग्रन्थों की विधि का प्रयोग कर आज भी हम भौतिक उन्नति में दूसरे से प्रतिस्पर्धाकर सकते हैं। कालिदासोक्त आफलोदयकर्मणाम् को लक्ष्य कर हमें आगे बढाना चाहिये।।

कतिपय विशेष यन्त्रों का परिचय

पूर्व में सामान्यत भारत के वैमानिक आचार्यों एव उनके कृतियों का उल्लेख किया गया है कहना न होगा यह अत्यन्त सक्षिप्त विवरण है। वस्तुत वैमानिक विषय रूपी

महासमुद्र के सामने कुशाग्रपतित एक लघुतम जल बिन्दु से भी यह न्यून है। यह विवरण तो विमानशास्त्र की वर्णमाला जैसा ही है।

आगे हम कतिपय यन्त्रविशेषों का यत्किञ्चित् विवरण उपस्थापित करना चाहेंगे इस प्रसग में सम्प्रति यहा शब्द केन्द्रमुख नामक एक यत्र का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है। यथा

विश्व के मनीषियों ने अनादिकाल से ही शब्द के विषय में दीर्घ दिनव्यापी अनुसधान किया है। इस विषय में प्राच्य और पाश्चात्य जगत् के प्राचीन और नवीन सभी आचार्यों ने अपना बहुमूल्य समय सार्थक किया है। भारत के आस्तिक नास्तिक विश्व के विभिन्न दार्शनिक वैदिक तान्त्रिक आदि सभी विद्वतसमाज में यह विषय माननीय रहा है। तान्त्रिक साधकों के सम्प्रदाय विशेष में साधना का मुख्य आधार ही शब्द रहा है। जिसके अतिक्रमण के बिना मोक्ष प्राप्ति असभव है शब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति। मार्कण्डेयपुराण के अर्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुच्चार्या विशेषत वाक्य में स्वीकृत एव श्रीभास्करराय कृत वरिवस्यारहस्य ग्रन्थ में विवेचित शब्द के अर्धमात्रा नाद निनाद व्यापिका समना उन्मना आदि सूक्ष्मस्तर पाश्चात्य जगत के ईथर रेडियोतरग आदि को चुनौती दे रहा है। द्र वरिवस्यारहस्य १/१२ १३)। एक शब्द सम्यग्ज्ञात कह कर श्री पतजलि ने तान्त्रिकों के वीजमन्त्ररहस्य का स्पष्ट सकेत किया है। शब्द प्रमाण तो आस्तिकों का जीवन सर्वस्व ही है। शब्द तत्व के वैज्ञानिकशोध से अनेक रहस्य प्रकट हो सकते हैं। तात्पर्य है शब्द चिरकालसे ही विचारकों के लिये एक सार्वभौम विषय रहा। शब्द की इस विशाल महिमा को स्वीकार करते हुये भी उसकी हानिकारिता यदाकदा दृष्ट ही है। उन हानियों से बचने के लिये बुद्धिजीवियों ने चिरकाल से उपाय भी खोज निकाला है। शब्दकेन्द्र मुख यन्त्र भी उन्हीं उपायों का अन्यतम रूप है।

यह यत्र प्राचीन भारत के विमानो में लगाया जाता था। विमान सामान्य के लिये उपयुक्त बत्तीस यन्त्रों में यह अटठारवा यत्र था। इस यत्रों से भीषण रूप से होने वाले शब्दों से जायमान हानियों से विमान यात्रियों का बचाव होता था।

इस यत्र के परिचय प्रसग में यह ज्ञातव्य है कि यत्र शास्त्रीय सभी शब्द पारिभाषिक है। प्रकृतयन्त्र के सबध में आचार्य ढुण्ढिनाथ के सर्वशब्दनिवन्धन ग्रन्थ में महर्षि अत्रि के नामार्थकल्पसूत्र ग्रन्थ में महर्षि भरद्वाज के यत्रसर्वस्व में आचार्य श्रीशाकटायन के लोहतत्व में उपलब्ध सैद्धान्तिक प्रायोगिक तथ्यों पर दृष्टिपात किया जायगा। शब्द केन्द्रमुखा यत्रका प्रयोजन शब्दोत्पति के विभिन्न स्थानों को वैज्ञानिक परिभाषा में शब्दकेन्द्र कहा जाता है। वायुमण्डल की विभिन्न दिशाओं में शब्दकेन्द्रों से शब्दों का जो प्रसारण होता है। उन स्थानों को वैज्ञानिक शब्दकेन्द्र मुख स्थान कहते हैं। शब्द केन्द्रमुख स्थान में होने वाले भीषण शब्दों के उपसहारार्थ प्रयुक्त यत्र का शब्दकेन्द्र मुख कहा जाता है शब्दोत्पत्तिस्थानभेदा शब्दकेन्द्रपदेरिता । तेभ्य प्रसारण यत् स्यात् शब्दाना दिक्प्रभेदत । तदेव तच्छब्द

केन्द्रमुखस्थानमितीर्यते। तत्रत्य शब्दोपसहारार्थं तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।। यत्र यत् तच्छब्द केन्द्र मुखमत्रमितीरितम्। चतुरुत्तरत्रिशत शब्दभेद यथाक्रमम्।। वारुणीवाताशनीना शब्दा स्तीव्रतरा स्मृता। आकाशस्याष्टमे कक्ष्ये एतच्छब्दयन्त्र क्रमात्।। एकीभूयस्वभावेन माघफाल्गुनमासयो। भवेद महाघनरव स्तीक्ष्णश्रोत्र विदारक।। तस्यश्रवणमात्रेण वाधिर्यश्रोतृणा भवेत्।।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जो शब्केन्द्र मुख स्थान में शब्दों को केन्द्रीभूत कर लें वह शब्दकेन्द्रमुखायत्र कहलाता था। अब किस शब्द को इस यत्र द्वारा आयत्त किया जाता था यह विचार प्रस्तुत है। इस सदर्भ में वैज्ञानिकों ने शब्दों के विभिन्न भेदों और उपभेदों का उल्लेख किया है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्द से भीषण गर्जन करने वाले शब्दों का वैज्ञानिकों ने वर्गीकरण किया है। इन भेदों की सख्या ३ ४ तक निश्चित की गयी हे ऐसा महर्षिअत्रि का सिद्धान्त है। आपने शब्द की उत्पत्ति में परमाणु अग्नि वायु और आकाश की सम्मिलित शक्ति को कारण माना है। शब्द शब्द में शकार वकार दकार और विसर्ग को आपने क्रमश पूर्वोक्त परमाणु आदि का साकेतिक पर्याय माना है। स्थिति में या गति में परमाणु अग्नि वायु और आकाश की सम्मिलित शक्ति से ३ ४ प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं। शब्दों के ३ ४ प्रकार भेदों की मान्यता ब्राह्मण भाग में यह अमूल्य वैज्ञानिक निधि सुरक्षित है यह अभी हम सस्कृतवालों के परिश्रम की अपेक्षा कर रहा है। महर्षि अत्रि के नामार्थकल्पसूत्र में कहा है अथ शब्दस्वरूप व्याख्यास्याम श ब द विसर्गाणा सम्मेलनाद् शब्द इत्याचक्षते तत्र शकार = बिन्दु बकार = वहि दकार = वायु विसर्गं च = आकाश इति निर्णीता भवन्ति। स्थावरे जगमे वा एतेषा यथाभाग यत्र यत्र शक्तय सम्मिलिता भवन्ति तत्र तत्र चतुरूत्तरत्रिशतशब्दभेदा प्रभवन्ति। चतुरूत्तरत्रिशतशब्दा इति हि ब्राह्मणम्।। (ब्राह्मणम = लुप्तह्मिणम इति टिप्पण्याम्) आचार्य श्रीढण्ढिनाथ ने सर्वशक्तिनिबन्धन नामक अपने ग्रन्थ में पूर्वोक्त ३ ४ प्रकार के शब्दों की चर्चा की है जिसमें से बारह प्रकार के शब्द भेद आज प्राप्त है १ स्फोट २ ख ३ अत्यन्त सूक्ष्म ४ मन्द ५ अतिमन्द ६ अतितीव्र ७ तीव्रतर ८ मध्यम ६ अतिमध्यम १ महारव ११ घनरव १२ महाघनरव।

इन में से अतिम भयानक महाघनरव गर्जन से जायमान हानि से रक्षार्थ ही शब्केन्द्रमखस्थान प्रयुक्त होता था।

वारुणी (जलधारा) वायु और अशनि (वज्रपात) इन तीनों के आकाश के अष्टम परिधि केन्द्र में सम्मेलन से जो अत्यन्त भीषण हानिकारक घोष होता है वे ही वैज्ञानिक परभिाषा में महाघनरव कहा जाता है। ऐसे स्थल में विमान सन्चरण से यात्रियों के कान के पर्दे फट जाने का डर है। यद्यपि इससे बचने के लिये विमान को ऐसे भयावह स्थान से हटाना ही पर्याप्त था परन्तु अनुसधानशील लोकहितकारी प्राचीन भारत के वैज्ञानिक

महर्षियों ने रोग से हटने की अपेक्षा उससे जूझना ही अधिक हितकर समझा फलत इस भयानक परिस्थिति से उद्धार का उपाय भी आविष्कार किया। यह यत्र विमान के बाए हिस्से में प्रयुक्त होता था। माघ और फाल्गुन मास में इसकी विशेष उपयोगिता भी थी।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है वायुमण्डल में शब्दोत्पत्ति के विभिन्न स्थानों को वैज्ञानिक परिभाषा में शब्दकेन्द्र कहा जाता है। वैज्ञानिकों ने आकाश में ऐसे ३ ७ शब्दकेन्द्रों का अन्वेषण किया है। उसमें वारुणी शक्ति से जायमान अत्यन्त भीषण शब्द सत्तरवें केन्द्र से वायु से उदभुत भीषण शब्द दो सो बारहवें केन्द्र से तथा वज्रजन्यभीषणशब्द बयासी वें केन्द्र से प्रादुर्भूत होता है। इन तीनों गर्जन के एक साथ मिलकर अति भयप्रद श्रवणेन्द्रियविदारक महाघनरव गर्जन से विमानयात्रियों की हानि होती है जिसके निवारणार्थ उक्त यत्र का प्रयोग करना चाहिये वारुणी वाताशनीना शब्दसम्मे लनात् स्वत । आकाशाष्टमपरिधिकेन्द्रेत्यन्तभयावह ।। भवेन्महाघनरव श्रोत्रेन्दियविदारक । तस्मिन् यान प्रवेश स्याद् यदि यानस्थयन्तृणाम् ।। क्षणमात्रेण बाधिर्य भवेत्तच्छब्दवेगत । तस्मात्त त्परिहाराय शब्दकेन्द्रमुखाभिधम् ।। व्योम याने स्थापनार्थं सग्रहेण निरूप्यते। आकाश परिधिमण्डलस्य यथाक्रमम् ।। सप्तोत्तरत्रिशत् केन्द्राणीत्युच्यन्ते बुधै । तेषु सप्ततितमात् केन्द्रात् समायात्यतिभीषणम ।। वारुणी शक्तिसम्भूत शब्दोऽत्यन्तभयावह । एतच्छब्दत्रय सम्यड मिलित्वाऽथपरस्परम् । भवेन्महाघनरव सर्वश्रोत्रविदारक ।। तेनतच्छब्दोपसहारो भवेनात्र सशय ।।

निर्माणविधि इस यत्र के निर्माण में वक्ष्यमाण दश सामग्री अपेक्षित है। १ जम्वाल २ शरणेकाश ३ कौन्चिक ४ परिपिष्टक ५ गष्यारिक ६ पञ्चखाचर्म बन्दरका चमडा ७ रुण्टाक ८ आमिष ९ शुण्ड १ वग (रागा या सीसा)। इन वस्तुओं का परिचय एक निबन्ध में असभव है। पूर्वोक्त दश वस्तुओं को पहले स्पष्ट करें। बन्दर के चमडे को छोडकर बाकी नौ पदार्थों को बराबर मात्रा में लेकर मिलाकर काढा बनाने वाले में यत्र में महिषीपित्त अर्थात् भैंसी के रोचन से तीन दिन तक पकावें। तीन दिन के बाद लालवर्ण के उस काढा को लेकर बन्दर के चमडे में सात बार लेप करें। फिर घृण में सूखाकर धुण्डि कन्द के रस से सम्पृक्त करें। उसके पश्चात् बन्दर के चमडे में महाघनरव शब्द के उपसहार की शक्ति आती है। फिर बधिर लोहे से दो वालिस्त लम्बा एक बालिस्त चौडा पेटी बनावें। इस पेटी से बधिर लोहे से निर्मित दो वकास्य अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर क्रमश चौडी नली रखो। बकास्य नामक एक मणि को भी बन्दर के चमडे में वल्याक अर्थात् गेंडा से सींग के काढा से चिपका दें पूर्वोक्त पेटी के मध्य से स्थित दो नली में से दाहिने वाली नली के बीच में बन्दर के चमडे के साथ कसकर मणि को बाधे और बायें वाली में केवल बन्दर के चमडे को ही बाधे। इसके बाद सूक्ष्मतन्त्री अर्थात् पतले तारों से दोनों नली को बाध कर चारों और तीखे नुकीले कीलों से मजबूत कस दें। पेटी बन्द अवस्था में रखी जाय पेटिकामध्यकेन्द्रस्थदक्षनालान्तरे दृढम्। पूर्वोक्तचर्मसहितमणि

केन्द्रमुखस्थानमितीर्यते। तत्रत्य शब्दोपसहारार्थं तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।। यत्र यत् तच्छब्द केन्द्र मुखमत्रमितीरितम्। चतुरुत्तरत्रिशत शब्भेद यथाक्रमम्।। वारुणीवाताशनीना शब्दा स्तीव्रतरा स्मृता। आकाशस्याष्टमे कक्ष्ये एतच्छब्यन्त्र क्रमात्।। एकीभूयस्वभावेन माघफाल्गुनमासयो। भवेद् महाघनरव स्तीक्ष्णश्रोत्र विदारक।। तस्यश्रवणमात्रेण वाधिर्यश्रोतृणा भवेत्।।

इस प्रकार यह स्पष्ट हे कि जो शब्दकेन्द्र मुख स्थान में शब्दों को केन्द्रीभूत कर लें वह शब्दकेन्द्रमुखायत्र कहलाता था। अब किस शब्द को इस यत्र द्वारा आयत्त किया जाता था यह विचार प्रस्तुत है। इस सदर्भ में वैज्ञानिकों ने शब्दों के विभिन्न भेदों और उपभेदों का उल्लेख किया है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्द से भीषण गर्जन करने वाले शब्दों का वैज्ञानिकों ने वर्गीकरण किया है। इन भेदों की सख्या ३ ४ तक निश्चित की गयी है ऐसा महर्षिअत्रि का सिद्धान्त है। आपने शब्द की उत्पत्ति में परमाणु अग्नि वायु और आकाश की सम्मिलित शक्ति को कारण माना है। शब्द शब्द में शकार वकार दकार और विसर्ग को आपने क्रमश पूर्वोक्त परमाणु आदि का साकेतिक पर्याय माना है। स्थिति में या गति में परमाणु अग्नि वायु और आकाश की सम्मिलित शक्ति से ३ ४ प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं। शब्दों के ३ ४ प्रकार भेदों की मान्यता ब्राह्मण भाग में यह अमूल्य वैज्ञानिक निधि सुरक्षित है यह अभी हम सस्कृतवालों के परिश्रम की अपेक्षा कर रहा है। महर्षि अत्रि के नामार्थकल्पसूत्र में कहा है अथ शब्दस्वरूप व्याख्यास्याम श ब द विसर्गाणा सम्मेलनाद् शब्द इत्याचक्षते तत्र शकार = बिन्दु बकार = वह्नि दकार = वायु विसर्गं च = आकाश इति निर्णीता भवन्ति। स्थावरे जगमे वा एतेषा यथाभाग यत्र यत्र शक्तय सम्मिलिता भवन्ति तत्र तत्र चतुरूत्तरत्रिशतशब्दभेदा प्रभवन्ति। चतुरूत्तरत्रिशतशब्दा इति हि ब्राह्मणम्।। (ब्राह्मणम = लुप्तह्निणम इति टिप्पण्याम्) आचार्य श्रीढुण्ढिनाथ ने सर्वशक्तिनिबन्धन नामक अपने ग्रन्थ में पूर्वोक्त ३ ४ प्रकार के शब्दों की चर्चा की है जिसमें से बारह प्रकार के शब्द भेद आज प्राप्त है १ स्फोट २ ख ३ अत्यन्त सूक्ष्म ४ मन्द ५ अतिमन्द ६ अतितीव्र ७ तीव्रतर ८ मध्यम ९ अतिमध्यम १ महारव ११ घनरव १२ महाघनरव।

इन में से अतिम भयानक महाघनरव गर्जन से जायमान हानि से रक्षार्थ ही शब्दकेन्द्रमखस्थान प्रयुक्त होता था।

वारुणी (जलधारा) वायु और अशनि (वज्रपात) इन तीनों के आकाश के अष्टम परिधि केन्द्र में सम्मेलन से जो अत्यन्त भीषण हानिकारक घोष होता है वे ही वैज्ञानिक परभिाषा में महाघनरव कहा जाता है। ऐसे स्थल में विमान सन्चरण से यात्रियों के कान के पर्दे फट जाने का डर है। यद्यपि इससे बचने के लिये विमान को ऐसे भयावह स्थान से हटाना ही पर्याप्त था परन्तु अनुसधानशील लोकहितकारी प्राचीन भारत के वैज्ञानिक

महर्षियों ने रोग से हटने की अपेक्षा उससे जूझना ही अधिक हितकर समझा फलत इस भयानक परिस्थिति से उद्धार का उपाय भी आविष्कार किया। यह यत्र विमान के बाए हिस्से में प्रयुक्त होता था। माघ और फाल्गुन मास में इसकी विशेष उपयोगिता भी थी।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है वायुमण्डल में शब्दोत्पत्ति के विभिन्न स्थानों को वैज्ञानिक परिभाषा में शब्दकेन्द्र कहा जाता है। वैज्ञानिकों ने आकाश में ऐसे ३ ७ शब्दकेन्द्रों का अन्वेषण किया है। उसमें वारुणी शक्ति से जायमान अत्यन्त भीषण शब्द सत्तरवें केन्द्र से वायु से उदभुत भीषण शब्द दो सो बारहवें केन्द्र से तथा वज्रजन्यभीषणशब्द बयासी वें केन्द्र से प्रादुर्भूत होता है। इन तीनों गर्जन के एक साथ मिलकर अति भयप्रद श्रवणेन्द्रियविदारक महाघनरव गर्जन से विमानयात्रियों की हानि होती है जिसके निवारणार्थ उक्त यत्र का प्रयोग करना चाहिये वारुणी वाताशनीना शब्दसम्मे लनात स्वत । आकाशाष्टमपरिधिकेन्द्रेत्यन्तभयावह ।। भवेन्महाघनरव श्रोत्रेन्दियविदारक । तस्मिन् यान प्रवेश स्याद् यदि यानस्थयन्तृणाम्।। क्षणमात्रेण बाधिर्य भवेत्तच्छब्दवेगत । तस्मात्त त्परिहाराय शब्दकेन्द्रमुखाभिधम्।। व्योम याने स्थापनार्थं सग्रहेण निरूप्यते। आकाश परिधिमण्डलस्य यथाक्रमम्।। सप्तोत्तरत्रिशत् केन्द्राणीत्युच्यन्ते बुधै । तेषु सप्ततितमात् केन्द्रात् समायात्यतिभीषणम्।। वारुणी शक्तिसम्भूत शब्दोऽत्यन्तभयावह । एतच्छब्दत्रय सभ्यड मिलित्वाऽथपरस्परम्। भवेन्महाघनरव सर्वश्रोत्रविदारक ।। तेनतच्छब्दोपसहारो भवेनात्र सशय ।।

निर्माणविधि इस यत्र के निर्माण में वक्ष्यमाण दश सामग्री अपेक्षित है। १ जम्वाल २ शरणेकाश ३ कौन्चिक ४ परिपिष्टक ५ गण्यारिक ६ पञ्चखाचर्म बन्दरका चमडा ७ रुण्टाक ८ आमिष ६ शुण्ड १ वग (रागा या सीसा)। इन वस्तुओं का परिचय एक निबन्ध में असभव है। पूर्वोक्त दश वस्तुओं को पहले स्पष्ट करें। बन्दर के चमडे को छोडकर बाकी नौ पदार्थों को बराबर मात्रा में लेकर मिलाकर काढा बनाने वाले में यत्र में महिषीपित्त अर्थात् भैंसी के रोचन से तीन दिन तक पकावें। तीन दिन के बाद लालवर्ण के उस काढा को लेकर बन्दर के चमडे में सात बार लेप करें। फिर घूण में सूखाकर धुण्डि कन्द के रस से सम्पृक्त करें। उसके पश्चात् बन्दर के चमडे में महाघनरव शब्द के उपसहार की शक्ति आती है। फिर बधिर लोहे से दो वालिस्त लम्बा एक बालिस्त चौडा पेटी बनावें। इस पेटी से बधिर लोहे से निर्मित दो वकास्य अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर क्रमश चौडी नली रखो। बकास्य नामक एक मणि को भी बन्दर के चमडे में वल्याक अर्थात् गेंडा से सींग के काढा से चिपका दें पूर्वोक्त पेटी के मध्य से स्थित दो नली में से दाहिने वाली नली के बीच में बन्दर के चमडे के साथ कसकर मणि को बाधे और बायें वाली में केवल बन्दर के चमडे को ही बाधे। इसके बाद सूक्ष्मतन्त्री अर्थात् पतले तारों से दोनों नली को बाध कर चारों और तीखे नुकीले कीलों से मजबूत कस दें। पेटी बन्द अवस्था में रखी जाय पेटिकामध्यकेन्द्रस्थदक्षनालान्तरे दृढम्। पूर्वोक्तचर्मसहितमणि

सन्धारयेत्तथा था।। वामनाले पचनखचर्ममात्र नियोजयेत्। सूक्ष्मतत्री सुसयोज्य परस्परमत परम्।। बध्नीयात् सर्वत सम्यक् सूक्ष्मकीलक शकुभि । पेटिकावरणादूर्ध्वं सिहस्यास्याकारत क्रमात्।। कृत्त्वा तच्चर्मणा तस्य मूलनालान्तरे तत । छिद्र कृत्वातिसूक्ष्मेण तन्त्रीनालाद् यथाविधि। पेटिकान्तरनालस्थमणौ सयोजयेद् दृढम्। पेटिकामूर्ध्वीवरणमागमाच्छाद्य बन्धयेत्।।

इस यत्र के लिये अत्यन्त उपयुक्त पेटी के निर्माण में प्रयुक्त बधिर लोह भी विभिन्न वस्तुओं के सम्मेलन में बनता था। सम्बद्ध वस्तुओं का उल्लेख मात्र यहा पर्याप्त होगा जम्भीर लगुड विरन्चि ऋषिक बिल्व लुण्टाक बरसिहिक कुरवक नागकेसर कुन्दावर वाक्ल मुरज मृदङाग रटका। इन वस्तुओं को समान मात्र में लेकर लोहे गलाने के यत्रों में अन्यतम त्र्युटिभुषमध्यमविल नामक टैंक में रखकर रसयुक्त करें। इस प्रक्रिया से सूक्ष्म किन्तु दृढ काला रगका हल्का शब्द तेज को समाप्त करनेवाला शक्तिसम्पन्न बधिर लोह सिद्ध होगा। यह लोहा जहा आधी पानी का शब्द समाप्त करता है वहीं रक्तस्तम्भनकारी तथा घमासान युद्ध में काम आने वाले योद्धाओं की शल्यचित्सा के लिये भी उपयुक्त है जम्भीर लगुड विरञ्चि ऋषिक मालूरपचानन लुण्टाक नरसिहिक कुरवक सर्पास्यकुन्दावरम्। वाकूल मुरज मृगाकरटकौ सगृह्य सर्वं सम सम्पूर्णत्युटिभूषमध्यमविले कुण्डेषु सस्थाप्य च।। यन्त्रास्ये द्रुततद्रस सुरुचिर सम्पूरयेच्चीघ्रत ।। एतेन प्रभवेद विशुद्धममल शैत्य सुसूक्ष्म दृढ श्याम शब्दहन च भाररहित शक्त्या समाच्छादितम्। रक्तस्तम्भनपाटव घनरणे योधागशल्यापह झझामारुत शब्दनाशनपटु सर्वव्रणोच्छेदकम्।। पूर्वोक्तोऽत्यन्तभयद महाघनरवे क्रमात्। सिहास्यतस्त्रिकात् पश्चात् समोकृष्णाति वेगत । पेटिकान्तरनालस्थमणौ सयोजयेदथ।

कपिचर्मस्वशक्त्या तच्छब्दमाकृष्य वेगत ।।
निश्शब्द कुरुते स्वस्मिन्नुपसहृत्य तत् क्षणात् ।
तेन यानस्थयन्त्रणामत्यन्तसुखद भवेत् ।।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शब्दकेन्द्रमुखामिधम् ।
यन्त्र सस्थापयेद् व्योमयाने सम्यग्यथाविधि ।।

आज के वैज्ञानिक समाज को उपर्युक्त वस्तुओं का प्रयोग कर इस यत्र की सत्यता सिद्ध करनी चाहिये।

धूमनालस्तम्म नामक यन्त्र का परिचय

पूर्वोक्त शब्दकेन्द्रमुख यन्त्र के समान ही एक अन्य धूमनालस्तम्म नामक यत्र को भी सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जाता है जिससे हम अपनी प्राचीन भारतीय यान्त्रिक सस्कृति से भी थोडी ही सही परिचित हो सके।

जैसा कि मैंने पूर्वमें ही निवेदन किया है कि प्राचीन भारत का नाम लेते ही हमारे मानसपटल पर अपने पूर्वजों के आध्यात्मिक उपलब्धि का चित्र ही खींचता है परन्तु यह एक प्रामाणिक तथ्य हे कि आध्यामिकता के साथ यान्त्रिक सस्कृति का भी सर्व प्रथम उदय एव विकास का गौरव भारत भूमि को ही प्राप्त है।

यान्त्रिक सस्कृति के विकास के विभिन्न अगों विमान निर्माण तो अपना एक सर्वातिशायी विशिष्ट स्थान रखता है। विमान शब्द से यहा वायुयान ही अभिप्रेत है। प्राचीन भारत के विमानों में विभिन्न प्रकार के यन्त्र उपयन्त्र आदि प्रयुक्त होते थे। इस विषय में निम्नलिखित ग्रन्थ मननीय है (क) युक्ति कल्पतरू (ख) अशु बोधिनी (ग) समरागण सूत्रधार (ध) वैमानिक प्रकरणम् आदि।

शीर्षकोक्त धूमनालस्तस्भ विमानविशेषयन्त्र है क्योंकि यह सर्वसाधारण विमान में नहीं अपितु सुन्दर विमान नामक एक विशेष विमान में ही प्रयुक्त था। सर्वसाधारण विमानों के लियें बत्तीस प्रकार के यन्त्र प्रयुक्त होते थे जिसका विवेचन इस निबन्ध में ही अन्यत्र स्पष्ट है। सम्भवत प्राचीन भारत के विमानों का नाम उनके आकार एव रचनाविधि के अनुसार रखा जाता था इसलिए शकुन (पक्षी) के आकार का होने के कारण शकुनविमान रूक्म (स्वर्ण) वर्ण का होने के कारण रूक्म विमान तथा पृथक् पृथक् तीन पुर (खण्ड) होने के कारण त्रिपुर विमान आदि नाम रखे जाते थे। इसी प्रकार विमान शास्त्र में उल्लिखित गरुण श्रृगाटक पुष्कर मयूरास्य आदि आदि १ ६ विमानों के विषय में भी जानना चाहिए। खेद की बात है कि आज हमें इन विमानों की निर्माणविधि पूर्णतया प्राप्त नही है। रावण का प्रसिद्ध पुष्पक विमान सम्भवत पुष्प के आकार का रहा हो। वाल्मीकीय रामायण में पुष्पक को पुष्प भी कहा गया है। (द्र सुन्दर काण्ड ७/११) इन सब दृष्टान्तों को देखते हुए यह निश्चित किया जा सकता है कि धूमनालस्तम्भ जिस विमान में प्रयुक्त किया जाता था वह विमान अत्यन्त सुन्दर रहा होगा फलत उसका नाम सुन्दर विमान रखा गया।

इस विमान प्रयुक्त अनेक अगयन्त्र एव उपयन्त्रों में अधोलिखित आठ प्रमुख होते थे। १ पीठ २ धूनालस्तम्भ ३ धूमोद्गमयत्र ४ भुज्युलोहकनाल ५ बातप्रासरण यन्त्र ६ विद्युद्यन्त्र ७ चतुमुखोष्मक यत्र ८ विमाननिणेय यत्र। इन सभी यत्रों का पूर्णविवेचन यहा अनपेक्षित है केवल धूमनालस्तम्भ नामक द्वितीय यत्र का किंचित् परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

धूमनालस्तम्भ शब्द का अर्थ है खम्भे के समान धुआ का पम्प। सम्भवत यह यत्र विमान के अग्रभाग में लगाया जाता था। इस यत्र में निम्नलिखित सामग्री होती थी नालस्तम्भ धूमपात्र जलपात्र तेलपात्र विद्युतसर्वषण मणिकौलक तन्त्री (तार) आवृतचक्र त्रिचक्रकीलका धूमनालस्तम्भ में इन सामग्रियों का सन्निवेश इस प्रकार होता था। सबसे

ऊपर नालस्तम्भ उसके नीचे धूमपात्र फिर जलपात्र सब नीचे तेलपात्र इसके पश्चात विद्युतसघर्षण मणिकीलक के अन्दर नालस्तम्भ क रास्त से दो तार रखे। नालस्म में धुआ इकट्ठी करने के लिये तथा आवश्यकतानुसार छोडने के लिये तीन आवृत्तचक्र (Roundball) और कील सरलतापूर्वक रखे। इन चक्रों को चलाने के लिए नालस्तम्भ के बाहर अनुलोम विलोम से धूमने वाला (Bovelger) दो त्रिचक्रकीलक भी रखें। नालस्तम्भ के भीतर से तार लाकर स्मम्भ के अन्दर तथा बाहर के इन चक्रों को सयुक्त करना चाहिए।

यह धूमनालस्तम्भ ५६ बित्ता ऊचा तथा ८ बित्ता चौडा धुआ निकालने के नीचे तेल पात्र में धुमाजन शुक्तुण्डिक तथा कुल्टी तेल भी रखें। आज हमें इन तेलों का प्रत्यक्षपरिचय अज्ञात है। इतना तो अवश्य अनुमान करना होगा कि आज के पेट्रोल या डीजल के समान ही कुछ पदार्थ रखा होगा। तेल पात्र का परिणाम आठ बित्ता चौडा तथा चार बित्ता ऊचा है।

विद्युतसघर्षण मणिकीलक जैसा कि नाम से प्रतीत होता है इसके सघर्षण से विद्युत् (बिजली) पैदा होती थी। पूर्ववर्णित जलपात्र तेलपात्र और मणिकीलक के कार्य को यत्किंचित समझने के लिये आज हमे Stove को दृष्टान्त रूप में ले सकते है। स्टोव में जिससे हम हवा भरते है उसे यदि मणिकीकल स्थानापन्न स्वीकार करें तो तेलपात्र स्टोव में वर्तमान ही है। उसके ऊपर जलपात्र और धूमपात्र की कल्पना कदाचित की जा सकती है। कहना न होगा धुनालस्तम्भ के लिये स्टोव एक अत्यधिक स्वल्प दिग्दर्शन मात्र है। यत्र का पूर्ण परिचय तो वायुयान शास्त्र के पूर्ण अध्ययन से ही ज्ञात हो सकता है जो एक निबध मात्र में असम्भव है।

आवश्यकता है इन सभी यात्रिक उपकरणों का मानचित्र वस्तुपरिचय परिमाणज्ञान आदि से साथ प्रयोगात्मक एव परीक्षामूलक शोधस्तर पर वैज्ञानिक अध्ययन अध्यापन की प्रौढ व्यवस्था प्रतिष्ठित करने की जिससे हम परमुखपेक्षी न होकर अपने बल पर विश्व में सम्मानित हो और वैज्ञानिक यत्रों का आविष्कार करने में समर्थ हों।

भारत राष्ट्र के स्वातत्रय के उत्तरदायित्व निभाने वाले अधिकारी वर्ग को इस ओर भी सचेष्ट होना चाहिए। **षट्पचाशद् वितस्त्यौन्नत्य तथैव यथाविधि। चतुवितस्त्यायाम च नामस्तम्भ प्रकल्पयेत्।। धूमसम्पूरणार्थाय तन्मूले वर्तुलाकृतिम्। वितस्त्यष्टकमाया ममन्तर्वतुलविस्तृतम्।। चतुर्वितस्त्युन्नत कारयेत् कुम्भवत्तत। स्थापयेत् तन्मध्यकेन्द्रे सुदृढ शास्त्रमानत।। षडूवितस्त्यन्नरायाम जलपात्रमत परम्। तन्मूले कल्पयित्वाथ तैलपात्रयथाविधि। चतुर्वितस्त्यायाम तन्मध्ये स्थापयेयद् दृढम्।।**

कतिपय सामरिक विमानिक यन्त्रों का परिचय

नागरिक विमान के समान प्राचीन भारतीय सामरिक विमानों का कमाल भी

आश्चर्यास्पद है। और तो और आज भी जिनकी उपयोगिता अनुपेक्षणीय है ऐसी सामरिक वैमानिक उपलब्धिया माननीय है युद्धों में प्रयोग के लिए यहा कछ वैमानिक यत्रो का स्वल्प विवरण प्रसतुत है विश्वराजनीति का इतिहास कभी युद्धों से खाली नहीं रहा। सम्भवत प्रत्येक राष्ट्र का राज्य का निर्माण अथवा विलय प्राय युद्धों के द्वारा ही हुआ। प्राचीनसाहित्य क मनन से यह स्थिर होता है कि वैदिक काल के देवासुरसग्राम से लेकर आजपर्यन्त लिखे सभी इतिहासों के अधिकतर पृष्ठ युद्धों के रक्तरजित वर्णन से ही रगे हैं। वैदिक युद्धों के वर्णनों से यह बात सिद्ध है कि उस समय भी युद्धों में विभिन्न कृत्रिम यान्त्रिक उपकरण पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त होते थे (द्र ऋग्वेद १/११६/ ३ ५ ८ १५ आदि)। और स्थल सेना की भाति जल सेना और नभ सेना भी सर्वथासक्षम थी। इनमें नभ युद्ध दो प्रकार का होता था (क) राक्षसों के माया सृष्टि द्वारा और (ख) यन्त्रनिर्मित विमानों द्वारा।

उपलब्ध विमानशास्त्र का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन सामरिक विमान विभिन्न प्रकार के शत्रुविजयी अस्त्रों शस्त्रों एव यन्त्रों उपयन्त्रों अगयन्त्रों से सुसज्जित रहते थे। बहुत स्थल में ऐसा भी वर्णन उपलब्ध होता है जिससे बरबस यह मानना पडता है कि तात्कालीन सामरिक विमानों दृष्टि में वर्तमान सामरिक विमान अपूर्ण ही है।

खेद है कि आज हम अपने इस यान्त्रिक उन्नति से दूर हो गए। अत हमारे महत्त्व का स्थल पाश्चात्त्य विज्ञान ने ले लिया। पाश्चात्त्य विज्ञान के प्रति सम्पूर्ण कृतज्ञ होने पर भी यह स्वीकार करना पडता है कि अभी हमारा सामरिक विमान कई अशों में अपूर्ण है। प्रकृत निबन्ध में कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट किया जायगा। प्रसगानुसार हम सामरिक विमानों के साथ साथ नागरिक पर्यटक उड्डयन विमानों की भी खबर लेंगें। अस्तु विमानशास्त्र में पुष्पक अजमुख सोमाक रूवमपुख मयूर त्रिपुर भेरूण्ड सुन्दर शकुम वसुहार नन्दन श्रृगाटक रूवत विष्णुरथ मण्डल पद्मक हस पुष्कर मन्दर प्रभृति एक सौ छह प्रकार के विमानों का उल्लेख है (द्र यन्त्रसर्वस्व वैमानिकप्रकरण)। इनमें त्रिपुर रूवम शवुन तथा सुन्दर इन चारों विमानों की निर्माणविधि भी उपलब्ध है। इनमें त्रिपुर विमान एक अत्यनत आश्चर्यमय एव वर्तमान विज्ञान को भी चुनौती देने वाला विमान था।

यह विमान तीन भागों में विभक्त था एव एक एक भाग को अवरण या पुर कक्षा जाता था एव यही तीन भाग या पुर होने के कारण उक्त विमान को त्रिपुर कहा जाता था

अस्य त्रिपुरयानस्यावरणानित्रय क्रमात्। एकैकावरण चात्र पुरमित्यभिधीयते।।
पुरत्रयेण सयुक्त विमान त्रिपुर विदु । भास्कराशुसमुद्भूतशक्त्या सचोदित भवेत्।।

यह तीनों पुर या खण्ड आवश्यक्तानुसार पृथक पृथक होकर क्रमश स्थल में

आकाश में एव जल मे काम आते थे और पेंचकस कीली द्वारा जोड देने पर पुन एक होकर आकाश में उडते थे **पृथिव्यप्स्वन्तरिक्षेषु स्वागभेदात् स्वभावत । य समर्थोभवेद्गन्तु तमाहु स्त्रिपुर बुधा ।। भागत्रय भवेदस्य त्रिपुरस्य यथाक्रमम्। तेषु प्रथम भागस्य सचार पृथिवीतले।। द्वितीयभागसचारो जलस्यान्त वहि क्रमात्। तृतीय भागसचारस्त्वन्तरिक्षे भवेत् स्वत ।। एकधा कीलकै सम्यग्भागेत्रयमत क्रमात्। एकीकृत्यथाशास्त्रं चोदयेद् यदि खेस्वत ।। एकस्वरूपत सम्यक विमानस्त्रिपुराभिध । साकेतकानुसरिणे वेगात् सचरति ध्रुवम्।। पृथिव्यश्चेन्तरिक्षेषु गमनार्थ यथाविधि।। (द्र वै प्र)**

इससे यह स्पष्ट है कि आज यह किस प्रकार विज्ञान की नवीनतम उपलब्धि राकेट और पनडुब्बियों को भी मात कर रहा है। तीनों परिस्थितियों में उडान के दौरान इस विमान के विभिन्न कौशलों का वर्णन एक स्वतन्त्र में उडान के दौरान इस विमान के विभिन्न कौशलों का वर्णन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही हो सकता है परन्तु हम यहा किसी विमान विशेष की रचनाविधि में न जाकर प्राचीन काल के सामरिक विमानों के यन्त्रों को उल्लेख करेंगे। साधारणतया प्राचीनभारत के विमानों में निम्नाकित ३२ यन्त्रों उपयोग में आते थे

१ विश्वक्रियादर्शयत्र २ शवत्यावर्ष ।यत्र ३ परिवेषक्रियायन्त्र ४ अगोपसहारयत्र ५ विस्तृतास्यक्रियायन्त्र ६ वैरूप्यदर्पणयन्त्र ७ पद्मचक्रमुखयन्त्र ८ कुण्टिणीयत्र ९ पुष्पिणीयत्र १ पिजुकादर्शयत्र ११ नालपचकयन्त्र १२ गुहागर्मादर्शयन्त्र १३ तमोयत्र १४ पंच वातस्कन्धनालयन्त्र १५ रौद्रीदर्पणयन्त्र १६ वातस्कन्धनालकीलक्यन्त्र १७ विद्युद्‌यत्र १८ शब्दकेन्द्रमुखयन्त्र १९ विद्युद्द्वादशयत्र २०- प्राधकुण्डलिनीयत्र २१ शक्त्युद्गममयत्र २२ वक्रप्रसारणयत्र २३ शक्ति पजरकीलयन्त्र २४ शिर कीलकयत्र २५ शब्दाकर्षणयत्र २६ पटप्रसारण यन्त्र २७ दिशाम्पतियन्त्र २८ पट्टिकाभ्रक्यत्र २९ सूर्यशवत्यपकर्षणयन्त्र ३ अपस्मार धूमप्रसारणयन्त्र ३१ स्तम्भनयत्र ३२ वैश्वानरनालयत्र।

यह सभी यन्त्र विमानसामान्य के हैं कोई विमान विशेष के नहीं अत पूर्वोक्त त्रिपुर विमान के द्वितीय भाग में जल के भीतर श्वास क्रिया के लिए लगने वाले सीत्कारीयत्र का उल्लेख इस सूची में नहीं है इसी प्रकार सम्बन्धित विमान में किसी विशेष कार्य के लिये प्रयुक्त होने वाले सभी यन्त्रों का भी अपने विमान के प्रसग में निर्माण विधि उपलब्ध है उदाहरण के लिए सुनहरे रग के रूक्म नामक विमान जो कि लोहे से ही बनता था परन्तु पाक विशेष से लोहा ही सोने के रग का हो जाता था इस कार्य के लिए द्रावक नामक यन्त्रकोष का व्यवहार होता था। इन सबों का पर्याप्त विवेचन स्वतन्त्रभारत में अवश्य ही करणीय है।

उपर्युक्त बत्तीस यन्त्र सामान्यतया नागरिक एव सामरिक दोनों प्रकार के विमानों में

प्रयुक्त होते थे। कछ यत्र तो आधुनिक यत्रों से स्पष्ट मिल जाते हैं जैसे आज जो कार्य हैण्डिल और ब्रेक से होता है वह कार्य क्रमश वक्षप्रसारण और स्तम्भन नामक यन्त्र से होता था।

यहा प्रसगत एक बात का उल्लेख अनुचित न होगा कि यन्त्रशास्त्रीय शब्दों से वैज्ञानिक शब्दों के हिन्दीकरण में पर्याप्त सफलता मिल सकती है जैसे इन्जन के लिए यन्त्रशास्त्र में अग्निकोश शब्द व्यवहृत हुआ है जो सर्वथा उपयुक्त है। इसी प्रकार पेंचकस कीली के लिए आवर्तकील शब्द प्रयुक्त है। ऐसे अन्य शतश यान्त्रिक उपकरणों के वाचक शब्द बने बनाये मौजूद हैं जो केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के लिए अत्यन्त उपादेय है। प्रशासन को इस ओर सचेष्ट होना चाहिए। अस्तु (क) प्राय समाचारपत्रों में यह देखने में आता है कि मौसम की खराबी के कारण अमुक अत्यावश्यक वायुयान सेवा स्थगित कर देनी पडी। यदि इन समाचारों में राजनीतिक कारण न हो तो यह मानना पडेगा कि आज की विमानसेवा अपूर्ण ही है। आज के इस समुन्नत वैज्ञानिक युग में भी वायुयान मौसम के क्रूर पजे में फसे ही है। प्राचीन भारत में साथारण मौसम की खराबी तो क्या यदि वज्रपात भी होता हो तो विमान यात्रा को स्थगित रखने का कोई प्रश्न नही था। इस आपत्ति के कारण के लिए शिर कीलकयत्र प्रयुक्त होता था। यह यत्र छत्राकार विमान के शिरोभाग में रहता था। विषकण्ठ वक्रतुण्डि वज्रध्वश इन तीन प्रकार के लोहे से निर्मित्त होता था। वज्रपातसूचकेमेघगर्जना होते ही यह तारों के सिरे के छिद्र से शब्द उत्पन्न कर सूचना देता था तब चालक त्रिचक्रकील (थ्रीप्लग) को घुमा देता था जिससे शिर कीलक्यन्त्र सौ डिग्री वेग से घूमता था इसके घूमने से यन्त्रस्थ सर्वतोमुख मणि से वज्रपात प्रभावहीन होकर विमान से दो मील दूर होता था। वज्रपात विमान से दो मील दूर ही प्रभावशून्य होजाने से वायुयान चालक एव यात्री सभी सकुशल यात्राा करते थे।

गतशताब्दी में अपोलो १३ के प्रक्षेपण के समय यह समाचार देखने को मिला था कि मौसम की खराबी के बावजूद भी प्रक्षेपण समयानुसार किया गया। इससे स्पष्ट है विशेष प्रयास से हमारे विमान ऋतु और खराब वातावरण के दुष्प्रभाव से मुक्त हो सकते हैं। प्राचीन भारत का शिखरकीलयत्र भी इसका एक उज्जवल प्रमाण है। यदि आज के विमान भी राकेट के समान मौसम जीतने वाले साधनों से सम्पन्न हों तो यह बात सर्वथा सम्भव है।

विमान सचार के समय ग्रहों के परस्पर एक मार्ग में आजाने को ग्रहसन्धि कहते हैं। ऐसे खतरनाक स्थानों पर ज्वालामुख नामक परस्पर विरुद्ध सघर्षण या अन्तर्दाह से एक विषशक्ति उत्पन्न होती है। जिससे विमानारुढ सभी व्यक्तियों की मृत्यु निश्चित है

उसके निवारण के गिए पग्किाभ्रवयन्त्र प्रयुक्त किया जाता था

ग्रहसचारमार्गेषु ग्रहाणा तु परस्परम्। एफरेखाप्रवेशो गरसग्धिर्भवेतत। ज्वालामुखभिधा काचिद् विषशक्ति प्रजायते। यागारुगास्तया सर्वे मरिष्यन्ति न सशय।। तस्मात्तच्छक्तिनाशाय सग्रहेण यथाविधि। पट्टिकाभ्रमयत्र स्वरूपमत्र निरुप्यते।। तेन यानस्थयन्तॄणामपमृत्युविनाशनम्। भवेत्तस्मात् पट्टिकाभ्रकयत्र यथाविधि।। यानावरणमध्ये सस्थापयेदतिशीघ्रत।। यदा सन्ध्यन्तरज्वालामुखशक्तिस्वभावत। सम्भूय व्योमयानस्य मार्गान्त प्रसार्यते।। कीलीं सन्धारयेद् शकुमूलेकेन्द्रे तदा बुध।।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अतीत काल के विमानों की उडाने कितनी सुदूर ऊचे स्तर पर होती थीं तभी तो अन्य ग्रहों के परस्पर सघर्षण से उत्पन्न बाधा विनाश के लिए यन्त्र भी आविष्कृत थे।

(ग) इसी प्रकार विमान सचार मार्ग में ग्रहों एव सूर्यकिरणों के मार्ग की सन्धियों के बीच विमान के आठों दिशाओं में विभिन्न ऋतुओं के कौबेर सज्ञक १५ वायु के उत्पन्न होने से विमानयात्रियों का चर्म शोषण होता है फिर अत्यन्त कष्टकर खासी आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। उक्तदोष के परिमार्जन के लिए विमान के वामकेन्द्रभुज में दिशाम्पतियन्त्र प्रयुक्त होता था

आकाशगमने व्योमयानस्याष्टदिशि क्रमात्। ग्रहाशुपथसन्धीनामन्तराले ऋतु क्रमात्।। प्रजायन्ते पचदश कौबेराख्या प्रभजना। तैर्विमानप्रयातॄणां चर्म सशोषण भवेत्।। पश्चात् कासादयो रोगा सजायन्तेऽतिदु खादा। तस्मात् तत्परिहाराय विमानस्य यथाविधि।। दिशाम्पतियन्त्रमपि वामकेन्द्रभुजे न्यसेत्।। कौबेरवातसम्बन्ध विषशक्त्यातिवेगत। लयमायाति बाह्याकाशस्थवायौ स्वभावत।। पश्चात् खेटस्थयन्तॄणा मारोग्य भवति ध्रुवम्। तस्माद् दिशाम्पतियन्त्रमेतदुक्त यथाविधि।।

इस विवेचन से भी यह बात स्पष्ट है कि प्राचीनकाल के विमान विशाल आकाशमण्डल में एक लोक से दूसरे लोक जाने में सर्वथा समर्थ थे इसीलिए ग्रहों और उनकी सन्धियों के परस्पर सघर्षणादि से उत्पन्न बाधा निवारण के लिए आविष्कृत यन्त्रों से विमान सेवा अपने से पूर्ण थी। साधारण एक नगर से दूसरे नगर दिल्ली से वाराणसी आने जाने में किसी विमान में ग्रहसन्धियों के वायु से चर्म शोषण का कोई प्रसग न होने से उनका प्रतीकार भी अनीप्सित ही है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है वर्तमान विज्ञान की नवीनतम उपलब्धि चन्द्रगामी राकेट को यहा दृष्टान्त रूप में ले सकते हैं जिसमें कि अन्तरिक्षयात्रियों को आकाश के उन सभी प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने के लिए विभिन्न अनेकानेकयन्त्र यान में प्रयुक्त किए जाते हैं। लोकान्तर में पहुचने पर उनके जूते के रग उड जाते है लौट आने पर उनकी शारीरिक जाच होती है। इससे सिद्ध है प्राचीन

आर्ष विमान ही वर्तमान अन्तरिक्ष यान को मात कर रहा है। विमान के लक्षणों में भी भरद्वाज नारायण लल्ल विश्वम्भर शख विश्वनाथ शौतक गर्ग चाक्रायणि और धुण्डिनाथ प्रभृति आचार्यों ने यह कहा है कि आकाशमण्डल में गणित के प्रमाणानुसार एकदेश से दूसरे देश एक द्वीप से दूसरे द्वीप और ऐकलोक से दूसरे लोक में जो यान जाने में समर्थ हो उसे विमान कहते हैं

देशाद् देशान्तर तद्वद् द्वीपाद् दीपान्तर तथा।
लोकाद् लोकान्तर चापि योऽम्बरे गन्तुमर्हति।।
स विमान इति प्रोक्त ।।

(घ) जिस प्रकार वज्रपात ग्रहसन्धि दूषित वायुओं से विमानों की रक्षा अभीष्ट है उसी प्रकार धूमकेतुओं उल्काओं से भी विमान की रक्षा आवश्यक है इसके लिए विद्युद्द्वादशयन्त्र प्रयुक्त होता था।

विशाल आकाशस्थित धूमकेतुओं के मण्डल के आठवें स्थान पर ३ ७ ३ २२१ तीन करोडसात लाख तीन हजार दो सौ इक्कीस धूमकेतुओं में आठ हजार विद्युद्गर्भ धूमकेतु होते हैं। शरत् और वसन्त काल में इन सभी के आपसी सघर्ष से सूर्यरश्मियों में स्वत अन्तर्भूत किरण और उल्का शक्तियों के मिलने से अजगरा नामक एक विषैली शक्ति उत्पन्न होती है ऐसे समय में यदि आकाशीय बाइसवें केन्द्र के मुखमध्य में विमान गुजरता है तब अजगर शक्ति अपने प्रभाव से उसका स्तम्भन कर देती है इसके परिहार के लिए उपर्युक्त यन्त्र का प्रयोग किया जाता था। यन्त्र के निर्माण एव प्रयोगविधि का उल्लेख अतिविस्तृत और तकनीकी होने से यहा असम्भव है।

स्पष्ट है कि उल्का धूमकेतु आदि से विमानों की सुदूर आकाश की उडान में कितनी क्षति होती है। इस बाधा के निवारण के लिए उपाय भी चिरकाल से ही आविष्कृत थे। प्रसगत यह भी उल्लेख्य है कि अपोलो १३ के असफल होने में बहुत से कारणों में उस समय आकाश में लगातार कई दिन दृश्यमान धूमकेतु के कारण को छोडा नहीं गया यह सर्वत्र चर्चा का विषय था। इन सभी तथ्यों का प्रयोगपरीक्षामूलक शोध अपेक्षित है।

(ड) **वेश्वानरनालयन्त्र** यह वैद्युतिक यन्त्र मूलत नागरिक विमानों का उपयोगी है। वर्तमान नागरिक विमानों में सम्भवत ऐसा कोई यन्त्र प्रयुक्त नहीं है। इसका कार्य है विमानयात्री यदि बहुत दिन तक लगातार विमान में ही यात्रा करते हुए विमान में ही भोजन बनाकर खना चाहे तो इस आग्नेय वैद्युतिक यन्त्र से कर सकता है।

लगातार बहुत दिन यात्रा के दौरान विमान में ही भोजन निर्माण करने की परिस्थिति तभी हो सकती है जब भूमण्डल से सम्पर्क न कर अन्तरिक्ष में ही रहा जाय तभी इस यन्त्र की भी सार्थकता है सम्भवत वर्तमान नागरिक विमानों में ऐसी कोई सुविधा उपलब्ध

नहीं है नागरिक विमानों की यह अपूर्णता भी आर्ष विमानों में दूर हो चुकी थी। इस प्रकार नागरिक विमानसम्बन्धी होने परभी हम यहा इसकी सामरिक उपयोगिता पर ध्यान देंगे। वह यह कि अपने विमान को ध्वश करने के लिए यदि शत्रु का विमान पीछे लगा है तो वैश्वानरनाल यन्त्रस्थ बिजली जलाकर सत्तासी डिग्री की गर्मी से शत्रु विमानों के ऊपर शक्तिप्रसारण यन्त्रद्वारा प्रक्षेपकर उसका ध्वश करना इस प्रक्रियाको कर्षणरहस्य नाम से कहा जाता है। विमान चालकों के लिए अवश्यज्ञातव्य पाच आवर्त और बत्तीस रहस्यों में यह अन्तिम रहस्य है (द्र वैमानिक प्रकरण १/२ ४)।

(च) **गुहागर्भादर्शयन्त्र** सामरिक विमानों के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण एव परमावश्यक यन्त्र है। वर्तमान नभसेना के वैज्ञानिकों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। इस यन्त्र का कार्य है कि जब अपने विमान को ध्वश करने के लिए शत्रुओं द्वारा धरती के अन्दर गढढे में महागोल अग्निगर्भ प्रभूति पाच प्रकार के आमेय यन्त्र छपाकर रखे गऐ हों उस गुप्तरूप से छुपाये गये नाशक यन्त्रों को पूर्व से ही गुहागमर्भादर्शयन्त्र द्वारा परिज्ञान कर अपने विमान की रक्षा करना। इस प्रकार धरती के भीतर गुप्त रूप से छुपाये गये नाशक यन्त्रों का दर्शन उक्त यन्त्र से सुकर था

विमानखण्डनार्थाय शत्रुभिर्भूमुखान्तरे। महागोलाग्निगर्मादियन्त्रपचकमद्भुतम्। यत्र यत्र रहस्येन स्थापित सर्वतोमुखम्। तत्स्वरूपपरिज्ञानसिद्ध्यर्थं शास्त्रत क्रमात्।। गुहागर्भादर्शयत्र स्थापयेद व्योमयानके।। महागोलाग्नियत्रादीन् शत्रुभि सन्नि वेशितान्। ज्ञात्वातेनतत शीघ्र समूल नाशयेत् सुधी ।। गुहागर्भादर्शयन्त्र यान कुक्षावतो न्यसेत्। विमानसरक्षणार्थाय एतद्यत्र निरूपितम्।।

पूर्व में कहा गया है कि वायुयान चालकों के लिये पाच आवर्त और बत्तीस रहस्य अवश्यज्ञातव्य हैं। उनमें से कई रहस्य सामरिक विमानों के लिए अत्यन्त उपादेय हैं। सक्षेप में कुछ का उल्लेख यहा किया जाता है

(१) **तमोमयरहस्य** इसका तात्पर्य है तम शवत्याकर्षण यन्त्र द्वारा अन्धकार को आकर्षण कर तमोयन्त्र स्थित बिजली के स्विच दबाकर मध्यान्हकाल में भी अमावस्या की रात्रि की भाति अन्धकार पैदा करना।

(२) **ज्योतिर्भावरहस्य** यह क्रिया पूर्णत सामरिक विमानोपयोगी ही है। यदि शत्रु अपने विमान को युद्ध के दौरान देख लें और उसका पीछा करें तो इस प्रक्रिया द्वारा शत्रु को धोखा दिया जाता था। सूर्यरश्मि की शक्ति आकाश तरग वायु की लहर आदि उपकरणों से नालपचक एव गुहागर्भादश यत्र द्वारा अपने विमान को छुपाकर उस स्थान पर केवल प्रात कालीन सूर्योदय के समान आकाश को लाल वर्ण का दिखाना।

(३) **गूढरहस्य** यह भी सामरिक विमानोपयोगी एव शत्रुपक्ष को धोखा देने की क्रिया ही है। आकाशमण्डलस्थ वायु के विभिन्न स्तरों में स्थित यास वियास प्रयास आदि वायवीयशक्तियों से सूर्यकिरण के मध्यस्थित अन्धकार को खीचकर उसके सहयोग से अपने विमान को छपाकर शत्रुपक्ष के आखों में धूल झोकना।

(४) **दृश्यरहस्य** यह भी शत्रुपक्ष को धोखा देने की विधि है। जैसे पहले अपने विमान को छपाने का विधान है वैसे ही इसमें जहा अपना विमान न हो वहा मायामय झूठमूठ का विमान दिखाकर शत्रुपक्ष को मूर्ख बनाया जाता है। आकाशमण्डलस्थित विद्युत एव वायु के लहरों की शक्तियों को आपस में सयुक्त कर एक प्रकार छाया निर्माण करने की शक्ति उत्पन्न होती है। यह छाया जब विश्वक्रियादर्शयन्त्र में टकराती है तो झूठमूठ का विमान दीखता है इस प्रकार शत्रुपक्ष को धोखा दिया जाता है।

(५) **रूपान्तररहस्य** यह भी शत्रुपक्ष को धोखा देने वाला समरोपयोगी विधान है। इस में दुश्मन की नजरों से बचाने के लिए अनेक आग्नेय तैलो से १६ प्रकार के धुआ इकटठा कर इस यत्र द्वारा ऐसे कुशलता से छोडे कि आकाश में व्याप्त धूए में गन्धर्वनगर दिखाई पडे। उपर्युक्त समस्त विवरण अत्यन्त सक्षिप्त है।

---

१ सूर्य किरण के मध्यस्थित अन्धकार। यह एक अत्यन्त गम्भीर वैज्ञानिक उप ब्धि है। वर्तमान विज्ञान ने भी इसे पता लगाने में अनेक प्रयास किया है और सूर्यमण्डल में कालाधब्बा जैसा कुछ प्राप्त किया है यह विज्ञान की अत्यधिक उपलब्धि है ऐसे महान् तत्त्वान्वेषी समाज को ऋषि प्रोक्त विमानशास्त्र का गवेषणत्मक अध्ययन करना चाहिए। वेद में भी स्पष्ट है

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृत मर्त्य च। हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्।। (द्र वैदिकविज्ञान और भारतीय संस्कृति ले म म गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना प्राकशन)